हिन्दी ही क्यों ?

—देश के कोने-कोने में नव-शिक्षा, नव-जागरण का सन्देश अविलम्ब पहुंचाना ही है ; अगणित जनसमूहको राष्ट्रकी वाणीका वरदान देना ही है ; तब क्या रूप-रेखा हो, क्या क्रम हो और क्या माध्यम हो, यह प्रश्न स्वाभाविक है। लेकिन यह प्रश्न नया भी नहीं। प्रत्येक राष्ट्रसेवी के सामने यह एक ही रूपमें उपस्थित हुआ था, और थोड़े-बहुत हेरफेरके साथ प्रत्येक चिन्ताशील निष्पक्ष व्यक्ति एक ही से नतीजे पर पहुंचा था। प्रस्तुत प्रकाशन इसी मानसिक चिंतनका क्रमबद्ध विवेचनात्मक इतिहास है।

—प्रोफेसर कमला देवी से, हिन्दी संसार 'तुलसी-परिचय' के नाते परिचित हो चुका है। आज जिस समय राष्ट्र अपनी भाषा विषयक समस्या सुलझानेमें अत्यधिक व्यस्त है, उसे प्रोफेसर कमला देवी की यह भेंट अत्यन्त सामयिक एवं बहुमूल्य सिद्ध होगी। गुत्थियोंसे भरी हुई, इधर-उधर बिखरी प्रचुर सामग्रीको एकत्रित करके तथा उसे इतने अच्छे ढंगसे उपस्थित करके लेखिकाने अपनी सूझ और योग्यताका यथेष्ट परिचय दिया है।

—हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्यकी सेवा ही बंगीय हिन्दी परिषद्का प्रधान उद्देश्य है। उसीकी साधना करती हुई परिषद् अपनी यह नवीन भेंट हिन्दी-जगत्की सेवा में अर्पित करती है। हमें आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि इस भेंटका भी हिन्दी-संसार समुचित आदर तथा स्वागत करेगा।

मन्त्री
बंगीय हिन्दी परिषद
कलकत्ता

हिन्दी ही क्यों ?

कमला देवी गर्ग, एम. ए.

प्रोफेसर आशुतोष कालेज, कलकत्ता.

प्रकाशक :—

बंगीय हिन्दी परिषद

कलकत्ता

प्रकाशक—
बंगीय हिन्दी परिषद्
१५, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट,
कलकत्ता

मूल्य ४))

मुद्रक—
उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस
११ए, सैयद सालो लेन,
कलकत्ता ।

स्नेहमयी माँ

के

श्री चरणों में

मेरा निवेदन

युगोंके संघर्षके पश्चात् मुक्तिका द्वार खुला है। शताब्दियोंके निरन्तर प्रयत्न करनेके बाद दासताकी शृङ्खला टूटी है। जकड़े हुए अंगोंमें नवीन स्फूर्तिका, चेतनाका संचार हो रहा है। अवरुद्ध कंठ वाणी मांग रहा है, स्वतंत्रता देवीकी वन्दना करनेके लिये। रोम-रोम वाणीकी भांति मुखरित हो उठा है, किन्तु वह स्वयं अवाक् है। उसे वह वाणी चाहिये—जिससे दिग्दिगन्त गूंज उठे, समवेत जयघोष हो और वह मुक्ति देवीकी आरती उतारे।

चिरकालसे भारतने स्वतन्त्रताकी अर्चना अपनी ही वाणी द्वारा की थी। जिस दिन पराधीन हुआ, उसी दिन निर्वाक् भी हो गया। विदेशी स्वामियोंकी भाषाएँ सीखनी पड़ीं और उन्हींके द्वारा उनकी मनःतुष्टिका भी प्रयास करना पड़ा। अन्तर्दाहसे झुलस रहा था, शरीर खोखला हो गया था, अंग शिथिल हो गए थे, सुसंस्कृत मुखरता भीषण मौनमें परिवर्तित हो गई थी, वह गुलाम जो था।

आज भारतको राष्ट्रीयता मिली है। वह एक राष्ट्र है। विगत दासताके कारण अभी उसमें गति भी नहीं आ पाई थी, कि वह विश्वके मुख्य राष्ट्रोंमें प्रतिष्ठित हो गया है। उसका स्थान नगण्य नहीं है। उसके सहयोग और असहयोग से कितने ही राष्ट्रोंके भविष्यमें परिवर्तन हो सकते हैं। सहराष्ट्रोंके भविष्य-विधायक भारतके सामने एक समस्या है—अपने ही राष्ट्रका सञ्चालन वह किस वाणी द्वारा करे?

राष्ट्रभाषा किसे कहते हैं—

किसी देशका जनसमुदाय आपसमें जिस वाणीके द्वारा अपने भावोंका, विचारोंका आदान-प्रदान करता है, उसको उस देशकी राष्ट्रभाषा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उक्त जनसमुदाय एक भाषा-भाषी ही हो। अवश्य ही स्थान भेदके अनुसार विभिन्न बोलियाँ भी व्यवहृत होती रहती हैं। बोलीका साधारण तथा

स्वाभाविक नियम यह है कि कुछ दूरीके अन्तर पर उसके रूपमें कुछ परिवर्तन देख पड़ने लगता है, विशेषकर उच्चारण और क्रियाके सामान्य भेद में॥ इस स्वाभाविक सिद्धान्तके अनुसार भिन्न अनुपातमें जो स्थानीय पारस्परिक अन्तर विशेष लक्ष्य हो जाता है, उसी अनुपातमें वहाँकी बोलियोंमें पारस्परिक भेद स्पष्ट होने लगते हैं॥ लेकिन, कदाचित् ही यह संभव है कि एक भाषा-भाषी क्षेत्रकी किन्हीं दो बोलियोंमें कुछ इतना अधिक व्याकरण इत्यादिका फर्क पड़ जाय कि वे दोनों दो भाषाएँ-सी या दो भाषाओंकी विभिन्न बोलियाँ-सी जान पड़ने लगें॥ भिन्न-भिन्न प्रकारकी बोलियाँ रहने पर भी उनमें आभ्यंतरिक संबंध रहता ही है॥ इनमेंसे किसी एक बोलीको जिसे बहुतसे उस देशका जनसमुदाय समझ और बोल सकता है, जनसाधारण ही चुन लेता है, और विभिन्न बोली बोलनेवालोंके बीच वह भावोंके, विचारोंके तथा व्यापारादिके माध्यम स्वरूप व्यवहारमें लाई जाने लगती है॥ छोटेसे ब्रिटिश द्वीप समूहमें भी कई भाषाएँ हैं ((अंग्रेजीके साथ ही वेल्श, गैलिक तथा इनकी अपनी बोलियाँ भी हैं))॥ फ्रांस, स्पेन, सोवियत रूस, चीन, मेक्सिको मध्य तथा दक्षिणी अमेरिकाके राज्य, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, चेकोस्लोवाकिया, बेल्जियम, स्विटज़र्लैंड और अफगानिस्तान आदि कई भाषा-भाषी राष्ट्र हैं॥ प्रायः देशोंमें कमसे कम एकसे अधिक बोलियाँ मिलती ही हैं॥ किन्तु, उनमेंसे बहुजन-प्रधान बोलीका ही विशेष व्यवहार राष्ट्रभाषाके रूपमें होने लगता है॥ क्रमशः वह बोली संभल जाती है, सुसंस्कृत हो जाती है, नागरिक हो उठती है और तब राष्ट्रभाषाकी उपाधि प्राप्त करती है॥

राष्ट्रभाषा और राजभाषाका अन्तर—

प्रायः राष्ट्रभाषा और राजभाषामें भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है॥ ऊपर राष्ट्रभाषाकी चर्चा हो चुकी है॥ राजभाषाके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि जिस विशेष भाषाके माध्यमसे शासन व्यवस्था चलती हो, उसे राजभाषा कहते हैं॥ अच्छा तो यह होता है कि राजभाषा और राष्ट्रभाषा भिन्न न होकर एक ही हों; जिससे, साधारण जनता शासन व्यवस्थासे सहज ही में परिचित रहे॥ अन्यथा, सारे देशको ही राजभाषा सीखनेके लिये अपनी शक्तिका अपव्यय करना पड़ता है॥

राष्ट्रभाषाके पीछे सारे देशका बल रहता है, किन्तु राजभाषा तो विशेषतः शासक वर्ग ही के अधीन रहती है। इससे हानि यह होती है कि प्रजा शासन व्यवस्थासे अपरिचित होकर दूर जा पड़ती है, और तब यह शासन-कार्य कुछ व्यक्ति-समूह के हाथोंकी चीज रह जाती है। इस तरहके शासनकार्यमें कुव्यवस्थाकी आशंका विशेष-रूपसे रहती है। प्रजातंत्रके इस युगमें जबकि प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति शासन-कार्यमें दिलचस्पी लेने लगता है (लेना आवश्यक भी रहता है) तब यदि वह अपनी ही व्यवस्थासे अनभिज्ञ रहे तो उस शासन-कार्यमें निस्सन्देह त्रुटियोंका समावेश हो जाता है।

अशोकके युगमें भारतकी लौकिक भाषा—राष्ट्रभाषा पालि थी। यह सर्वविदित है कि अशोकने राजभाषाके रूपमें राजकार्यके लिये पालिको ही अपनाया। परिणाम यह हुआ कि राजा और प्रजा दोनों एक दूसरेके निकट आ गये। किन्तु, जब भारतको विदेशी शासकोंके अधीन होना पड़ा, मुसलमानोंकी बेड़ी पैरोंमें पड़ गई, तब विदेशी शासकोंने अपनी-अपनी भाषाओंको भारतके जनसमूह पर लाद दिया। सारे राजकार्य शासकोंकी भाषाओंमें होने लगे। फारसी जो कि भारतभूमिकी भाषा नहीं थी, जब राजभाषा हुई तब स्वभावतः प्रजा भला कैसे शासनका कार्यक्रम समझ पाती? थोड़ेसे लोगोंने अपनी सिद्धिके लिये प्रयास किया तो वे स्वल्पसे संतोषित हो गये। कुछने राजभाषा होनेके कारण सीखा। कुछने साहित्यिक दृष्टिकोणसे पढ़ा। फिर भी भारतका विशाल जनसमुदाय राजभाषासे अपरिचित ही रहा। क्योंकि, वह विदेशी भाषा थी। यही परिणाम हुआ अंग्रेजी का। डेढ़ सौ सालकी सरतोड़ कोशिशोंके बावजूद भी आज भारतके कितने व्यक्ति अंग्रेजी जानते हैं? इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजोंने भारतीयोंको अंग्रेजी सिखानेके लिये साम, दाम, दंड, भेदकी नीतिसे यथावसर काम लिया। वे प्रचारके कार्यमें बड़े कुशल थे। मिशनरी इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं। उन्होंने तरह-तरहके प्रलोभन दिये। नौकरशाही राज्यमें अंग्रेजी भाषाका ही बोलबाला रहा, फिर भी भारतकी कितनी जनता अंग्रेजी सीख सकी? न सीख सकनेका कारण स्पष्ट है। पहला तो यह कि वह विदेशी भाषा थी, उसमें सतत प्रयत्न करने पर भी कुछ लोगोंको

व्यक्त नहीं कर पाते थे। दूसरा, यह कि वह हमारी इच्छाके विरुद्ध जबर्दस्ती लादी गई भाषा थी। भारतमें कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिनके लिये कहा जाता है कि अंगरेजी जानते हैं। किन्तु, इसके लिये उन्हें कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा है—कि, वे अपनी ही भाषामें अधिकारका दावा नहीं कर सकते। यदि इतना ही रहता तो भी कोई बात नहीं थी। जिस अंगरेजीके लिये अपनी शक्तिका एक मूल्यवान अंश खर्च किया, उस अंगरेजी साहित्यके इतिहासमें, अङ्गरेजी भाषियोंने उन्हें कितना स्थान दिया है? उनका सम्मान केवल उनकी प्रतिभाके ही कारण हुआ।

राष्ट्रभाषाकी आवश्यकता क्यों है?—

आधुनिक कालमें भारतमें लोगोंको एकसूत्रमें बांधनेके प्रयासका श्रेय अवश्य अङ्गरेजीको मिल गया। साथ ही इसके माध्यमसे कुछ जनसमुदाय हमारे विशिष्ट जनोंकी प्रतिभाका आदर भी कर सका। सर्वपल्ली श्री राधाकृष्णनजीकी प्रतिभा सर्वविदित है। भारतको अपने इस प्रकारके रत्नोंका गौरव है। एक क्षणके लिये मान लें कि यदि वे अङ्गरेजी न जानते और केवल अपनी मातृभाषा दक्षिणकी ही बोली जानते होते तो संसारकी बात तो दूर, भारतके कितने जन उनकी विद्वत्तासे लाभ उठाते? व्यापक परिचय न हो पाता, ऐसे विद्वानके ज्ञान-विमर्शसे हम अनभिज्ञ रह जाते, और वह विद्वान् भी अज्ञात रह जाता। राष्ट्रभाषाके द्वारा ही धार्मिक सांस्कृतिक, राजनीतिक, वाह्य एवं आभ्यंतरिक आदि सब तरहसे सारा देश अपने निकटवर्ती तथा सुदूर प्रान्तोंसे संबंधित रहता है। विभिन्न बोली बोलनेवाली जनताको एक दूसरेके घनिष्ठ सम्पर्कमें आनेका सुयोग एक सर्वसाधारण भाषाके द्वारा ही प्राप्त होता है। प्रजातंत्र शासनमें प्रजाका राज्य-व्यवस्थाके निकट रहना आवश्यक रहता है, और वह एक भाषाके द्वारा ही संभव है। निरक्षर देशोंमें साक्षरता फैलानेके लिये है एवं सरकारके शिक्षा जैसे रचनात्मक कार्यक्रमोंमें यह जरूरी हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति समान रूपसे लाभ उठावे। ऐसी स्थितिमें एक भाषाका माध्यम होना अनिवार्य हो उठता है।

राष्ट्रभाषाकी योग्यता —

राष्ट्रभाषा की चर्चा तो बहुधा हुआ करती है, किन्तु कौनसी भाषा विशेष ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, यह भी विचारणीय है। किन विशेषताओंके कारण विभिन्न भाषाओंके तथा बोलियोंके बीचसे उसे राष्ट्रभाषाके रूपमें चुन लिया जाता है? राष्ट्रभाषामें कुछ अपेक्षित गुण हैं। विशाल जनसमुदाय जिस भाषाको बोलता है तथा समझता है, उस भाषाका राष्ट्रभाषा बननेका कुछ दावा हो सकता है। किन्तु, केवल विराट जनसंख्या ही सब कुछ नहीं है। यह तो बाह्य गुण है। आभ्यंतरिक गुणके बिना राष्ट्रभाषा बननेका दावा ही अपूर्ण है। उक्त भाषामें ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि प्रचलित बोलियोंके बोलनेवालोंको सहज ही ग्राह्य हो, बोधगम्य हो तथा उसके द्वारा सब प्रकारके मनोभावोंकी अभिव्यक्ति यथासंभव अधिकसे अधिक हो सके। नयेसे नये शब्द, विभिन्न भाषाओंके एवं बोलियोंके उपयुक्त तथा आवश्यक शब्द उसमें खप सकें, और मनोभावोंके, विचारोंके, विभिन्न विषयोंके विशेष शब्द अभिव्यक्तिमें सहायक हों। उसमें टकसालीपनकी बड़ी आवश्यकता है। प्रकृतिके वाणीरूपी वरदानके द्वारा हम अपने हृद्गत भावोंको प्रकट करते हैं। विभिन्न तथा विशेष ढंगसे उच्चारण करने पर उसमें विभिन्न अर्थोंका समावेश हो जाता है और उसे भाषाकी संज्ञा दी जाती है। यदि, उस भाषामें हमारे मनोभावोंको अधिकसे अधिक अथवा पूर्णरूपसे व्यक्त करनेकी क्षमता न रही तो वह पिछड़ी हुई तथा अपूर्ण भाषा कहलायगी। बीसवीं सदीके, वैज्ञानिक युगके तथा प्रगतिपूर्ण वर्तमान संसारके आधुनिकतम शब्द जिस भाषाके कोषमें नहीं हैं, निस्सन्देह वह भाषा अधूरी ही है।

भाषाके पीछे विराट जनसंख्या एवं क्षमताका बल रहने पर भी यदि वह दुरूह हो तो सर्वसाधारणका समर्थन अधिक समय तक उसे नहीं प्राप्त हो सकेगा। जनता और सरलताका संबंध बड़ा घनिष्ठ है। जनता मिश्रित लोगोंका समुदाय है। उसमें विभिन्न प्रकारकी मानसिक शक्तियोंका समावेश रहता है। यदि भाषा कठिन हुई तो वह सीमित जनसमुदायकी भाषा हो जायगी। पाणिनिके पूर्व 'संस्कृत' 'लौकिकी' थी। जनतासे घुलीमिली थी। किन्तु जबसे वैयाकरणोंने उसे नियमोंकी शृंखलामें जकड़ना शुरू किया, और उसमें क्रमशः क्लिष्टता आने लगी तब उसकी व्यापकता नष्ट हो गई।

सीमा संकुचित हो गई और पण्डितों एवं विद्वानों की परिधि भी सीमित हो गई। जनतामें विद्वानोंकी संख्या अधिक नहीं होती है। किन्तु, उन्हें अज्ञान बनाए रखना भी बड़ी भारी भूल है। ऐसी भाषा ही उन्हें ग्राह्य होगी जिसे वे सहज ही में समझ लें और बोल लें, फिर, दूसरी ओर विद्वान् भी उसमें अपने ज्ञान और विज्ञानके विचार भी रख सकें और उसे सब तक पहुँचा सकें। इस प्रकार भाषाकी सरलता भी राष्ट्रभाषामें अपेक्षित है।

भारतके उत्तर और दक्षिणमें दो कुल की भाषाएँ प्रचलित हैं। उत्तरमें आर्य-कुलकी और दक्षिणमें द्राविड़ कुलकी। उत्तर भारतकी भाषाओंमें आभ्यंतरिक संबंध है। सबका उद्गमस्थल रहा है संस्कृत। दक्षिण भारतकी भाषाएँ—तामिल, तेलेगु, मलायलम और कन्नड़ यद्यपि अनार्य कुलकी भाषाएं रहीं, किन्तु उनपर संस्कृतका इतना ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा कि उनमें संस्कृत शब्दोंका समावेश अत्यधिक हो गया। इस प्रकार संस्कृतने उत्तर एवं दक्षिण भारतको एक दूसरेके साथ अटूट रूपसे सम्बद्ध कर दिया। उत्तर भारतकी मुख्य प्रचलित भाषाएं हैं,—हिन्दी, बंगला, मराठी, और गुजराती। पंजाबी एवं उड़ियाके बोलनेवालोंकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। उक्त भाषाओंमें आपसमें बड़ा गहरा संबंध है। प्रत्येकका साहित्य भी समृद्ध है। एक का दूसरे पर प्रभाव भी यथेष्ट पड़ा है। हिन्दीके व्रजसाहित्यका प्रभाव अपने युगमें सारे भारतकी विभिन्न भाषाओंके साहित्य पर अपूर्व रूपसे पड़ा है। बंगलामें तो इसकी छाया पर 'व्रजबुलि' साहित्यका निर्माण ही हो गया। कबीरके रहस्यवादने गुरुदेवको विमुग्ध कर दिया। कितनी ही कविताओंमें उन्हें कबीरसे प्रेरणा प्राप्त हुई। बंगलाकी सुन्दर कृतियोंका परिचय हिन्दीमें अनुवादके द्वारा हुआ। हिन्दी की सुप्रसिद्ध मीराने गुजरातीमें लोकप्रिय स्थान ग्रहण किया। मराठीके उपन्यासोंने हिन्दी जगतको आकर्षित किया।

हिन्दी साहित्य की समृद्धि—

हिन्दी साहित्यका इतिहास यथेष्ट प्राचीन है। उसके रत्न चन्द, कबीर, जायसी, सूर, मीरा, तुलसी, भूषण, बिहारी, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि यद्यपि नोबेल पुरस्कारकी

भाँति किसी पुरस्कारके विजेता तो नहीं थे, किन्तु कोटि-कोटि हृदयोंके विजेता अवश्य थे। विदेशी विद्वान् 'गुलाम भारत' के इन रत्नोंको सराहते जरा भी न झिझके। ग्रियर्सन, कीम्स, हार्नली आदि विद्वान्, अपने जीवनका अधिकांश समय उनकी ही चर्चामें बिता गए। जिस प्रकार अपने गौरवमय इतिहास की पृष्ठिभूमि पर ही एक दलित और पिछड़ा हुआ देश उत्थानकी प्रेरणा प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्राचीन एवं गौरवमय साहित्यिक इतिहासकी पृष्ठभूमि पर ही कोई भाषा जनसमुदायको अनुप्राणित करती है। भारतके प्राचीन इतिहासने भी गुलामीकी जंजीर तोड़नेमें मदद की। जिस तरह अशोक, चन्द्रगुप्त, हर्ष आदि हमारे राष्ट्रीय जीवनमें उज्ज्वल हैं, दिशाभ्रममें ध्रुवतारेके समान हैं, उसी तरह कबीर, सूर, तुलसी आदि हमारे मानसिक जगतमें पथ-प्रदर्शकके समान हैं। वे चिरन्तन हैं। चिरन्तन कभी पुरातन नहीं होता, सदा नवीन रहता है। अन्यथा आधुनिक युगमें गुरुदेवको कबीर, दादू, मलूकसे प्रेरणा ही किस प्रकार पाते? (माडर्न रिव्युमें सितम्बर १९३५ में सी० एफ० एन्ड्रूजके एक लेखके आधार पर)

प्रत्यक्ष विविधतामें आन्तरिक एकता—

किसी विदेशीको भारत, विभिन्नताओंसे पूर्ण एक बड़ा विचित्र देश प्रतीत होगा। विभिन्न प्रकारके लोग, नानाप्रकारके रहन सहन, आचार व्यवहार, तरह-तरहकी बोली बोलने वाले यहाँ रहते हैं और फिर भी एक देश कहलाता है। वास्तवमें, बाह्यतः इसका रूप हो ऐसा है जैसी कि यहाँ की प्रकृति। कहीं रेगिस्तान है तो कहीं संसारमें सबसे अधिक वर्षा भी हो जाती है, कहीं बर्फ गिरा करती है तो कहीं गर्मीके कारण लोग परेशान रहते हैं फिर भी भौगोलिक सीमा एक है। स्थानानुकूल निवासियोंके आचार व्यवहारमें अन्तर जान पड़ता है, किन्तु सांस्कृतिक अन्तर्धारा एक ही है। मनुष्यकी हार्दिक मनोभावनाओंको चरम अभिव्यक्ति संगीतमें होती है। इस कलाके क्षेत्रमें भी भारतीय एकता निराले ढंगकी रही। विभिन्न भाषी होते हुए भी ध्रुपदमें सर्वत्र आपको हिन्दी पद ही मिलेंगे। प्रांतीय भाषाओंमें ध्रुपद गानेकी चेष्टा की, किन्तु सफलता नहीं मिली। सुदूर उत्तरके हिमालय प्रदेशसे लेकर कन्याकुमारी तक

ध्रुपदमें पदकी भाषामें एकता है। गंगा भारतमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सर्वत्र पूज्य है। सुदूर दक्षिणका निवासी स्नान करते समय "गंगे च यमुनेचैव गोदावरी सरस्वती' का पाठ कर गंगा स्नान कर लेता है। रामेश्वरम्के दर्शनके बिना चारोंधामकी यात्रा ही पूर्ण नहीं होती। सांस्कृतिक एकताकी रक्षाके लिये ही चारों धामकी मानों कल्पना की गई थी। जब शासन व्यवस्थामें ये विभिन्नता-पूर्ण जाति, भाग लेगी तो उन्हें सांस्कृतिक एकता की भांति और कौनसा तत्त्व भारतको राजनीतिक एकताके सूत्रमें बांध सकेगा? बाह्य विभिन्नताओंके रहने पर भी राष्ट्र तभी एक कहलाता है जब उसका राष्ट्रीय दृष्टिकोण, संस्कृति, और आचार एक रहते हैं। ये तीनों केवल भाषाके द्वारा ही एकमें बंधे रह सकते हैं। इनके बिना राष्ट्रकी एकता स्थिर नहीं रह सकती है।

विभिन्न भाषाओंके बोलनेवाले—

हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी एवं दक्षिणी भाषाओंमें सबसे अधिक सुबोध तथा सबसे अधिक बोली जानेवाली भाषा हिन्दी है।

भाषा	जनसंख्या
हिन्दी-हिन्दुस्तानी	१४०००००००
बंगला	३०००००००
मराठी	२१००००००
गुजराती	११००००००
उड़िया	११००००००
आसामी	२००००००
तामिल	२००००००
कन्नड़	११००००००

उपर्युक्त आंकड़ोंसे हिन्दीके बोलनेवालोंकी संख्या ही सबसे अधिक है, प्रकट हो जाता है। व्यवहारमें यह और भी अधिक जनोंके द्वारा काममें लाई जाती है। आजसे नीह, वरन् सैंकड़ों वर्ष पहलेसे व्यावहारिक क्षेत्रमें हिन्दीको ही सारे भारतकी

अन्तर्प्रान्तीय भाषाका पद मिला। श्री राहुलजीके बम्बईमें हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके सभापतिके पदसे प्रदत्त भाषणमें (पृ० ६-७) कहा गया है कि "हिन्दीको सारे हिन्द संघके ऊपर लादनेका सवाल नहीं है। यह तो एक सीधो व्यवहारकी बात है। मुसलमानी शासनकालमें भी कितनी ही हमारी अन्तर्प्रान्तीय साधु-संस्थाएँ रहीं और वह आज तक चली जा रही हैं। उन्हींको देखिए × × × जाकर पता लगाइए कि मलावारी, तेलगू, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिन्धी साधु-संन्यासी किस भाषामें आपसमें बातचीत करते हैं? हिन्दीमें और सिर्फ हिन्दीमें" उसीमें आपने एक मठके प्रतिनिधिके सम्बन्धमें लिखा है कि सोवियतके बाकू नगरके पास उसने शिलालेख खुदवाया जो हिन्दीमें ही है। इस प्रकार साधुओंके अखाड़ोंने भारतके निरंकुश एवं एकछत्र राज्यके युगमें भी 'प्रान्तीयता तथा अखिल-भारतीयताकी समस्याको हल किया' और आज भी भारतको एकता पक्षपातीके व्यावहारिक दृष्टिकोणसे हिन्दी ही के पक्षका समर्थन करेंगे। यदि किसी प्रकारकी शंका हो तो 'तजर्बा' कर लें। हिन्दी भाषा-भाषियोंको अलग रखकर पंजाबी, आसामी, बंगाली, उड़िया, आन्ध्र, तामिल केरली, कर्नाटकी मराठी, गुजराती लोगोंको ही व्यवहारसे इसके बारेमें फैसला करनेके लिये छोड़ दें और देख लें कि कौनसी एक भाषा उनके बीच माध्यम-स्वरूप व्यवहृत होती है। गत वर्षके नवम्बरमें (शेष सप्ताह आनन्द बाजार पत्रिका) डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने सिलचरमें एक सभामें अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि आसाम प्रान्तमें बंगला एवं आसामी भाषाकी कई बोलियां न्यूनाधिक रूपमें व्यवहृत होती हैं। ऐसी अवस्थामें जटिलतासे बचनेका सरल उपाय है कि हिन्दीको ही माध्यम बना लिया जाय।

राष्ट्रभाषा या राष्ट्रभाषाएँ ?—

कभी-कभी एकसे अधिक भाषाएँ भी राष्ट्रभाषा हो सकती हैं, कहा जाता है। भारतमें कई स्थानोंसे ऐसे सुझाव पेश भी किये गये हैं, और उसमें स्वीटजरलैंडका हवाला दिया है। इस सम्बन्धमें श्री राहुल सांकृत्यायनजीने पूर्वोक्त भाषण (पृ० ४) में कहा कि "स्वीटजरलैंडकी तीन भाषाओंका दृष्टान्त हमारे यहां भी लागू हो सकता, यदि हमारा देश एक तहसील या एक ताल्लुकेके बराबर होता। हमारे यहां जो

उदाहरण लागू हो सकता है, वह है सोवियत संघका, जहां ६६ भाषाएँ बोली-लिखी जाती हैं। द्रविड़ भाषाओंमें तो तब भी ६०-६० प्रतिशत तक संस्कृत शब्द मिलते हैं—वही संस्कृत शब्द जो उत्तरी भाषाओंमें हैं, किन्तु सोवियतकी मंगोल तुर्की सम्बन्धकी पचासों भाषाओंका रूसी भाषासे कोई सम्बन्ध नहीं। तो भी वहांके लोगोंने संघकी एक भाषा मानते वक्त रूसीको ही वह स्थान दिया, क्योंकि वह ३ जनताकी अपनी भाषा थी और देशमें भी बहुत दूर तक प्रचलित थी। हिन्दीका भी वही स्थान है। इसलिए एक भाषा रखते वक्त हमें हिन्दीको ही लेना होगा।"

यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा न बनाई जाय तो—

यदि किसी अहिन्दी भाषा अर्थात् प्रांतीय भाषाको राष्ट्रभाषा बना दिया जाय तो कुछ समस्याओंको सुलझाना बड़ा कठिन हो जायगा। ऊपर दिए गए आंकड़ोंसे स्पष्ट हो जाता है कि कौनसी भाषा कितने लोगोंके द्वारा बोली जाती है। अब यदि कोई भी प्रान्तीय भाषा (हिन्दीके सिवा) राष्ट्रभाषा हो जाय तो उसका तात्पर्य यह होगा कि एक अल्पसंख्यक जनसंख्याकी भाषाको अपेक्षाकृत विराट जनसमुदाय या शेष सारे भारतके लोगोंको सीखना पड़ेगा। विशाल जनसंख्याके साथ ही क्षेत्रके विस्तारका प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। इसलिये हिन्दी को छोड़ अन्य किसी भी प्रान्तीय भाषाके सामने यह समस्या जटिलतरमें उपस्थित हो सकती है। दूसरी समस्या धनके व्ययकी भी कम टेढ़ी न होगी। जितना अधिक प्रचारका क्षेत्र विस्तृत होगा, उतने ही अधिक धनकी आवश्यकता होगी। भारत कोई छोटासा देश नहीं है। अन्य किसी प्रान्तीय भाषाको सिखानेके लिए अगणित शिक्षकोंकी आवश्यकता पड़ेगी। इसकी पूर्ति अपेक्षाकृत छोटे-छोटे दायरोंमें बोली जानेवाली भाषाएँ कहाँ तक कर सकेंगी, यह भी विचारणीय है। इतना धन, इतने शिक्षक आदिकी जिम्मेदारी कौन लेगा? एक नये सिरेसे काम शुरू करना पड़ेगा। किन्तु, हिन्दीके सम्बन्धमें ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। पहले की तो जाने दिजिए इधर दो सौ वर्षसे कमसे कम अनजानेमें अनायास ही यह काम स्वतः ही होता रहा है। हिन्दीको भारतमें प्रायः सर्वत्र ही समझ लेते हैं, और किसी हद तक बोलकर काम भी चला लेते हैं। केवल भारत ही नहीं, भारतके बाहर भी अन्य स्थानों पर (डा० श्रीसुनीति कुमार चाटुर्ज्याके

उद्धृत लेखमें देखिए) इसका प्रचार है। संसारकी भाषाओंमें बोलने तथा समझने वालोंकी संख्याके दृष्टिकोणसे उसका स्थान तीसरा है।* धन तथा शिक्षकोंकी समस्या भी उसके सामने नहीं रह जाती, कारण व्यापक होनेके साथ ही साथ उसके प्रचारका कार्य भी एक अर्सेसे हो रहा है। यदि अंगरेजी का प्रभुत्व नहीं रहता तो इतने से प्रचारकी भी आवश्यकता न होती। डा० चाटुर्ज्याने लिखा है कि हिन्दीने वर्तमान अवस्थाको किसी प्रचारके कारण नहीं प्राप्त किया है, वरन २५०० वर्षकी भाषातत्त्वकी ऐतिहासिक धाराका परिणाम है। (अमृत बाजार पत्रिका १५ जनवरी १९४८) विदेशी शासकोंके द्वारा अंगरेजीकी भांति उसे प्रोत्साहन कभी नहीं प्राप्त हुआ।† वरन यह तो सदासे ही जनताकी भाषा रही है और जनसाधारणका बल ही उसका बल रहा है। किसी प्रान्तीय भाषाके राष्ट्रभाषा होनेमें राष्ट्र की शक्ति धन और समय का अपव्यय अवश्यम्भावी है।

हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू—

किसीका प्रश्न यह हो सकता कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीमें ही झगड़ा चल रहा है तो राष्ट्रभाषा फिर किसे मानें? प्रस्तुत पुस्तकमें इसके विवेचन पर भी प्रकाश डाला गया है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार आदिसे लेकर अबतक जम्बूद्वीप, आर्यावर्त, भारत, भारतवर्ष, ब्रह्मावर्त,

---

* × × × And when Hindi is recognised as one of the great international languages, as the third great language of the world in point of numbers of speaking or understanding it taking is place in the U. N. O. × × × (Amrita Bazar Patrika 15th Jan. 1948)

† वर्तमान युगमें रेडियो प्रचारका एक मुख्य साधन है। उसके द्वारा यथासंभव हिन्दीके प्रति दमन नीतिको ही विदेशी शासकोंने अपनाया। उससे हिन्दी को कुछ हानि अवश्य पहुंची, और यही उनकी मंशा भी थी। कारण, हिन्दीकी शक्तिका उन्हें अनुमान था, और उन्हें आशंका थी कि उसका प्रचार भारतीय एकताकी वृद्धि में सहायक होकर गुलाम भारतको उनके पंजोंसे मुक्ति पानेमें सुविधा प्रदान करेगा।

इंडिया, हिन्दुस्थान, हिन्दुस्तान, हिन्द आदि एक ही देश भारतके पर्यायवाची हैं, उसी प्रकार यहाँ की प्रमुख तथा प्रतिनिधि भाषाके ही उपर्युक्त भिन्न-भिन्न नाम हैं। श्रीपद्मसिंह शर्माजीके इस संबंधके विचार ध्यान देने योग्य हैं। 'यह बदनाम हिन्दुस्तानी' शीर्षक लेखमें 'हिन्दुस्तानी' संबंधी भ्रमका निराकरण किया गया है। उर्दूके लिए तो सभी विद्वान् तथा भारतके श्रेष्ठ व्यक्तिगण एक ही मतके हैं कि उर्दू हिन्दीकी एक शैली मात्र है। इसे तो जबर्दस्ती धार्मिक तथा अन्यान्य अवांछित रंगोंमें रंगा गया है। परिणाम यह हुआ कि भ्रमवश उर्दू और हिन्दीके बीच भेदकी दीवार खड़ी हो गई और व्यर्थ ही उर्दू मुसलमानोंकी भाषा कही जाने लगी। लेकिन, हिन्दुस्तान के ग्रामोंमें हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीका झगड़ा नहीं है। शहरोंमें ही इसका द्वन्द्व देखा जाता है। पंडित जवाहरलाल नेहरूने अपनी Discovery of India (हिन्दुस्तान की कहानी) में मौलाना अबुलकलाम आज़ाद द्वारा व्यवहृत उर्दूके संबंधमें कहा है कि उनकी उर्दू अत्यन्त ही दुरूह है और भारतीय मुसलमान विद्वान भाषाके इस रूपसे उनसे असहमत हैं। श्रीचन्द्रबली पांडियजीका भी इस संबंधका विवेचन ध्यान देने योग्य है। कहनेका तात्पर्य यह है कि एक भाषा जिसे ग्रामकी अशिक्षित जनता तो समझ जाती है उसे जबर्दस्ती उर्दूका नाम देकर मतभेद बढ़ाकर चालू करनेकी चेष्टा क्यों की जाय? बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, या दक्षिण भारतके प्रान्तोंको लेकर देखिए तो प्रकट हो जायगा कि वहांकी मुसलमान जनता धार्मिक और सांस्कृतिक अवसरों पर अपने सम्प्रदायके विशेष शब्दोंका प्रयोग करती हुई भी प्रान्तीय भाषाका व्यवहार करती है, उसमें प्रचलित दुरूहसे दुरूह संस्कृत शब्दोंके व्यवहारसे भी विचलित नहीं होती, किन्तु इसके विपरीत हिन्दी क्षेत्रकी मुसलमान जनता धर्म और सम्प्रदायके नाम पर सरलसे सरल, प्रचलित संस्कृत के शब्दों पर आपत्ति करती देखी जाती है। यह क्यों? अपने-अपने धार्मिक शब्द विशेषका प्रयोग जब होता ही है तब भाषा-भेदकी सृष्टि करना क्या उचित है? जिस प्रकार उर्दू, हिन्दीकी एक शैली है, जिसे विशेषतः मुसलमान तथा कुछ हिन्दुओं ने शौकसे अपनाया, उसी प्रकार अन्य भाषाओंमें भी यही बात लागू होती है। बंगलामें कितने ही फारसी और अरबी शब्द मिल गये हैं, काज़ी नजरुल इसलाम

की तो एक विशेष शैली ही है—तो क्या उसे बङ्गलासे भिन्न एक भाषा कहना उचित होगा ? कबीर, जायसी, रहीम, रसखान आदि मुसलमान ही थे किन्तु उनके सामने हिन्दी उर्दू के भेदकी समस्या तो कभी नहीं आई । अकबरके युगके अरबी फ़ारसी शब्दोंको गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणमें एवं अपनी अन्य रचनाओंमें ग्रहण कर लिया तो क्या रामायणको हिन्दीकी संपत्ति नहीं कही जाय ? 'गरीब' 'नेवाज' आदि उनके बड़े प्रसिद्ध शब्द हैं, फ़ारसी अरबीके होते हुए भी वे हिन्दीके हैं, क्योंकि वे उसमें खप गए, उसके शब्द भण्डारमें आ गए, और शैली विशेषके रूपमें प्रयुक्त भी होने लगे ।

साम्प्रदायिक झगड़ेके पल्लेमें बाँधकर हिन्दी और उर्दूकी समस्याको निरर्थक प्रश्रय दे दिया गया । समझौतेकी नींव पर 'हिन्दुस्तानी' नामकी शरण भी ली गई । किन्तु बात बननेकी अपेक्षा बिगड़ती ही चली गई । हिन्दुस्तान तो वास्तविक रूपमें हिन्दुस्तानकी भाषाको कह सकते हैं, जैसा कि नेहरूजीने कहा है । * इन दिनों 'हिन्दुस्तानी' नाम एक विशेष अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाने लगा है । हिन्दीमें अरबी, फ़ारसी शब्द सम्प्रदाय विशेषकी तुष्टिके लिये भरे जाने लगे । बापूकी सरलता एवं निष्कपटताकी आड़में कुछ लोगोंने अपनी प्रमुखताके लिये इस आन्दोलनकी सृष्टि की । राजनीतिक क्षेत्रमें समझौता किया जा सकता है, किन्तु जब संस्कृतिका प्रश्न आता है तो विषय विचारणीय हो उठता है । राजनीति परिवर्तनशील है संस्कृति चिरन्तन है । चिरन्तनका प्रभाव स्थायी होता है । स्थायी व्यापारोंमें किसी प्रकारका आदेश अथवा बलप्रयोग हितकारी नहीं होता है । संस्कृति, भाषा, सभ्यता आदि जिनका सम्बन्ध मानसिक जगतसे रहता है उनका प्रवाह स्वच्छन्द होता है । उसमें किसी प्रकारका अस्वाभाविक बन्धन स्पृहणीय नहीं है । बन्धनकी प्रतिक्रिया जब उसमें होती है तब बांध तोड़कर आसपासकी चीजोंको भी बहा ले जाती है । कीर्तिनाशा उत्तालतरङ्गपूर्ण गङ्गाका रूप धारण कर लेती है । जिस प्रकार नदी बड़े-बड़े पहाड़ोंकी कठोर चट्टानोंको काटती हुई, ऊबड़-खाबड़ जमीनके बीचसे

---

* हिन्दुस्तानकी कहानी (Discovery of India) में ।

मार्ग बना समतल भूमि पर बहती हुई विशाल जलराशिमें मिल जाती है, उसी प्रकार भाषा भी कठोरता, दुरूहता, क्लिष्टता, विषमता आदिके मध्यसे होती हुई सरलताकी ओर बढ़ती जाती है और फिर समुद्रकी भांति विशाल जनसमुदाय उसका स्वागत करता हुआ उसे अपना लेता है। सेतुके द्वारा नदीके इस पारसे उस पार जाया जा सकता है, बांधके द्वारा किसी-किसी स्थान पर बांधा भी जाता है, किन्तु उसकी गतिमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली जा सकती है। फिर भी, नदीसे प्रतिपल शंका बनी ही रहती है कि इन बंधनोंको किसी क्षण भी वह तोड़ सकती है। प्रकृतिके ऊपर विजय प्राप्त करनेका दम्भ वृथा है। किसी मुहूर्त भी हम पराजित हो सकते हैं और जब पराजय होती है, तब नाश ही होकर रहता है। भाषा भी प्राकृतिक देन है। इसमें बन्धन न डालना ही श्रेयस्कर है। व्याकरण आदिका बन्धन भी वह उतना ही स्वीकार करती है, जितना कि वह चाहती है। अति हो जानेपर संस्कृत या अरबीकी तरह व्याकरणके शिकंजेमें बुरी तरह कस जानेके बाद अपने स्वाभाविक विकाससे वंचित हो जाती है। हिन्दीकी 'समन्वय शक्ति' तथा 'सर्व संग्रहण' शक्ति अपरिमित है। वह स्वतः ही शब्दोंको अपना लेती है। जनताके निकटतम ही पहुंचनेका प्रयास सदासे उसका रहा है। दो सौ वर्ष पहले हिन्दीकी ब्रजबोली में उसके साहित्यकी रचना होती थी, किन्तु उसे आगतप्राय वैज्ञानिक युगका आभास मिल गया। उसे अनुमान हो गया कि यह युग जीवनकी विविधताओंसे तथा विचारोंकी व्यापकतासे पूर्ण होगा। मुद्रण कलाके कारण जीवन द्रुतगतिपूर्ण हो उठेगा। उस अवस्थामें ब्रजभाषाकी कोमल-कान्त-पदावली जीवनके कठोर सत्यके भारको वहन न कर सकेगी। गद्यका ही माध्यम उपयुक्त होगा। निदान, हिन्दी ने खड़ी बोलीको अपनाया, और गद्य उसमें निखर उठा। हिन्दीकी यह भी विशेषता है कि समयकी आवश्यकताके अनुसार वह अपना रूप धारण कर लेती है। यह संयुक्तप्रान्तकी भाषा है, और उसपर अपने प्रान्तकी उस विशेष शिष्टताका प्रभाव भी यथेष्ट पड़ा है, जिससे कि संयुक्तप्रान्तका निवासी अन्य प्रान्तके किसी व्यक्तिसे मिलनेके पश्चात् इसी कोशिशमें रहता है कि आगन्तुकके व्यवहार तथा बोलीको उसकी सुविधाके लिये अपना ले, जिससे अतिथि विशेषको असुविधा न हो, हिन्दीने

अनायास ही अपने क्रमके अनुसार प्रांतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओंके अभिव्यक्ति-पूर्ण विशेष शब्दोंको अपना लिया है।

आज, लोगोंको हिन्दुस्तानी इसीलिये असह्य हो उठी है कि उसमें उसकी स्वाभाविक विशेषताके रहते हुए भी जबर्दस्ती शब्दोंको भरा जा रहा है। संस्कृत-गर्भित हिन्दी भी उसी प्रकार असहनीय है, जिस प्रकार फ़ारसीनिष्ठ हिन्दी। इन दोनोंका यह रूप केवल प्रतिक्रियाके कारण ही हुआ है। यदि अरबी, फ़ारसी के शब्दोंको भरना छोड़ दिया जाय, तो संस्कृत शब्दोंका हठ भी स्वभावतः छोड़ा जा सकता है। फिर भी एक बात कहनी ही पड़ेगी कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता इतनी उच्च रही है कि वर्त्तमान युगके प्रयुक्त अनेक शब्द हमें संस्कृतके भंडारसे प्राप्त हो सकते हैं, और वे भारतके प्रत्येक प्रान्तमें प्रचलित तथा ग्राह्य हैं और रहेंगे। उसके लिये हमें विदेशी भाषाओंसे भिक्षा लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। आजके बहु प्रचलित शब्द (जैसे, टिकट, ट्रेन, पुलिस, बम इत्यादि) तथा विशेष शब्दोंको विदेशी होने पर भी सुविधाके लिये हम ग्रहण कर सकते हैं और करते रहे हैं। इसमें किसी प्रकारकी आपत्ति होनी भी नहीं चाहिये।

उर्दूको सम्प्रदाय विशेषकी भाषा कहना व्यर्थ है। पहले ही कहा जा चुका है कि प्रान्तीय भाषाओंका व्यवहार वहाँके सभी सम्प्रदायके निवासी समान रूपसे करते हैं। उर्दूके लिये किसी सम्प्रदाय विशेषका मोह या बन्धन नहीं है। पूर्वी पाकिस्तानके निवासी बंगलाभाषी हैं, वहांके मुसलमानोंने विशेष रूपसे उर्दूको राष्ट्रभाषा के रूपमें मानना अस्वीकार किया है। यही बात अन्य प्रान्तोंके लिये भी लागू होती है। उर्दूके प्रति इस प्रकारका मोह तो भ्रमात्मक है। हिन्दी और उर्दूके सम्मिश्रणसे बनी हुई आजकी तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' को लोग कितना समझते हैं, उसका अन्दाज़ तो बापूके कचरापाड़ा वाले भाषण (१९४७ के अगस्तके तीसरे सप्ताह में प्रदत्त भाषण) से लग सकता है। बापू उन महान व्यक्तियोंमें से हैं, जो मन, वचन तथा कर्मसे एक ही रहते हैं। उन्होंने जब 'हिन्दुस्तानी' का 'प्रयोग' आरम्भ किया है तो निस्सन्देह उनसे बढ़कर उसका प्रतिपादन भी कोई नहीं कर सकता है। उन्होंने अवश्य विशेष अर्थोंमें प्रयुक्त 'हिन्दुस्तानी' का ही व्यवहार उपर्युक्त अवसर पर किया

था। किन्तु उनके उस भाषण को भी लोगोंको समझानेके लिये सुहरावर्दी साहबको अनुवाद करना पड़ा। बापूका पवित्र उद्देश्य किसे नापसन्द होगा? फिर भी, भाषा की भित्ति पर साम्प्रदायिक एकता की कल्पनाको अनावश्यक रूपसे महत्व दिया जा रहा है। उर्दू तो कोई भिन्न भाषा ही नहीं है। उसका शब्द भंडार एवं व्याकरण तो हिन्दीके आधार पर है। सम्मिश्रणका प्रश्न कहां आता है? शैलीके लिये जिसे जो पसन्द आवे व्यवहार करनेकी स्वतंत्रता है। साहित्यकार या कलाकारके लिए किसी प्रकारका आदेश लाभदायक नहीं होता है। तब राष्ट्र हिन्दीके किस रूपको 'स्टैंडर्ड' माने? यह प्रश्न किसी देशमें किसी सरकार या जनसाधारणके द्वारा हल नहीं हुआ करता। भाषाको उसका 'स्टैंडर्ड' रूप उसके समर्थ लेखक ही दिया करते हैं। हमें भी यह जिम्मेदारी कलाकार तथा अपने लेखकों पर ही छोड़नी चाहिए।

राष्ट्रभाषाकी भांति राष्ट्रलिपि की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। जिन कारणों से एक ही भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है, तथा भारतके लिए हिन्दीको ही राष्ट्रभाषा माना जा सकता है, उन्हीं कारणोंसे एक ही लिपि राष्ट्रलिपि हो सकती है तथा भारतकी राष्ट्रलिपिका सम्मान देवनागरी ही प्राप्त कर सकती है। उसकी वैज्ञानिकता एवं सुन्दरता को समस्त संसारने निस्संकोच स्वीकार किया है। भला ऐसी अमूल्य वस्तुके अधिकारी होकर अन्य अवैज्ञानिक एवं अपूर्ण लिपिकी शरण लेना बुद्धिमानीका काम तो नहीं कहा जा सकता। इस शताब्दीके प्रारम्भमें जस्टिस शारदाचरण मित्रने एक लिपि-विस्तार आन्दोलन किया था। कलकत्तेसे 'देवनागर' पत्रका प्रकाशन किया था। भारतकी एकता सुदृढ़ करनेके संम्बन्धमें आपकी धारणा थी कि भारतमें एक लिपिका प्रयोग हो, इससे बहुतसे भेदभाव शीघ्र ही दूर हो सकेंगे। श्री सावरकरजी ने भी अपने रत्नागिरिके बन्दी-जीवनमें देवनागरी एवं एक-लिपिके संबंधमें कुछ विचार एवं कार्य किए थे। इस दिशामें अभी भी निरन्तर काम किया जा रहा है। इसके सिवा, भारतकी प्रान्तीय भाषाओंने इस लिपिको अपना लिया है। मराठी एवं गुजराती अधिकतर इसी लिपिमें लिखी जाने लगी है। संस्कृतके कारण देवनागरी अक्षर तो प्रायः अधिकांश भारतीय जानते हैं, एवं पाश्चात्य जगत भी इससे सुपरिचित है। अतः लिपि सिखानेकी समस्या प्रायः हल सी हो जाती है। संसारमें कहीं भी एक

राष्ट्रमें दो राष्ट्रलिपियां सुननेमें नहीं आईं। कहा जाता है कि दोनों लिपियोंका ज्ञान होना चाहिए। यों तो शौकसे चाहे कोई कई भाषाएँ एवं लिपियां सीख ले, किन्तु अनिवार्य रूपसे एकसे अधिकके लिए जोर देना व्यर्थ ही शक्तिका क्षय करना है। फिर ऐसी लिपि (उर्दू अर्थात् मूलतः अरबी) लादी जाय जिसकी अपूर्णता प्रसिद्ध है तथा जिसे 'खुद बहुतसे इस्लामी देशोंसे देश निकाल दिया जा चुका है'। बापू स्वयं भारतमें द्विजातीयताके सिद्धान्तको नहीं मानते, तब यदि इस प्रकार दो भिन्न संस्कृति एवं जातीयताकी लिपियां उनके मतानुसार जबर्दस्ती आज प्रचलित कर दी जांय, तो क्या भविष्यके भारतमें द्विजातीयताको स्थायीत्व नहीं प्राप्त होगा? जिसे वे एक हाथसे हटा रहे हैं, उसे दूसरे हाथसे रखते भी जा रहे हैं!

राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रलिपिका प्रश्न कुछ नया नहीं है। राष्ट्रकी सेवा करनेवाले तथा मनीषियोंको सदा इसका सामना करना पड़ा है। सबने समानरूपसे अनुभव किया कि भाषाकी एकताके बिना राष्ट्रकी एकता स्थिर नहीं रह सकती। श्री अरविंद, बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, श्रीनिवासशास्त्री, दयानन्द सरस्वती आदिने अनुभव किया था कि अपनी प्रांतीय भाषाओंकी रक्षा करते हुए हिन्दीको राष्ट्रभाषा स्वीकार करने पर ही भारतकी एकता तथा सच्ची राष्ट्रीय साधना संभव हो सकती है। प्रस्तुत पुस्तकमें भारतके विधायक तथा मनीषियोंके विचार एकत्रित किए गए हैं। भारतीय भाषाओंकी वास्तविक स्थिति क्या है, कौनसी भाषा राष्ट्रभाषाके योग्य है, एवं हिन्दीके पक्ष, विपक्ष तथा निष्पक्ष मत क्या हैं आदि एक साथ ही प्राप्त हो सकेंगे। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको एक उचित राय कायम करनेमें सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपिके सम्बन्धमें कई संस्थाओंने तथा कई विद्वानोंने विवेचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। उनके द्वारा उनके व्यक्तिगत विचार तथा व्यक्तिविशेषके दृष्टिकोण ही सामने आते हैं। किन्तु, अपने लिए मैंने यही ठीक समझा कि केवल अपने तर्क या अपना समर्थन ही सामने न रखकर यदि कौन क्या करता है, बता सकूं तो निर्णय ठीक किया जा सकेगा। अतः भारतके राजनीतिके, समाजके, तथा साहित्यके श्रेष्ठ एवं मान्य व्यक्तियोंके विचार यथासंभव उन्हींके शब्दोंमें दिए गए हैं। मेरा यह दावा नहीं है कि इस पुस्तकमें मैंने राष्ट्रभाषा एवं लिपि सम्बन्धी समस्त विद्वानोंके समस्त

विचार एकत्रित किए हैं। बल्कि, वर्तमान भारतके स्रष्टाओं तथा द्रष्टाओंके कुछ विचार सबके सम्मुख रखनेका प्रयास किया है।

इस पुस्तकमें जिन मनीषियोंके विचार तथा विद्वानोंके लेख दिए गए हैं, वे मेरा धन्यवाद स्वीकार करें, साथ ही जिनकी सहायता, उद्योग एवं सुझावके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन इतनी शीघ्रताके साथ होना संभव नहीं था वे भी मेरा धन्यवाद ग्रहण करें।

बंगीय हिन्दी परिषद्
कलकत्ता
१९ जनवरी १९४८

कमला देवी गर्ग

विषय-सूची

	विषय		पृष्ठ
१.	गार्सां द तासीं	....	१
२.	श्री केशवचन्द्र सेन	....	१
३.	,, भूदेव मुखर्जी	....	३
४.	,, श्रद्धानन्द	....	३
५.	,, गणेशशंकर विद्यार्थी	....	४
६.	,, पद्मसिंह शर्मा	....	६
७.	,, सी० एफ० एन्ड्रूज	....	७
८.	,, रवीन्द्रनाथ ठाकुर	....	२६
९.	,, सुभाषचन्द्र बोस	....	३०
१०.	,, श्रीनिवास शास्त्री	....	३५
११.	महात्मा गांधी	....	३७
१२.	पण्डित जवाहरलाल नेहरू	....	५०
१३.	,, डा० राजेन्द्र प्रसाद	....	६०
१४.	,, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी	....	७०
१५.	डा० राजन	....	७४
१६.	श्रीमती अम्बूजम्माल	....	८३
१७.	डा० श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी	....	८५
१८.	आचार्य श्री काका कालेलकर	....	८६
१९.	डा० ताराचन्द	....	९५
२०.	,, कन्हैयालाल मुंशी	....	१०३

	विषय		पृष्ठ
२१.	श्री वियोगी हरि	....	१०८
२२.	,, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	....	११४
२३.	,, सम्पूर्णानन्दजी	....	१२८
२४.	,, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	....	१३६
२५.	डा० अमरनाथ झा	....	१४१
२६.	,, धीरेन्द्र वर्मा	....	१४६
२७.	,, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	....	१५९
२८.	,, ललितप्रसाद सुकुल	....	१६९
२९.	,, चन्द्रबली पाण्डेय	....	२१२
३०.	,, मौलवी महेश प्रसाद	....	२२४
३१.	डा० रघुवीर	....	२२७
३२.	,, भदन्त आनन्द कौशल्यायन	....	२३४
३३.	,, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	....	२३९
३४.	,, श्यामनारायणजी	....	२४३
३५.	गांधीजी तथा टंडनजीका पत्र-व्यवहार	....	२५३
३६.	,, प्रभाकर माचवे	....	२६६
३७.	,, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति	....	२७०
३८.	,, मलीहाबादी साहब	....	२७२
३९.	,, विविध समाचार पत्रोंमें	....	२७५
४०.	भारतीय भाषाओंका मानचित्र	....	२८३

हिन्दी ही क्यों ?

गार्सां द तासीं —

[अबसे १६८ वर्ष पहले अर्थात् १७५० ई० में गार्सां द तासीं ने 'हिन्दवी' तथा 'भाषा' शब्द हिन्दीके अर्थमें प्रयुक्त किया था और उसे देश भरकी प्रचलित भाषा माना था। यह सर्वविदित है कि हिन्दीका एक और नाम भी 'भाखा' के नामसे प्रचलित था। तुलसीदासजीने भी कहा है 'भाषा भणति थोर मति मोरी'। अतः 'हिन्दवी' का अर्थ तासीं साहबने 'भाखा' अर्थात् हिन्दीके ही अर्थमें माना है स्पष्ट हो जाता है।—]

× × × ×

'मैंने तहरीरके लिये वह ज़बान अख्तियार की है, जो हिन्दुस्तानके तमाम सूबोंकी ज़बान है, यानी हिन्दवी, जिसे भाखा कहते हैं, क्योंकि इसे आम लोग बखूबी समझते हैं और बड़े तबके के लोग (भद्र व्यक्ति) भी पसन्द करते हैं।' × × ×

(फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासींके पांचवें भाषणसे—'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी', स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा—हिन्दुस्तानी एकेडमी पृ० नं० १८) *

श्री केशवचन्द्र सेन—

[बंगालके सांस्कृतिक तथा राजनीतिक निर्माण कर्ताओंमें श्री केशवचन्द्र सेनका नाम प्रमुख व्यक्तियोंमें है। उन्होंने भी ७१ साल पहले राष्ट्रीय एकताके लिए हिन्दीकी आवश्यकताको अनुभव किया था। तब

* उपर्युक्त पुस्तक उन्होंने 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' के लिए लिखी थी। अतः उपर्युक्त अनुवाद जिसमें 'उर्दू' का रंग गहरा है, एकेडमीकी भाषा विषयक नीतिकी पाबन्दीका नमूना मालूम होता है।

उर्दू, या हिन्दुस्तानीका प्रश्न तो उठता ही नहीं वरन् अन्य भाषाओंका भी राष्ट्रभाषा बननेका दावा करना व्यर्थ प्रतीत होता है।]

× × × ×

"यदि एक भाषाके न होनेके कारण भारतमें एकता नहीं होती है तो और चारा ही क्या है ?—तब सारे भारतवर्षमें एक ही भाषाका व्यवहार करना ही एकमात्र उपाय है। अभी कितनी ही भाषाएँ भारतमें प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी भाषा ही सर्वत्र प्रचलित है। इसी हिन्दीको यदि भारतवर्षकी एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय, तो सहज ही में यह (एकता) संपन्न हो सकती है। किन्तु राज्यकी सहायताके बिना यह कभी भी संभव नहीं है। अभी अंग्रेज हमारे राजा हैं, वे इस प्रस्तावसे सहमत होंगे, ऐसा विश्वास नहीं होता। भारतवासियोंके बीच फिर फूट नहीं रहेगी, वे परस्पर एक हृदय हो जाएँगे, आदि सोच कर शायद अंग्रेजोंके मनमें भय होगा। उनका ख्याल है कि भारतीयोंमें फूट न होने पर, ब्रिटिश साम्राज्य भी स्थिर नहीं रह सकेगा। × × × ×

× × × भाषा एक न होने पर एकता संभव नहीं है। (श्री केशवचन्द्र सेन —सुलभ समाचार १८७५ ई०)

× × × ×

यदि भाषा एक ना हइले भारतवर्षे एकता ना हय, तबे ताहार उपाय की ? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार करा-ई उपाय। एखन जतोगुलि भाषा भारते प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा ही प्राय सर्वत्र प्रचलित। एइ हिन्दी भाषाके यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे। किन्तु राजार साहाय्य न पाइले कखनोइ सम्पन्न हइबे ना। एखन इंगरेज जाति आमादेर राजा। ताँहारा जे ए प्रस्तावे सम्मत हइबेन, ताहा विश्वास करा जाय ना। भारतवासीदेर मध्ये अनैक्य थाकिबे ना, ताहारा परस्पर एक-हृदय हइबे, इहा मने करिया हय तो इंगरेजेर मने भय हइबे। ताँहारा मने करिया थाकेन जे, भारतवासीदेर मध्ये अनैक्य ना थाकिले, ब्रिटिश साम्राज्य स्थिर थाकिबे ना। × × × भाषा एक ना हइले, एकता हइते पारे ना।"

(श्री केशवचन्द्र सेन—सुलभ समाचार—१८७५ ई०)

श्री भूदेव मुखर्जी—

[प्रायः ५० वर्षसे भी अधिक हुए श्री भूदेव मुखर्जीने भी निम्नलिखित वक्तव्यके द्वारा सूचना दी थी कि भारतकी राष्ट्रभाषा यदि कोई हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। इनके वक्तव्यसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीमें कोई अन्तर नहीं है। यहां तक कि मुसलमानोंने भी इसके प्रचारमें सहायता की थी। यह कहना असंगत न होगा कि कहीं कहींसे यह भी आवाज़ आती है कि बंगला राष्ट्रभाषा हो। इस उद्धरणके द्वारा उस आवाज़का उत्तर मिल जाता है।]

"भारतकी प्रचलित भाषाओंमें हिन्दी-हिन्दुस्थानी ही प्रधान है, एवं मुसलमानोंकी कृपासे वह सारे देशमें व्याप्त है। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि इसीका (हिन्दीका) अवलम्बन कर किसी सुदूर भविष्यमें सारे भारतवर्षकी भाषा सम्मिलित रह सकेगी।

('अचर-प्रबन्ध, ५ वां संस्करण, चिन्सुरा बंगला संवत् १२२८, पृ० सं० १९०')

'भारतवासीर चलित भाषा-गुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्थानीई प्रधान, एवं मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त-महादेश-व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहाके अवलम्बन करिया-इ कोनो दूरवर्ती भविष्य काले समस्त भारतवर्षे भाषा सम्मिलित थाकिबे।' (अचर-प्रबंध, ५ वां संस्करण चिन्सुरा बंगला संवत् १२२८ पृ० सं० १९०)

श्री श्रद्धानन्द—

[श्री श्रद्धानन्दजीके वक्तव्यसे यह निर्विवाद रूपसे स्पष्ट हो जाता है, कि 'हिन्दी' के भीतर कुछ ऐसे गुण हैं जो उसकी सार्वभौमिकताके दावेको स्थिर कर सकते हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक ऐक्यकी ध्वनि इसमें स्वयं ही प्रतिध्वनित होती है।]

भागलपुरके चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति महात्मा मुंशीराम जी (बादको स्वामी श्रद्धानन्दजी) थे, उन्होंने अपने भाषणमें हिन्दीके स्थानमें सर्वत्र आर्य-भाषा शब्दका ही प्रयोग किया है, और इस शब्दके प्रयोगके औचित्यका यह हेतु दिया है—

"मैंने कई बार 'आर्य-भाषा' शब्दका प्रयोग किया है। जिसे आप हिन्दी कहते हैं, उसे मैं आर्य-भाषा कह कर पुकारता हूँ। इसका मुख्य कारण तो यह है कि आपके ही एक पूर्व माननीय सभापतिके कथनानुसार इस भाषाकी बुनियाद उस समय पड़ चुकी थी, जब यह देश हिन्दुस्थान नहीं, वरन् आर्यावर्त कहलाता था। फिर इस भाषाको हम केवल हिन्दुओंकी ही भाषा नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सारे देशकी राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, जिसमें जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई सभी सम्मिलित हैं, इसलिए मैं इसे आर्य-भाषा कह कर पुकारता हूँ।" (चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भागलपुरका कार्य-विवरण, भाग प्रथम, पृष्ठ—१५.)

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी—

[निम्नलिखित लेखमें स्वर्गीय विद्यार्थीजी हिन्दीको भारतकी (बल्कि वे तो समस्त संसार पर उसके प्रभावकी कल्पना करते हैं) राष्ट्रभाषा मानते हैं। आपका दृष्टिकोण केवल राजनीतिक ही नहीं, वरन् प्रधानतः सांस्कृतिक ही है। यह भी एक मूल्यवान तथा विचारणीय दृष्टिकोण है। राजनीति परिवर्तनशील है, संस्कृति स्थायी होती है। इसीलिए संस्कृतिको ध्यानमें रखते हुए ही राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें विचार करना उत्तम होता है।]

राष्ट्र भाषा का उज्ज्वल स्वप्न

हिन्दी को अपने पूर्व-सचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खण्डमें जिस समय सर्वथा अन्धकार था, लोग अज्ञान और अधर्ममें डूबे हुए थे, विश्व-बन्धुत्व और लोक-कल्याणका भाव भी उनके मनमें उदय नहीं

हुआ था, उस समय इस देशसे सुदूर देश-देशान्तरों में फैलकर बौद्ध भिक्षुओंने बड़े-बड़े देशोंसे लेकर अनेकानेक उपत्यकाओं, पठारों और तत्कालीन पहुंचसे बाहर गिरि-गुहाओं और समुद्र-तटों तक जिस प्रकार धर्म और अहिंसाका संदेश पहुंचाया था, उसी प्रकार अदूर भविष्यत् में उन पुनीत संदेशवाहकोंकी संतति संस्कृत और पाली की अग्रजा हिन्दी द्वारा भारतवर्ष और उसकी संस्कृति के गौरव का संदेश एशिया महाखण्ड के प्रत्येक रङ्ग-मञ्च पर सुनावेगी। मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जब हिन्दी साहित्य, अपने सौष्ठवके कारण जगत्-साहित्यमें अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी भारतवर्ष ऐसे विशाल देशकी राष्ट्र-भाषाकी हैसियत से, न केवल एशिया महाद्वीपके राष्ट्रोंकी पंचायतमें, किन्तु संसार भरके देशोंकी पञ्चायतमें, एक साधारण भाषाके समान न केवल बोली भर जायगी, किन्तु अपने बलसे, संसारकी बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी।

यद्यपि हिन्दीके अस्तित्व पर अब इस प्रकारके खुले प्रहार नहीं होते, किन्तु ढके-मुंदे प्रहारोंकी कमी भी नहीं है, जो उस पर और इस प्रकार देशकी सुसंस्कृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहसके साथ और उस अगाध विश्वासके साथ, जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्यके परमोज्वल भविष्यत् पर है, हमें इस प्रकारके प्रहारोंका सामना करना चाहिये और जितने बल और क्रिया-शीलताके साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत-गतिके साथ हम अपनी भाषाकी त्रुटियोंको पूरा करेंगे और ३२ करोड़ व्यक्तियोंकी राष्ट्र-भाषाके समान बलशाली और गौरवयुक्त बनावेंगे, उतनी ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्यकी रश्मियां दूर-दूर तक समस्त देशोंपर पड़कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कलाका संदेश पहुंचावेंगी, उतने ही शीघ्र हमारी भाषामें दिये गये भाषण संसारकी विविध रङ्गस्थलियोंमें गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति-मात्रकी गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा, और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देशके प्रतिनिधि उसी प्रकार, जिस प्रकार आयरलैण्डके प्रतिनिधियोंने इङ्गलैंडसे अन्तिम संधि करते और स्वाधीनता प्राप्त करते समय, अपनी विस्मृत 'गैलिक'

में संधिपत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता पत्र पर हिन्दी में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे। *

श्री पद्मसिंह शर्मा—

[निम्नलिखित उद्धृत अंशमें स्वर्गीय श्री पद्मसिंह शर्माजीने हिन्दीके भिन्न-भिन्न नामोंके कारण भ्रम हो जानेके विषयमें बड़ा ही तात्विक विवेचन किया है। नामकी विभिन्नताके कारण वस्तुमें अन्तर नहीं पड़ता है। वस्तु एक है, अन्तर्भाव भी एक है केवल विभिन्नता है नामों की; और लोग इसका दुरुपयोग कर बैठते हैं अपने अवसरकी प्राप्तिके लिए। इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणका भी, राष्ट्रभाषाके संबंधमें निर्णय करनेके पहले विचार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। नामोंकी विभिन्नताके कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है, इसका विवेचन प्रो० ललिता प्रसाद सुकुलके लेख 'बदनाम हिन्दुस्तानी' में भी किया गया है।]

× × × ×

शैली भेदसे ठेठ हिन्दी, शुद्ध हिन्दी और खिचड़ी हिन्दी इत्यादि भाषाके कुछ अटपटे नाम और भी धर लिये गये हैं, जिनका उल्लेख कुछ लेखकोंने किया है, पर इनका अन्तर्भाव इन्हीं पूर्वोक्त नामोंमें निहित हो जाता है। इसलिये इनपर पृथक् विचार करनेकी आवश्यकता नहीं।

संसारमें एक वस्तुके अनेक नाम होते हैं। प्रत्येक नामका कुछ न कुछ कारण भी होता है। फिर भी नामभेदसे वस्तुमें भेद नहीं हो जाता—जुदा-जुदा नाम होने पर भी चीज एक ही रहती है। नाम एक प्रकारकी उपाधि है, जिसे तात्विक दृष्टिसे वेदान्तमें मिथ्या बतलाया है। फिर भी व्यवहार में बहुधा यह नाम

* स्व० गणेशजी के एक भाषण से।

(वीर अर्जुन १४ अक्टूबर १९४५)

भेद ही मतभेद और साम्प्रदाय-भेदका कारण बन जाता है। एक इष्टदेवके भिन्न-भिन्न नामोंको लेकर उपासक लोग आपसमें लड़ने-झगड़ने लगते हैं और नाम भेदके ही कारण अपने उपास्य या इष्टदेवके स्वरूप भेदकी न्यारी कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु नाम-भेदके कारण अनेक रूप धारण कर लेती है। अन्तमें नाम-भेदकी यही मिथ्या भ्रांति-उपासकोंके कलहका कारण बन जाती है।

हमारी हिन्दी भाषा एक थी, और एक है ; पर हिन्दी और उर्दूके नाम-भेदसे उसके दो जुदा जुदा रूप माने जाने लगे। उसके उपासकोंने, अपनी-अपनी रुचि और संस्कृतिके अनुसार, उसकी विभिन्न आकार प्रकारकी दो मूर्तियां बनाकर खड़ी कर दी हैं। भाषा देशको एकताके सूत्रमें बाँधनेका, जातीयताका—कारण होती है, लेकिन दुर्भाग्यसे यहाँ उल्टी बात हो रही है। एक ही भाषा, मिथ्या नाम भेदके कारण भयंकर सम्प्रदाय-भेदका कारण बन रही है। संसारमें और कहीं ऐसा अनोखा उदाहरण ढूंढे भी न मिलेगा। यह जितने आश्चर्यकी बात है, उतनी ही दुर्भाग्य और दुःख की भी। नाम-भेदके कारण भाषामें भेद कैसे पड़ गया—हिन्दी और उर्दूको जुद जुदा करनेवाले कारणों पर ठंडे दिलसे विचार करनेकी और, हो सके तो उन्हें दूर करनेकी बड़ी जरूरत है।

('हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी' एकेडमी १९३२)

श्री सी० एफ० एन्ड्रूज़—

[दीनबंधु श्री सी० एफ० एन्ड्रूज़को भारतीय अन्य समस्याओंके साथ भाषा समस्याने भी आकृष्ट किया था। उन्होंने भी एक भाषाकी आवश्यकताका अनुभव किया। इसके लिये उन्होंने हिन्दी हिन्दुस्तानीको अपनाना उचित समझा। एन्ड्रूज़ साहब अपनी उदार मनोवृत्तिके कारण अरबी, फ़ारसी, तामिल, तेलेगू, बंगला इत्यादि भारतकी सभी भाषाओंके शब्द हिन्दुस्तानीमें देखना चाहते थे। फिर भी एक ही भाषा चाहते थे। यथार्थमें उनका यह सुझाव अत्यन्त सुन्दर है। किन्तु, एक बात खटकती-सी

है, वह यह है कि उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' कह कर एक नवीन भाषाकी कल्पना कर ली। प्रचलित हिन्दी-हिन्दुस्तानीकी ओर सम्भवतः उनका ध्यान ही नहीं गया। हिन्दीका टकसाली-पन बड़ा प्रसिद्ध है। यह उसकी स्वाभाविक विशेषता है कि अन्य भाषाओंकी अपेक्षा वह अत्यन्त शीघ्र और सुगमतासे विदेशी तथा अहिन्दी शब्दोंको अपना लेती है। चार सौ वर्ष पहले लिखी गई 'रामायण' इस कथनकी पुष्टि करती है। किसी बनावटी भाषाकी सृष्टि करना, उसमें अस्वाभाविक रूपसे शब्दोंकी भरमार कर जनता पर लादना आदि प्रयास आगे चलकर व्यर्थ हो जाते हैं। साधारणतः भाषा तो अपनी सुविधानुसार जनताके द्वारा ढलती तथा विभिन्न भाषाओंके शब्दोंको अपनाती हुई भावोंको व्यक्त करती है। यह उसकी स्वाभाविक क्रिया है। इसे जबर्दस्ती किसी नए सांचेमें ढालनेकी चेष्टा न करना ही श्रेयस्कर है।]

आधुनिक भारतकी भाषा-समस्या

जिस जमानेमें पं० जवाहरलाल नेहरू कांग्रेसके प्रेसीडेन्ट थे, 'बेसिक हिन्दी' के नामसे उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी थी। उसीसे प्रेरित होकर सी० एफ० एन्ड्रूज साहबने एक लेखमालाके रूपमें भारतकी भाषा समस्याके ऊपर अपने विचार प्रकट किये थे। वे कहते हैं कि "जवाहरलालजीकी जिस पुस्तिका का मैंने जिक्र किया, उसमें ठीक ही इस बात पर जोर दिया है कि भारतकी भाषा विषयक समस्या इतनी कठिन नहीं है, जैसी प्रायः लोग कल्पना किया करते हैं। यद्यपि भारतवर्ष एक देश नहीं, वरन् महाद्वीप है और आकार-प्रकारमें पश्चिमी युरोप जैसा लम्बा-चौड़ा है ही, लेकिन प्रतिदिनका अनुभव कम आश्चर्यजनक नहीं होता है जब हम देखते हैं कि अन्तप्रान्तीय व्यवहारमें हमें भाषा विषयक कोई विशेष अड़चन नहीं उठानी पड़ती है। योरोपीय लेखकोंका बार-बार चिल्ला-चिल्ला कर यह कहना कि भारतवर्षमें १४० विभिन्न भाषाएँ प्रचलित हैं, केवल अवास्तविक ही नहीं वरन निरर्थक भ्रम पैदा करने वाली बातें हैं। ऐसी बेसर पैरकी बातोंका सीधा तात्पर्य यह सिद्ध करनेका होता है कि भारतवर्ष कभी एक राष्ट्रका रूप धारण नहीं

कर सकता है, लेकिन सत्य इसके विपरीत है। क्योंकि, बोली और भाषामें अन्तर है और यदि ये भेद समझमें आ जांय तो प्रधान भारतीय भाषाओंकी संख्या बहुत थोड़ी है। राष्ट्रभाषा या जनभाषाकी प्रधान अड़चनें कुछ अंशोंमें उत्तर और दक्षिणकी बोलियोंको लेकर और दूसरी उत्तरमें प्रचलित दो प्रबल धार्मिक संस्कृतियोंके कारण है। हिन्दू और मुस्लिम धर्म शताब्दियोंसे चले आ रहे हैं और दोनोंका आधार हिन्दी और उर्दू पर भिन्न भिन्न रूपसे स्थित है। हिन्दू अपने धर्म-ग्रन्थोंको संस्कृतमें लिखा हुआ पाते हैं, इस नाते भाषाके विषयमें सदा उनकी निगाह संस्कृतकी ओर जाती है। बंगला, मराठी, गुजराती इस अर्थमें हिन्दीसे कुछ बहुत भिन्न नहीं हैं। उसी प्रकार मुसल्मान अरबीकी ओर झुकता है, क्योंकि उसके धार्मिक ग्रन्थ सब अरबीमें हैं। इस प्राचीन अरबीके प्रभावसे जिसमें 'कुरान' लिखी गई है, फारसी, पश्तो, और उर्दू खाली नहीं। इसका प्रभाव मुसल्मानोंकी लिपि पर भी पड़ा। पिछले वर्ष जब मैं भारतवर्ष लौटा तो हिन्दी और उर्दूके तुमुल द्वन्द्वको देखकर मुझे कुछ कष्ट हुआ। लेकिन सन्तोष इस बातका है कि देख रहा हूँ अब लोगोंने समझ लिया है कि यह विवाद वास्तविक रूपमें अध्ययनोन्मुख है, इसमें मन-मुटाव और झगड़ेकी गुञ्जायश नहीं। अब चूंकि शांति स्थापित हो चुकी है मैं समझता हूं कि इस आवश्यक प्रश्न पर मैं कुछ महत्व पूर्ण प्रकाश डाल सकूंगा।

जब मैं केम्ब्रिजमें था तब प्रो० ई० जी० ब्राउनने एक व्याख्यानमाला प्रारम्भ की थी, जिसका शीर्षक था फारसीकी 'आर्य-पृष्ठ भूमि'। इसमें उन्होंने सिद्ध कर दिया था कि फ़ारसी इस्लामी भाषा होते हुए भी अपने ढांचेमें अरबीकी अपेक्षा उत्तर भारतकी आर्यभाषासे अधिक मिलती जुलती है, क्योंकि अरबी तो 'सेमेटिक' भाषा है और उसके मूल तत्व भी सेमेटिक हैं। प्राचीन फ़ारसी भाषाके शब्द और उसकी लिपि जो 'अवेस्ता' में प्राप्त है उनमें और संस्कृतमें बहुत अधिक समता है और यह अनिवार्य रूपसे फ़ारस और भारतके बीच एक निकटता उपस्थित कर देती है।

अनेक कारणोंसे हिन्दीको ही भारतकी राष्ट्रभाषाके योग्य समझते हुए उन्होंने कुछ दलीलें दी हैं और अपने ढंगसे यह सिफ़ारिश की है कि केवल उर्दू या फ़ारसी

ही नहीं वरन उत्तर और दक्षिणके अन्य प्रान्तोंमें बोली जानेवाली विविध भाषाओंके प्रचलित शब्द भी हिन्दीमें लेकर चालू कर लिए जांए, ताकि वहांके निवासियोंको हिन्दीके अपनानेमें अधिक सुविधा हो। जगह-जगह पर अंग्रेजीके अनावश्यक प्रचलित होनेकी उन्होंने कड़ी आलोचना की है और उन्हें वह दिन दूर नहीं देख पड़ता जब कि हिन्दुस्तानवाले अपनी इस भाषा विषयक मुहताजी पर शायद लज्जित होंगे और हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें अपनाकर अपनेको धन्य मानेंगे।

(अमृत बजार पत्रिका, अगस्त ३, १९३८)

The Language problem of Modern India.

(*By C. F. Andrews.*)

A pamphlet written some time ago by Pundit Jawaharlal Nehru when he was president of the Congress has stimulated me to write on the language problem of modern India, as it has been brought before me during half a life of residence in that country In the following articles, I propose to carry the subject one step further from my own experience.

The pamphlet I have referred to rightly asserts that the language problem of India is by no means as difficult as people have been led to imagine. India is a continent, as big as the whole of Western Europe, yet it is wonderful to find out by actual experienee how very seldom human intercourse is blocked in any province by the mere obstacle of language. Indeed, all the constant iteration by European writers, abont there being 'over a hundred and forty different languages in India', is not only wrong in

fact, but also very misleading. Indeed, it is often intended to prove that India can never be a Nation. Yet the truth is just the oposite. For the main Indian languages (as contrasted with dialects) are few in number. The one sharp division of common speech is between the northern and the southern group. There is also a further difficulty in the north, with which the present articles will chiefly deal. Two great religious cultures, Hinduism and Islam, stretching back for many centuries, have to be carefully considered side by side, for they carry different language problems with them. The Hindu naturally looks back to his own scriptures, written and recited in Sanskrit. This ancient classical speech stands behind a whole series of Indian languages in the north such as Bengali, Hindi, Maharathi, Gujarati etc. The Muslim, on the other hand, naturally looks back to his own scriptures, which are written and recited in Arabic. This Arabic classical language of the Holy Quoran influenced Persian, Pushta, Urdu, and to a lesser extent the common speech of Sind. It has also influenced their script.

When I returned to India last year. I was somewhat distressed to find that a controversy has arisen as to the influence and expansion of these two northern groups which have Hindi and Urdu as their background. It has been a great relief to me to see that the great unwisdom of quarrelling over such an academic question has now been widely recognised. Tho whole matter may at last be discussed withoht any angry feelings being roused.

I shall take advantage of this calmer atmosphere and seek to stimulate thought on this subject without raising any controversy. While doing so I shall bring my readers face to face with one very important consideration, which will affect our view of Basic Hindusthani in the north of India about which Jawaharlal Nehru's pamphlet has largely dealt.

The point that I am now making was brought before me very forcibly in a course of lectures on Arabic forty years ago at Cambridge by Prof. E. C. Browne, and I have never foregotten it since. It may be stated briefly thus:

Wherever Islam is in great strength, and has remained true to its deepest religious instrinct, it has profoundly modified the language of the country. Urdu is not the only language to-day with Arabic and Persian roots. Swahili, Hausa, Malaya, and many other languages have the very same characteristic. The inherent tendency of Islam is always to bring classical Arabic words into daily use. In this way, the sacred book, the Quoran, becomes appreciated by common people. When they hear it read, they are able to follow its rhythm, at least in some measure.

Let me give one striking example from my own personal experience. In East Africa, the Swahili language is full of Arábic words. Though I did not understand Swahili, it was easy, every now and then, to catch a word that reminded me of Urdu. Once I heard this proverb: Harakat Harakat, hai na barakat. It was quite easy to guess the meaning of that sentence in Swahili, which was: 'There is

no blessing in haste', or to put it into an English form, 'More haste, less speed.'

Again at a time when I was on the West Coast of Africa I used carefully to notice how the Hausa language is full of Arabic. It is spoken by forty million people who are nearly all Muslims. This important African speech has been brought in its vocabulary very near to the language of distant Arabia. The same phenomenon I found also in the Malay Peninsula among the Malay Muslims. With regard to Muslims in China, I do not know much about what has happened, because I have never been there. I doubt, however, whether they have been able to modify the Chinese language.

Arabic shares with Greek the rare quality of Great lucidity of sound. It is liquid and vocal. There are of course exceptions in some of its gutturals which are not pleasing to the ear, but the clear open vowles and liquid consonants have a lovely music about them, like water running over pebbles in some mountain stream.

If, therefore this liquid character is a great and noble quality, as I belive it to be, and if some living touch with Arabic is an inner necessity of Islam, then while our commom speech in India becomes more and more moulded by daily use, and our villages draw much nearer to the towns, it is essential that simple Arabic and Persian words should be welcomed and used in common every day Hindustani. They must be cultivated : they must not be rejected. Only thus can the strong religious instinct so deeply

embedded within Islam, be fully satisfied. Surely, there is nothing artificial in such a demand : rather it is vital.

In this approximation to the needs of Islam, the way forward may perhaps be led best by the Bengali language, which has an amazing faculty of adaptation. It has been often pointed out that the songs of Rabindranath Tagore are sung all over Bengal in all the villages and that this is done in North and East Bengal where Islam predominates as well as in the west of the province where Hinduism prevails. The Poet has created a style of his own, which fearlessly takes common words from common speech. Thus he has already acclimatised many Arabic and Persian words in the Bengali language. There is no reason why a multitude more should not be added.

The millions of Muslims in East and North of Bengal, as they become fully awake to the greatness of their own religious culture, will be certain to require more and more urgently that close touch with Arabic, in their common speech, which makes the recitation of their sacred Quoran and their daily prayers a perpetual inspiration to them. We, who are not Muslims by religion, ought to welcome such a process with all our hearts ; for that is religious tolerance of the best kind. We should never for a moment seek to prevent it, but should rather encourage it.

This introduction of Arabic and Persian words into the daily speech of Bengal, linking it up more closely with the whole Muslim word, has already (as I have shown) gone some way ; but it will have to go much further if the two

diverse aspects of Bengali life, the Hindu and Muslim, are really to become united in their cultural aspects. The Bengali language can thus approach Islam because it is itself actively alive and sensitive to new thought of every kind and is never afraid of taking into its living structure a fresh vocabulary.

Furthermore, there is a pleasing liquid note in Bengali speech which makes the adoption of many more words from Arabic and Persian quite simple. Very much indeed will depend on the enthusiasm and intelligence of the modern Bengali writers. For it is necessary that the Bengali language should find authors and poets of the first magnitude among the very large Muslim community as well as among Hindus. Humayun Kabir, who is one of the most brilliant literary men of the younger generation, may be expected to set the example in this direction.

I am sure that Maharshi, the father of Rabindranath Tagore, loved the Persian poems of Hafiz as much for the beauty of their noble imagery and musical sound, as he did for the deep religious philosophy which they also contained.

II

Another point, which was emphasized by Professor E. G. Browne, in one of a remarkable series of lectures at Cambridge, many years ago, was the Aryan background of Persian speech, which brought it very near as the half-way house to India. He was an Urdu scholar as well as a master of Persian and Arabic and Turkish. Indeed, he

was one of the most amazingly fluent linguists whom I have ever known I have dined with him at Cambridge while he kept the conversation going with three Oriental scholars who were seated near him and did not know a word of English. To one he talked Arabic, to another he talked Persian and to the third he spoke in Turkish.

The Persian language, he would tell us in his lectures, in spite of its being an Islamic language, is in some of its structural forms much more nearly akin to the Aryan speech of North India than to classical Arabic. For Arabic is a Semitic language, and its fundamental structure is Semitic and not Aryan. The encient Persian script and vocabulary, which are found in the Avesta, are very near to Sanskrit and form a bridge between India and Persia.

It follows from all this, that those old Persian phrases and words, which have become wholly associated with Islamic culture and religion, have more chance of obtaining a general recognition in the daily speech of India than purely Arabic words which have never been previously acclimatised in Persian. The very fact that Persian had become so quickly accepted as the language of the Court, under Moghul rule, has even to-day given it a prescriptive right to be cultivated as one of the classics of Modern India. This fact should surely give great satisfaction to Muslims who deeply love India as their mother country.

While I was in Delhi, at St. Stepens' College, I noticed that many Hindus preferred to take Persian as a classical language rather than Sanskrit. When I asked them the

reason for this, I was told that Persian was simpler to learn, it also gave them, they told me, more help towards the understanding of Urdu poetry which they greatly admired. This set me thinking, and the natural conclusion I came to was that Persian is what Professor Browne called it, namely the ideal half-way house between Arabic on the one hand and Sanskrit on the other - at least in North India. If such an opinion is correct, it makes this highly desirable process of accommodation to the needs of Islam less difficult than at first sight appears.

With Hindi speech in India, as commonly used among village people in every day life, there will have to be great flexibility and willingness to adopt Persian words if Urdu and Hindi are not to drift further apart. Dr. Pragavan Das of Benares has admirably shown how simple Persian words may be used as alternatives to those Sanskrit forms which bear the same meaning, and can be made adaptable to every-day conversation. To take one very simple example the word Khuda is known in the villages of Northern India side by side with the word Bhagwan.

Pundit Jawaharlal Nehru has written fully in his pamphlet concerning 'Basic Hindustani' what he has said is good, practical, and full of common sense. It ought not to be at all difficult to spread a working knowledge of such a simple 'lingua franca' over the villages of India even in the South. Languages like Tamil in the South, which are different in vocabulary and structure, might borrow from this Hindustani vocabulary and thus make

it still easier for those who are not born in the North to have communication with those who live in the United Provinces and the Punjab.

Personally I would go much further and urge that many simple Southern words should also have their place in it side by side with the vocabulary of the North and become acclimatised in the Northern languages. A true 'lingua franca' for the whole of India should neither be called Hindi nor Urdu, nor should it be confined to Northern Indian words. It might well be called 'Hindustani', but it should be as flexible as possible and should find its proper home rather in daily speech than in literary productions. It should be, that is to say, a language of daily convenience and should pick up words from the Northern provinces only.

Here come in at once the to points I have been trying to drive home. Let me repeat them in order to be absolutely clear :—

(1) It should pick up words, in common speech, from the South as well as from the North ; from the Dravidian stock as well as the sanskrit and Arabic roots. (2) It must be neutral, as far as Hinduism and Islam are concerned, and should from its own vocabulary both from Hindu and Islamic cultures. It must not become lopsided.

Thus a true 'lingua franca' for India should be basic in three directions. It should have, in its vocabulary, words from Persian as well as from Sanskrit stocks and should add gradually (as intercourse between North and

South becomes much more frequent) common Dravidian words also. The latter process will take much longer than the former, but should be borne in mind all the while. It will come about much more quickly when the use of English becomes less necessary than it is to-day both in the North and South. When India has her own rulers they are not likely to continue to speak to one another in English.

Since I had the privilege of learning Urdu first of all in Delhi, under a Munshi, my own instinct goes quite naturally towards the Persian words which I learnt at that time when I began my studies. Perhaps for that very reason my anxiety is great that these words should be fully included in this Basic Hindustani, which might become the conversational, working language for every part of India.

But now to-day I would go much further still, as I have pointed out, and seek to include also words that are commonly used in daily speech in the languages of the South. Since I have been living in the South I have come to recognize this important need. There should be here again, as time goes on, a process of 'give and take'. The Southern languages have already accepted, within their own framework, a large vocabulary of Sanskrit words, which bring them fairly near to the Sanskrit rooted languages of the North; but there has been hitherto no reciprocity. Surely there is something wrong here which needs to be altered. There should not any longer remain, in the North, that

complete neglect of these Southern languages which unfortunately prevails to-day. They rightly complain when a Northern language is forced upon them without any reciprocity.

The question of script will be dealt with in the last of these articles; but here I would simply say that difficulties of script will loom much less large, if only there is a determination on both sides to assimilate each other's cultures.

To sum up the points I have made, I do not think that a working language for the whole of India is at all impossible. But it should not contain merely Sanskrit and Persian words: it should appropriate Dravidian words also. When the present exotic English culture has ceased to be the medium of communication between the South and the North, there will be much more readiness for those who travel southward to obtain a working knowledge of Tamil and Telugu, just as there is now a readiness for those who travel northward to get a working knowledge of Hindi. When broadcasting also becomes much more popular and is used as a daily necessity instead of as an expensive luxury, and when the cinema pictures become 'talkies' (using speech as well as sight), there will be a closer drawing together of the different languages of North and South. We are only at the very beginning of a great age of language simplification and union.

To-day we must not merely judge from the practice of the past. We have to think of the future. For, we have

suddenly been given tremendous powers of moulding and fashioning common speech which are far more potent than we ever had before. Broadcasting, the 'talkies', the public press, universal primary education, audiences of hundreds of thousands of people with loud speakers,—all these modern contrivances are levelling and unifying large areas of human speech and making a common intercourse more possible. Mere dialects will soon be only retained as curiosities in a museum. A common everyday language for India has become an absolute necessity. We cannot get on without it; I have very little doubt that a genuine, living 'Hindustani', (if that neutral word is finally chosen to describe it) containing a certain number of very common basic words and a minimum of grammar, will soon become an accomplished fact in India apart from all learned discussions about it. If the South takes a deep and intelligent interest in this process, during the present fluid and formative period, before this common speech of India becomes fixed in its own natural mould, it will certainly be able to add its own words to the general stoock. Mussalmans also can have their own interest in it, not by way of any special regulations, but by freely mingling with those around them, as they did in those earlier days when Urdu took its present shape quite naturally as a current language among the camp followers of the Great Moghuls. The Congress, as it becomes more and more a unifying political factor and touches still more intimately the masses of the common people in the villages, can do much to help forward this process of unification.

Sannyasis and fakirs, in former days, used to travel all over India and managed somehow or other to make themselves understood, exchanging the small coin of common speech as they went about from place to place, wandering all over the country. Huge melas such as the Kumbh Mela, and also such pilgrimages as those to Jagganath Puri, Rameswaram, or Hardwar, encouraged a daily intercourse among the masses. All these things were an invaluable asset in forming the spiritual unity of India in the past. We have to find out to-day the modern equivalents of those old processes which may take their place. The vast congregation of villagers at Haripura reveals to us in one direction at least how modern life is shaping itself anew in India under these new conditions. The news has reached us through the press that Lord Samuel, the Liberal leader, who was present during the Congress, expressed himself immensely struc both by the remarkable orderliness and also by the unanimity of the whole proceedings. Each year, the coming together from every province on India of such vast numbers of intelligent people must surely bring about a realisation of the spiritual unity of the whole of India and also make abundantly clear the need of common intercourse through a common language. Such all-India political movements mould, not only the social structure, but also the speech of the people.

III

Language, in this work-a-day world of ours, is a very practical affair. It is changing every day in some minute-way by a living process of its own. It laughs at all our

artificial planning, at our protracted arguments, and our academic discussions. It cuts its own channels, along which it is determined to flow. Like our big rivers in India, try as we may, we cannnot force the different languages of India into channels of our own. Even the hint of this, as the recent alarm about compulsory Hindi in South India has clearly shown us, is enough to raise a storm.

Nevertheless, we can do much to widen or deepen the channel whenever such an engineering process is needed. We can also, by our marvellously ingenious modern methods, bring the customary village speech and the brand new town speech close together.

In our own generation, with the radio and cinema rapidly becoming an even more pervasive influence than the daily press, a widening of the area of daily speech, as it is commonly used by multitudes of people, is being rendered more feasible. Dialects are very rapidly dying out. Only the extensively used popular languages covering wide areas have any chance now on gaining a constant hearing. This forward movement, which has just begun has a long future before it. Merely to give a single example. Madras will want to 'listen in' to Delhi as well as to hear her own local news. Very probably, the daily Hindustani broadcast from the Capital, at New Delhi, if only it can be made sufficiently plain and simple and of general interest, will become the favourite item on the programme for the whole of India to which in the course of time millions will 'listen in'.

In the same way the cinema, where human speech is now regularly used along with the moving picture, at what are called 'talkies', will be a wonderful educator and leveller of language differences in the near future. For one common language, which is used over a very large area by millions of people, becomes a necessity for the success of any expensive film production. Unless the picture can be multiplied and used over a large area, it will not repay the heavy initial cost. The film producer gets no profit.

It may, at this point in my argument, be well to explain by a singularly good example the process whereby two currents of religious thought and culture meet and react upon each other. For the ultimate problem in the North of India, with which we have to deal, is the reaction on human speech of Hinduism and Islam. How is this likely to work out without any clash of cultures or increase of communal bitterness?

Let me suggest a solution by an analogy in another sphere, where the same problem was successfully tackled and fruitful results were obtained.

Sir Walter Scott's 'Ivanhoe' used to be my favourite novel when I was a boy. Even to-day I can recall quite clearly the characters of Credic the Saxon, Rowena, Brain de Bois Gullbert, Isac the Jew, Rebecca and others, though I am ashamed to say I have not turned back to read the book again for very many years. One of the main themes in the novel is the clash of Saxon and Norman cultures.

Out of that conflict and the subsequent intercourse of everyday speech, came at last the true English language

which contains all the old Saxon words together with an enrichment of Norman-French. This double vocabulary has made the coming of new words by the great Elizabethan English writers remarkably easy and appropriate. For the Norman-French had the old classical Latin as its foundation, just as Hindi goes back to Sanskrit, and Urdu to Persian.

The puritan mind when tackling English composition has often tried to exclude as far as possible Norman-French and even the Latin words, in order to return to pure Anglo-Saxon. But that has been merely an academic and pedantic effort, just as it would be foolish and pedantic for Bengali or Marathi or Hindi to try to exclude Persian words. Language does not flow on through the centuries of human history in that way. How wasteful it would have been, if the two great currents of the Jumna and the Ganges, having met at Allahabad had separated afterwards into all kinds of divergent channels. Life, in its organic evolution, works differently.

To return to the English language, it would be absurd to-day to strain out the Norman-French or Latin words, while trying to get down to a simple basic speech of a thousand or more words which can be learnt to express the ordinary needs of daily life. That would not be 'Basic English' at all ; for we use to-day words of Saxon and Latin origin quite indifferently in everyday conversation.

The only scientific way would be to take the ordinary words from 'either' source which have already proved by long experience to have got a survivial value. We have

then to employ these thoroughly well-grounded words for 'Basic English'. This has been the natural process which has been adopted by all great English writers. To give a very simple illustration, Shakespeare is quite catholic in his choice of English words. He used Saxon and Norman and Latin words alike. Here, for instance, is an almost pure Saxon line from Macbeth :

'Methought I heard a voice cry " Sleep no more".

While this is Saxon, 'it would be easy to choose—equally random—another well-known passage :

"The lunatic, the lover, and the poet,
Are of imagination all compact."

Here the non-Saxon element prevails. Almost every word comes from the Latin.

Milton's 'organ music' of sound is nearly all derived from Latin words, many of which he has introduced into the English language for the first time. But who would say that Milton had debased the English language because he loved to cultivate the sonorous 'Latin' part of it ?

Lately, I have been reading with great delight and and profit Robert Bridges' last poem, called "The Testament of Beauty.' In it he tries to revive some of the old Saxon words : yet, at the same time, he is quite fearless in his use of the longer and more difficult Latin words. In this way, he is a 'modern' and avoids being a pedant.

To come back to the main structure of the English language. The important thing to notice is that where two words, one Saxon and one Latin exist side 'in the same

English speech', they very gradually take on different meanings. Thus they enrich the historical content of the whole literature by conveying two ideas instead of one.

Two very simple illustration may be given. The Saxon word 'love' has drifted apart in its meaning from the Latin word 'charity'. Again the Saxon word 'horsemanship' has got a very distinct difference of meaning from the Norman French word 'chivalry', which come from the French 'cheval', a horse. 'Chivalry' may now be used as equivalent to 'generosity' but 'horsemanship' could never bear that meaning !

Turning back to Hindi and Urdu—if 'both' vacabularies can become thoroughly acclimatised all over the north of India, we shall find subtle shades of meaning very gradually appearing. To take the first illustration that comes to my own mind, the three wards, pawitr, pak and sada are lilky very gradually to drift apart. In the end they may carry distinct shades of meaning.

The richness of any language can always be judged by its synonyms. The true literary artist mixes his colours in words, just as the painter uses various paints in painting his picture. We must be eager to know and to utilise each other's cultures, literatures and languages. We must not stand apart and isolate ourselves. Language-amalgamation is the way of life. The riverse process, which the fanatical nationalist, or the pedantic language-purist, desires to employ, is the way of death.

In a country, like India, where our supreme wish is to become more closely united, we ought to be gloriously 'Catholic' in our language tastes. There is no room for the sectarian or communally minded person. Just as Moghul architecture blended different styles in order to attain its finally perfect beauty, so must language do the same.

Furthermore, there is no reason why this blending of language and culture and art and music should be confined merely to Muslim and Hindu assimilation in the North. There has been hitherto a shameful neglect of the South and this must speedily be brought to an end. There will be needed, in the near future, a blending of the northern languages with the Tamil, Telugu, and Malayalam of the South. Modern India ought once more to recover that earlier fruitful contact between South and North, which took place many centuries ago. For ancient history shows us how the Sanskrit learning first passed south ward from the Aryan North. But later on it was given back to the North in fullest measure, enriched in most vital ways, by the great teachers of the South. Sri Ramananda, from the South, was one of the earliest promoters of Hindi literature in the North. In all Indian history, it would be hard to find a greater or nobler figure.

We need badly to-day to become less insular and provincial. This has been rendered possible, because the whole unifying process has been expedited owing to the conquest of land and air by King Speed. That Monarch now rules over all our ways and invites us to come closer to one an other. Just for the present, it is true, the

facility of using English helps to bridge over the gap in human intercourse, when South India goes North, and North India goes South. But that is not going to last for ever; for it only affects the small circle at the top. What is needed is a common medium of intercourse between the masses (Amrita Bazar Patrika, Aug. 3, 1938.)

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—

[कविकुल चूड़ामणि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर देश और विदेशकी कितनी ही भाषाएँ जानते थे, अनेक साहित्योंसे भी उनका परिचय था, अपनी मातृभाषा बंगलाकी जो उन्होंने सेवा की वह तो अमर अक्षरोंमें लिखी जानेवाली चीज़ है। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी देश और राष्ट्रकी सेवा उनके लिए पहले थी, उसके बाद काव्य और साहित्य सेवा। इसी भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने बिना किसी संकोच, एक स्वरसे राष्ट्रभाषाके लिए हिन्दीका समर्थन किया था। उनके जैसे क्रियाशील व्यक्ति केवल राय देकर ही नहीं रह जाते, और न उपदेश देकर सन्तुष्ट होते हैं। अपने गुजरात-भ्रमणमें रवीन्द्रनाथ हिन्दी ही में भाषण दिया करते थे, इसका उल्लेख डा० सुनीतिकुमार चैटर्जीने कराँची साहित्य सम्मेलनके अधिवेशन में दिए गए अपने भाषणमें किया है।]

गुरुदेव (श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर) से एकबार पूछा गया कि राष्ट्रभाषाके विषयमें उनकी क्या राय है? उन्होंने कहा कि बहुत वर्षोंसे तो अंगरेजी ही हमारी राष्ट्रभाषा बनी हुई है, जो साधारण जनताकी समझके बिलकुल बाहर है। अगर हम हर भारतीयके नैसर्गिक अधिकारोंके सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं, तो हमें उस भाषाको (राष्ट्रभाषाके रूपमें) स्वीकार करना चाहिए, जो देशके सबसे बड़े हिस्सेमें बोली जाती हो और जिसके स्वीकार करनेकी सिफ़ारिश महात्माजी

ने हम लोगोंसे की है, अर्थात् हिन्दी। और, इसी विचारसे हमें एक भाषाकी जरूरत है भी।

(कलकत्ता हिन्दी क्लब-बुलेटिन, सितम्बर १९३८)

Rabindra Nath Tagore on Hindi.

On being asked as to the Lingua Franca of India, Poet Rabindra Nath has expressed that for many years our Lingua Franca has been English, but beyond the comprehension of the mass of the people. If we are to acknowledge the elemental right of every Indian, we should accept the language spoken over the largest area and which Mahatmaji has asked us to accept i.e. Hindi. There is necessity for one language for this purpose.

(Calcutta Hindi Club Bulletin, September, 1938)

श्री सुभाषचन्द्र बोस—

[नीचे १९३८ में भारतके राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोसका वक्तव्य दिया गया है। उस समय भारत स्वाधीनता प्राप्त करनेके संघर्षमें संलग्न था। राष्ट्रपतिने अनुभव किया कि राष्ट्रका, स्वाधीनता प्राप्तिका यह युद्ध किसी एक वाणीके द्वारा ही संचालित किया जा सकता है। अतः उन्होंने हिन्दीको अन्तप्रान्तीय अर्थात् राष्ट्रीय वाणीके रूपमें स्वीकार किया और उसके विरोधमें किए गए आन्दोलनोंकी तीव्र निन्दा करते हुए उन्हें देशकी प्रगतिमें बाधक ठहराया। भारत एकताके सूत्रमें केवल इसी भाषाके द्वारा बंधा रह सकता है, यह उनका विश्वास था।]

हिन्दी ट्रेनिंग इन्सटीट्यूट वर्धाके दूसरे वर्षकी सभामें श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस ने कहा कि उन्होंने सर्वदा ही यह अनुभव किया है कि भारतवर्षमें एक राष्ट्रभाषाका होना अत्यावश्यक है। जो इस बातको नहीं मानते हैं, उन्हें एक बार विदेशोंकी यात्रा कर लेनी चाहिए। पिछले वर्षकी एक घटनाका उल्लेख करते हुए

उन्होंने कहा कि जब वे वीयनामें अपने एक युरोपियन मित्रके यहां अन्य कई भारतीयोंके साथ एक भोजमें सम्मिलित हुए, तो वहां वे आपसमें अंग्रेजीमें ही बातचीत करने लगे। उनके युरोपियन मित्रको इसपर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा कि वे अंग्रेजीमें क्यों बातचीत कर रहे हैं ? इस प्रश्नको सुनकर उन लोगोंको बड़ी ही लज्जाका अनुभव हुआ। श्रीयुत बोससे इस भ्रमका कि, हिन्दुस्तानीके कारण प्रांतीय भाषाओंकी प्रगतिमें बाधा पड़ेगी (मद्रासमें उन दिनों यह भ्रम बहुत ही व्यापक हो रहा था), निराकरण करते हुए कहा कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी तो केवल अन्तर्प्रन्तीय व्यवहारके लिये आवश्यक है। अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाएँ तो अपने-अपने प्रांतोंमें प्रमुख रहेंगी ही।

इसी प्रकारका भ्रम बंगालमें भी फैला हुआ है। कुछ लोगोंका विचार है कि बंगला राष्ट्रभाषा हो, कारण इसमें उच्च कोटिका साहित्य है। हिन्दीमें उच्च साहित्य है अथवा नहीं यह विवादग्रस्त विषय उठाना व्यर्थ है। हिन्दी व्यापक रूपसे भारतमें बोली जाती है, और इसमें संग्रहणशक्ति है तथा यह सरल है। 'संस्कृतनिष्ठ' अथवा 'फारसीयुक्त' हिन्दीका व्यवहार नहीं चाहिए, वरन्, उत्तर भारतमें सर्वसाधारणमें जो बोली, बोली जाती है, वही हमारा स्तर रहेगा।

('एडवान्स'—जुलाई १९३८)

The second session of the Hindi Training Institute, Wardha which is being run under the auspices of the All-India Hindi Prachar Samiti, was inaugurated by Sreejukt Subhas Chandra Bose on Monday last. Dr. Rajendra Prasad, President of the Samiti presided over the function.

In welcoming the Congress President Dr. Rajendra Prasad traced the history of the Hindi movement since 1918, and said that the Training Institute was started in Wardha last year with a view to training efficient and

national-spirited youngmen in the work of Hindi Prachar in the non-Hindi speaking provinces.

Mr. Shriman Narayan Agarwal, the Honorary Secretary of the All India Hindi Prachar Samiti, presented his report on the Training Institute, and introduced the students to the Congress President.

In the course of his address to the students Sreejukt Subhas Chandra Bose said that he had always strongly felt the urgent need of having a National language for India. Those who were not yet convinced of such a necessity, he said, need once go to the foreign countries. Last year when the speaker was in Vienna, some of the Indians including the speaker himself were invited to dinner by a European friend. There, they began to speak in English among themselves. The European friend was rather surprised, and asked them why they conversed in English and they had to hang their heads in shame.

"Unfortunately," Sjt, Bose continued "there is a misunderstanding prevailing in some parts of our country about the spread of Hindustani as the Lingua Indica. For example, the public in the Mardras Presidency is opposed to the introduction of Hindustani in the Secondary schools on the ground that Hindustani will oust or crush the Provincial languages. This is a grave misunderstanding Hindustani is to be introduced only in place of English, as the medium of inter-provincial intercourse. It is never meant to throttle the provincial languages and, thus, establish a linguistic domination over them. In the pro-

vinces, the Provincial language will surely have the first place, and Hindi or Hindustani can occupy only the second place, I hope, therefore that the public in the South, will try to understand the true spirit behind the Hindi movement, and cease the ill-advised agitation.

MISUNDERSTANDING

"Similar misunderstanding prevails in Bengal as well. Some persons contend that Bengali should be the Lingua Indica because it possesses a richer literature, But, we have not to bother about literature. Hindi is being spread not because its literature is rich (it is useless to enter into any controversy on their point) but because it is most widely spoken and understood, and as a language, is simple and flexible.

"I hope the Hindi Pracharaks, after getting their training in this Institute, will spread the National Language in the right spirit, and remove the various unfortunate misconceptions prevailing in the country.

"We must understand that the National language should be neither over-Sanskritized not over Persianized. It must have a simple and natural style. We should not try to manufacture a mixed language, which will be neither Hindi nor Urdu, nor Hindustani. The language commonly spoken in the North, should be our standard."

Acharya Kaka Kalelkar, Vice-President of the Hindi Prachar Samiti. in the course of a short speech, traced the history of Hindi prachar from Lala Lajpat Rai to Mahatma Gandhi, and thanked the Congress President for

taking keen interest in the movement. He also read out the following message from Mahatma Gandhi:

"I am glad to know that the Hindi Training Institute is entering its second year, and the Congress President is blessing it. The students have a difficult task before them. Hindi or Hindustani has to occupy a position which English is trying to but cannot occupy. The success depends on the efficiency, self-secrifice and self-control of the students. Blessings from Bapu."- United Press. (Advance, 1938 July 30th).

"कांग्रेस ही भारतकी राष्ट्रीय संस्थाओंमें प्रतिनिधि संस्था है। इसके प्रेसीडेंटकी आवाज़ ही राष्ट्रकी आवाज है। उसकी घोषणा है कि हिन्दीके विरोधका कोई भी आन्दोलन राष्ट्रकी प्रगतिमें बाधक है। हिन्दी, जब कि राष्ट्रीय एकताकी ओर अग्रसर होनेमें एक क़दम है, उसका विरोध करना अकारण है। यह अन्तर्प्रान्तीय कार्यवाहीमें एक माध्यम स्वरूप रहेगी, और भारतीय एकताको एक सूत्रमें बांध रखनेमें सहायक होगी। इस प्रकार यह हमारी स्वतंत्रताकी ओर अग्रसर होनेमें पथचिह्न है। कांग्रेसके मुख्य रचनात्मक कार्यक्रमोंमेंसे हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनाना एक कार्य है। मुझे हार्दिक आशा है कि वे, जो इसका विरोध कर रहे हैं, अपनी सरकारके रचनात्मक एवं प्रगतिशील कार्यक्रमके उद्देश्यको समझकर इन आन्दोलनोंको रोकेंगे।"

"In as much as Congress is the one thoroughly representative national organisation of India, it is needless to stress that the speech of its President is the speech of the Nation. And he declares that any movement against Hindi tends to retard our national advance. There is no reason why the movement of Hindi should be opposed. Considering it will be a step forwards national unity. The importance of the study of Hindustani can not be

over estimated. It will serve as the medium of inter-provincial communication, as the lingua franca of India, and will thus promote our national unity. It will therefore, be **another milestone in our march to Freedom.** Moreover it is perhaps not sufficiently understood that the adoption of Hindustani as the Lingua Franca of India is one of the important items in the constructive programme of the Congress. I earnestly hope that those who are opposing the introduction of Hindustani will realise the significance of progressive measure of their government and desist from the agitation they have been carrying on. The example set by the Madras Government will then be followed with advantage to the nation in other provinces too. The agitation against Hindi is detrimental to the highest interests of the Indian Nation".

(Calcutta Hindi Club. Bulletin.
September. 1938)

श्री श्रीनिवास शास्त्री—

[माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्रीजीके निम्नलिखित उद्धरणसे यह प्रकट हो जाता है कि वे भी हिन्दीको ही राष्ट्रभाषाके योग्य समझते थे। केवलमात्र इसी वाणीके माध्यमसे ही राष्ट्रकी सेवा संभव है, ऐसा उनका विश्वास था। राष्ट्रके कल्याणके लिये भी वे समझते थे कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो। और, जिन ज़ोरदार शब्दोंमें उन्होंने अपने मत ही नहीं, वरन् विश्वासका समर्थन किया, वे उन्हींके अनुरूप थे।]

"यद्यपि मैं गणतन्त्रका सहायक और समर्थक हूं, तथापि प्रायः सोचा करता हूँ कि किसी तरहसे यदि मेरे पास शक्ति होती तो कुछ क्षणोंके लिये मैं सारे भारतका डिक्टेटर बन जाता। यदि सौभाग्यसे उस पदको प्राप्त कर सकता तो कितनी ही आदर्श योजनाएँ कार्यरूपमें परिणत कर डालता। उन सबोंमें भी सबसे पहला और महत्वपूर्ण मेरा फ़रमान तो सारे देश भरके लिए यह होता कि मैं अपनी समस्त शक्ति अधिकारके साथ हुक्म देता कि सारे स्कूलों और कालेजोंमें गवर्नमेन्टके सारे दफ्तरोंमें और कचहरियोंमें हिन्दुस्तानीको ही कार्यवाहीका माध्यम माना जाय। आप तो जानते हैं कि सभी देशोंमें और विशेषकर हमारे यहां किसी सम्राट या शासककी अबाध आज्ञा बड़ी प्रबल होती है। यह दुःखकी ही बात है कि इन सम्राटोंने अपनी अमितशक्तिका व्यय सदा मानव कल्याणके लिए ही नहीं किया। किन्तु, मेरा विचार तो स्पष्ट ही था कि यदि लोग मेरी सत्ता स्वीकार करते तो मैं अपनी शक्तिका उपयोग उनके हितके लिए ही करता हूँ और जहांतक मैं समझता हूँ इससे अधिक मैं उनका कोई हित नहीं कर सकता था, कि मैं, न केवल उन्हें आज्ञा ही दूँ वरन आवश्यकता पड़ने पर शायद बाध्य भी करूँ कि वे एक भाषा और एक लिपिको स्वीकार करें।"

(दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा १९३३-३४ के दीक्षान्त भाषणसे)

"I have often wished, friend and champion of Democracy though I am, that it were in my power for a brief spell of time to act as Dictator of all India. I had a great many schemes to put through, if I had the good fortune to be elevated to that position. But among them all, a prominent place was assigned to the edict to go all over the country and to enforce with every authority that I could command, that **in all Schools and Colleges, in all the offices of Government and all its courts of justice, Hindustani should be recognised medium of communication.** You know that in all countries and

especially in this country, the absolute word of an Emperor. King, whose power is unchecked, goes very far. It is a pity that those kings and emperors used their unbridled power not always for the good of the people. I had however an excellent idea of using my power, so long as people chose to grant it to one, for their good. And, I could not further their good, it appeared to me, better than by commanding them and coercing them if necessary, to adopt a common language and a common script" (Right Honourable Shrinivas Shastri. Adress delivered at the convocation of Dakshin Bharat Hindi Prachar Sabha 1933-34).

महात्मा गांधी—

[पूज्य महात्मा गांधीका हिन्दी राष्ट्रभाषा सम्बन्धी मत परिवर्तन सर्व विदित है। नीचे दिए गए उनके भाषण तथा समय-समय पर प्रकट किए गए विचार स्पष्ट कर देते हैं कि अधिक दिन नहीं हुए, जब कि बापू हिन्दी तथा हिन्दुस्तानीमें कोई भेद नहीं मानते थे। हिन्दीको राष्ट्रभाषा कह कर घोषित किया था। स्वयं उन्होंने उसके प्रचारमें जितनी तत्परता दिखाई थी, संभवत: उतनी अन्यत्र नहीं देख पड़ती। किन्तु हठात् समझौतेकी नीतिने उन्हें अन्य दिशाकी ओर आकर्षित किया। उन्होंने हिन्दी को छोड़ कर 'हिन्दुस्तानी' नाम राष्ट्रभाषाके लिये चुना। यहां तक तो बुरा न था। किन्तु, समझौतेकी भावनासे प्रेरित होकर भाषाका सांस्कृतिक मूल्य भूल जाना, अस्वाभाविक रूपसे अप्रचलित शब्दोंका भरना, एक नई भाषा और उसके लिये नए कोष (हरिजन सेवकमें नियमित रूपसे कोषके कुछ अंश प्रकाशित होते रहते हैं) के गढ़नेकी चेष्टा करना, जिस 'हिन्दी

प्रचार सभा' के द्वारा एक दीर्घकाल तक राष्ट्रभाषाका प्रचार होता रहा, उसका नाम भी अपने मत परिवर्तनके साथ 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कर देना, आदि 'प्रयोग' राष्ट्रशक्तिके अपव्यय ही कहे जाएँगे ।]

× × × ×

आप पूछ सकते हैं कि केवल दक्षिण ही में हिन्दी प्रचारके लिए क्यों ? मेरा उत्तर यह है कि दक्षिण भारत कोई छोटा मुल्क नहीं है । वह तो एक महाद्वीप-सा है । वहां चार प्रान्त और चार भाषाएँ हैं—तामिल, तेलुगु, मलयाली और कानडी । आबादी करीब सवा सात करोड़ है । इतने लोगोंमें यदि हम हिन्दी प्रचारकी नींव मजबूत कर सकें तो अन्य प्रान्तोंमें बहुत ही सुभीता हो जायगा ।

यद्यपि मैं इन भाषाओंको संस्कृतकी पुत्रियां मानता हूँ, तो भी ये हिन्दी, उड़िया, बंगला, आसामी, पंजाबी, सिन्धी, मराठी, गुजरातीसे भिन्न हैं । इनका व्याकरण हिन्दीसे बिलकुल भिन्न है । इनको संस्कृतकी पुत्रियाँ कहनेसे मेरा अभिप्राय इतना ही है कि इन सबमें संस्कृत शब्द काफ़ी हैं और जब संकट आ पड़ता है तब ये संस्कृत माताको पुकारती हैं और उसके नये शब्द रूपी दूध पीती हैं । प्राचीन कालमें भले ही ये स्वतंत्र भाषाएँ रही हों ; पर अब तो ये संस्कृतसे शब्द लेकर अपना गौरव बढ़ा रही हैं । इसके अतिरिक्त और भी तो कई कारण इनको संस्कृतकी पुत्रियाँ कहनेके हैं, पर उन्हें इस समय जाने दीजिये । × ×

× × क्या इतनी प्रगति सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती ? क्या ऐसे वृक्षको हमें और भी न बढ़ाना चाहिये ? आज जब कि मुझे यह स्थान दिया गया है, तब भी मैं इस संस्थाको चिरस्थायी बनानेका यत्न न करूँ तो मेरे जैसा मूर्ख कौन माना जा सकता है ? मुझको यदि दुबारा यह पद लेनेका कुछ भी अधिकार है तो सिर्फ मेरे दक्षिण हिन्दी प्रचारके कार्यके कारण ही ! भले ही उस कार्यमें मैंने कोई पद लेकर काम न किया हो ; पर हर हालतमें उस वृक्षको सींचनेमें तो मैंने काफ़ी हिस्सा लिया ही है । × ×

× × पर तब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अन्य प्रांतोंकी बात छोड़ दी जाय ? क्या अन्य प्रांतोंमें हिन्दी प्रचार की आवश्यकता नहीं है ? अवश्य है। मुझे दक्षिणका पक्षपात नहीं है, और न अन्य प्रांतोंसे द्वेष। मैंने अन्य प्रांतोंके लिये भी काफी प्रयत्न किया है ; लेकिन कार्यकर्त्ताओंके आभावके कारण वहाँ इतनी क्या थोड़ी भी सफलता न मिल सकी। × ×

×× मेरी रायमें अन्य प्रान्तोंमें भी हिंदी प्रचार, सम्मेलनका मुख्य कार्य बनाना चाहिये। यदि हिन्दीको राष्ट्र-भाषा बनाना है तो प्रचार कार्य सर्वव्यापी और सुसंगठित ही होना चाहिये। हमारे यहां शिक्षकोंका अभाव है। सम्मेलनके केन्द्र में हिन्दी शिक्षकोंके लिये एक विद्यालय होना चाहिये, जिसमें एक ओर तो हिन्दी प्रांतवासी शिक्षक तैयार किये जायँ और उनको जिस प्रान्तके लिये वे तैयार होना चाहें, उस प्रान्तकी भाषा सिखायी जाय और दूसरी ओर अन्य प्रान्तोंके भी छात्रोंको भरती करके उन्हें हिन्दी शिक्षा दी जाय। ××

×× कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हम प्रान्तीय भाषाओंको नष्ट करके हिन्दी को सारे भारतवर्षकी एकमात्र भाषा बनाना चाहते हैं। इस गलतफ़हमीसे भ्रान्त होकर वे हमारे प्रचारका विरोध भी करते हैं। मेरा ख्याल है कि हमें इस बारेमें अपनी नीति स्पष्ट करके ऐसी गलतफ़हमियाँ दूर करनी चाहिये। मैं हमेशासे यह मानता रहा हूँ कि हम किसी हालतमें भी प्रान्तीय भाषाओंको मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तोंके पारस्परिक सम्बन्धके लिये हम हिन्दी भाषा सीखें। ऐसा कहनेसे हिन्दीके प्रति हमारा कोई पक्षपात नहीं प्रकट होता। 'हिन्दीको हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होनेके लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है, जिसे अधिक-संख्यक लोग जानते-बोलते हों और जो सीखनेमें सुगम हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही है, यह बात यह सम्मेलन सन् १९१० से बता रहा है और इसका कोई वजन देने लायक विरोध आज तक सुननेमें नहीं आया है। अन्य प्रान्तोंने भी इस बातको स्वीकार कर ही लिया है।

काका साहबने कुछ लोगोंमें दूसरी गलतफहमी यह देखी कि वे समझते हैं कि

हम हिन्दीको अंग्रेजी भाषाका स्थान देना चाहते हैं। कुछ तो यहां तक समझते हैं कि अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, और बन भी गई है।

यदि हिन्दी अंग्रेजीका स्थान ले तो कमसे कम मुझे तो अच्छा ही लगेगा। लेकिन अंग्रेजी भाषाके महत्वको हम अच्छी तरह जानते हैं। आधुनिक ज्ञानकी प्राप्ति, आधुनिक साहित्यके अध्ययन, सारे जगत्के परिचय, अर्थ प्राप्ति, राज्याधिकारियोंके साथ सम्पर्क रखने और ऐसे ही अन्य कार्योंके लिये अंग्रेजी ज्ञानकी हमें आवश्यकता है। इच्छा न रखते हुए भी हमको अंग्रेजी पढ़नी होगी। यही हो भी रहा है। अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

लेकिन अंग्रेजी राष्ट्रभाषा कभी नहीं बन सकती। आज इसका साम्राज्य सा जरूर दिखाई देता है। इससे बचनेके लिये काफ़ी प्रयत्न करते हुए भी हमारे राष्ट्रीय कार्योंमें अंग्रेजीने बहुत बड़ा स्थान ले रक्खा है। लेकिन इससे हमें इस भ्रममें कभी न पड़ना चाहिये कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा बन रही है। इसकी परीक्षा प्रत्येक प्रान्तमें हम आसानीसे कर सकते हैं। बंगाल तथा दक्षिण भारतको ही लीजिये, जहां कि अंग्रेजीका प्रभाव सबसे अधिक है। वहां यदि जनताकी मार्फत हम कुछ भी काम करना चाहते हैं तो वह आज हिन्दी द्वारा भले ही न कर सकें। पर अंग्रेजी द्वारा तो नहीं ही कर सकते। हिन्दीके दो-चार शब्दोंसे हम अपना भाव कुछ तो प्रकट कर ही देंगे। पर अंग्रेजीसे तो इतना भी नहीं कर सकते। हां, यह अवश्य माना जा सकता है कि अब तक हमारे यहां एक भी राष्ट्रभाषा नहीं बन पाई है। अंग्रेजी राज-भाषा है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। अंग्रेजीका इससे आगे बढ़ना मैं असम्भव समझता हूँ, चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय। हिन्दुस्तानको अगर सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो—चाहे कोई माने या न माने राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही बन सकती है, क्योंकि जो स्थान हिन्दीको प्राप्त है वह किसी दूसरी भाषाको कभी नहीं मिल सकता। हिन्दू मुसलमान दोनोंको मिला कर, करीब बाईस करोड़ मनुष्योंकी भाषा थोड़े बहुत फेरफारसे—हिन्दी हिन्दुस्तानी ही है। इसलिये उचित और सम्भव तो यही है कि प्रत्येक प्रान्तमें उस प्रान्तकी भाषा, सारे देशके पारस्परिक व्यवहारके लिये हिन्दी, और अन्तर्राष्ट्रीय उपयोगके

लिये अंग्रेजीका व्यवहार हो। हिन्दी बोलने वालोंकी संख्या करोड़ोंकी रहेगी, किन्तु अंग्रेजी बोलने वालोंकी संख्या कुछ लाखसे आगे कभी नहीं बढ़ सकेगी। इसका प्रयत्न भी करना जनताके साथ अन्याय करना होगा।

मैंने अभी 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' शब्दका प्रयोग किया है। सन् १८ में जब आपने मुझको यही पद दिया था, तब भी मैंने यही कहा था कि हिन्दी उस भाषा का नाम है जिसे हिन्दू और मुसलमान कुदरती तौर पर बगैर प्रयत्नके बोलते हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दूमें कोई फर्क नहीं है। देवनागरी लिपिमें लिखी जाने पर वह हिन्दी और अरबीमें लिखी जाने पर उर्दू कही जाती है। जो लेखक या व्याख्यान-दाता चुन-चुन कर संस्कृत या अरबी-फ़ारसीके शब्दोंका ही प्रयोग करता है, वह देशका अहित करता है। हमारी राष्ट्र-भाषामें वे सब प्रकारके शब्द आने चाहियें, जो जनतामें प्रचलित हो गये हैं। श्री घनश्यामदासजी बिड़लाने ठीक ही कहा है कि राष्ट्रभाषा-वादियोंको चाहिये कि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओंमें जो शब्द रूढ़ बन गये हैं और जो राष्ट्रभाषामें आनेके लायक हैं, उन्हें वे ले लें। हर व्यापक भाषा में यह ग्राहक शक्ति रहती ही है। इसीलिये तो व्यापक बनती है। अंग्रेजीने क्या नहीं लिया है ? लैटिन और ग्रीकमें से कितने ही महावरे अंग्रेजीमें लिये गये हैं। आधुनिक भाषाओंको भी वे लोग नहीं छोड़ते। इस बारेमें उनकी निष्पक्षता सराह-नीय है। हिन्दुस्तानी शब्द अंग्रेजीमें काफ़ी आ गये हैं। कुछ अफ्रिकासे भी लिये गये हैं। इसमें उनका 'फ्री ट्रेड' कायम ही है। पर मेरे यह सब कहनेका मतलब यह नहीं कि बगैर अवसरके भी हम दूसरी भाषाओंके शब्द लें, जैसा कि आज-कल अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवक किया करते हैं। इस व्यापारमें विवेक दृष्टि तो रखनी ही होगी। हम कंगाल नहीं हैं, पर कंजूस भी नहीं बनेंगे। कुरसीको खुशीसे कुरसी कहेंगे, उसके लिये 'चतुष्पाद पीठ' शब्दका प्रयोग नहीं करेंगे।

इस मौके पर अपने दुःखकी भी कुछ कहानी कह दूँ। हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषा

बने या न बने, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। तुलसीदासका पुजारी* होनेके कारण हिन्दी पर मेरा मोह रहेगा ही। . XXX

(महात्मा गांधीका अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलनके २४ वें अधिवेशन इन्दौरके सभापतिके पदसे प्रदत्त भाषणसे उद्धृत। २० अप्रैल १९३५)

संस्कृतकी पुत्रियोंके लिये एक लिपि

उपर्युक्त शीर्षकका एक लेख लिखते हुए महात्मा गांधीजी कहते हैं कि बढ़ती हुई प्रांतीयताकी हानिकारक भावनाओंमें संस्कृतकी पुत्रियोंके लिए एक लिपिके सम्बन्धमें कुछ कहना दुस्साहस करना है। किन्तु एक लिपिके विषयमें कहना अत्यावश्यक है। मुझे याद है कि दक्षिणी अफ्रीकामें मैंने भारतीय पत्र व्यवहारके लिए देवनागरी लिपिको अपनाया था। अन्तर्प्रान्तीय कार्योंमें भिन्न-भिन्न प्रांतोंकी भाषाओंके जाननेसे अधिक सुविधा होगी। मैं सारे भारतकी भाषाओंके जाननेका प्रेमी हूँ, मैंने यथा-संभव अधिकसे अधिक लिपियोंके सीखनेका प्रयत्न किया है। यदि मेरे पास समय होता तो अभी भी ७० सालकी उम्रमें मैं और भी भाषाएँ सीख लेता। मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे इतने प्रयास करने पर भी मैं सब लिपि नहीं सीख सका। मुझे प्रान्तोंकी मुख्य भाषाओंका काम चलाने योग्य ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेना चाहिये। देवनागरी लिपि आकार-प्रकारमें बहुत सुन्दर है और मुझे आशा है कि शिक्षित-समाज मेरी सलाह पर जरा विचार करेंगे। यदि वे देवनागरी लिपि स्वीकार कर लेते हैं तो वे आगामी युगको अत्यधिक परिश्रम तथा समयके अपव्ययसे बचा कर आशीर्वाद प्राप्त करेंगे। (अमृतबाजार पत्रिका, अगस्त, ५, १९३८)

Mahatma Gandhi writing under the caption "One script for daughters of Sanskrit" says: "The question of having one script for the Indian languages which are

* उपर्युक्त भाषणसे प्रकट हो जाता है बापू 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' और 'हिन्दुस्तानी और उर्दू' में कोई फर्क नहीं मानते थे और 'सारे देशके पारस्परिक व्यवहारके लिये हिन्दी' का व्यवहार ही उन्हें स्वीकृत था। —ले०

daughters of Sanskrit by birth or adoption has been before the public for a number of years. Yet in these days of aggressive provincialism, perhaps a plea for one script will be regarded as an impertinence. But the literacy campaigns raging all over the country should compel a hearing for the advocates of one script. I have been one such for years. I remember having even adopted in South Africa Devnagri script for my Indian correspondence with Gujaratis in select cases. Inter-Provincial intercourse will be much facilitated by such adoption and the learning of the various provincial languages will be made infinitely easier than it is to-day. If the educated people of the land were to put their heads together and decide upon one script, its universal adoption should be an easy thing. To the millions, who are illitorate, it is a matter of indifference what script is prescribed to them. If the happy consummation comes to pass there will be only two scripts in India—Devnagri and Urdu, and every nationalist will deem his duty to master the two scripts. I am a lover of All Indian languages. I have tried too to learn as many scripts as possible. And if only I had the time, even at the age of 70 I have energy enough to learn more Indian languages That would be a recreation for me. But in spite of all my love for the languages I must confess that I have not learnt all the scripts. I should pick up a workable knowledge of the principal languages of the provinces in very little time and Devnagri has nothing to be ashamed of in point of symmetry or beauty. I hope that those who are engaged in the literacy campaigns will give

a passing thought to my suggestion. If they will adopt Devnagri script, they will save for the future generations tons of labour and time and earn their blessings."—

Associated Press. (Amrita Bazar Patrika Aug. 5th 1938.)

गांधीजी खाली उर्दूको हिन्दुस्तानी नहीं मानते

हिन्दी-उर्दूके मेलके पक्षपाती : हिन्दुस्तानी प्रचार सम्मेलनमें दिये हुए भाषणका अधिकृत विवरण

गत २६ और २७ फरवरीको वर्धामें हिन्दुस्तानी प्रचार सभाकी बैठकमें महात्मा गांधीने जो भाषण दिया था और समाचार-पत्रोंमें उसकी जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, उससे हिन्दी भाषा-भाषियोंमें गलतफहमी पैदा होकर काफ़ी असन्तोष फैल गया था। इसलिये महात्माजीके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री प्यारेलालजीके अभी दिल्ली आनेके समय 'हिन्दुस्तान' के प्रतिनिधिने उनसे मिल कर इस बारेमें स्पष्टीकरणके लिये कहा। इस पर उन्होंने महात्माजीके 'हिन्दुस्तानी' में दिये गये भाषणका जो अंग्रेजी सार भेजा, उसका हिन्दुस्तानी अनुवाद यहां दिया जाता है। आशा है इससे हिन्दी वालोंमें फैला हुआ भ्रम दूर हो जायगा।

आरम्भमें महात्माजीने इस बात पर खेद प्रकट किया कि उनकी शारीरिक पूंजी सीमित होनेके कारण वह सभाको अधिक समय नहीं दे सकते। उन्होंने कहा—"अगर मैं इस पूंजीकी अच्छी तरह हिफ़ाजत न करूँ तो वह एक महीनेमें ही समाप्त हो जायगी। लेकिन सत्याग्रही अथवा अहिंसाके हिमायतीका यह तरीका नहीं हो सकता। मौका आने पर अपना सब कुछ बाजी पर लगाया जा सकता है, लेकिन सत्याग्रही अपने शरीरको ईश्वरकी धरोहर मानता है, जिसकी पूरे ध्यानसे हिफाजत की जानी चाहिये और जो केवल ईश्वरकी सेवामें काममें लगाई जानी चाहिये।"

हिन्दुस्तानी प्रचार सभाकी स्थापनाका आदि स्रोत और उसके उद्देश्य बताते हुए महात्माजीने कहा—"स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज और मेरे मनमें संयुक्त रूप से इसकी कल्पना हुई। सभाकी स्थापनाके तुरन्त बाद ही सेठ जमनालालजी परलोक-

वासी हो गये और अभी कुछ अधिक समय नहीं हुआ होगा कि मैं खुद भी गिरफ्तार किया जाकर नजरबन्द कैम्पमें रख दिया गया। बीमारीके कारण रिहाई होने पर अब मैंने वहींसे उसकी शुरुआत की है, जहां कि अगस्त १९४२ में वह छोड़ दी गई थी।

"सभामें वही लोग बुलाये गए हैं, जिनसे सभाके काममें मदद पहुंचनेकी आशा की गई थी और जो इसी इरादेसे आये हैं। इसीलिये जो इसका विरोध करना चाहते हैं, उनके लिये इसमें स्थान नहीं है। इसकी यह वजह नहीं है कि मैं उन्हें निकाल-बाहर करना चाहता हूँ, बल्कि सभाका जो क्षेत्र और उद्देश्य है वह विवादके उपयुक्त नहीं है, इसीलिये उन्हें अलग रखना पड़ रहा है। जो लोग उसकी आलोचना करना चाहते हैं वह अपने विचार बादमें खुद मेरे पास भेज सकते हैं।

'हिन्दुस्तानीका प्रचार यह चाहता है कि वह सब लोग जो लोग कि उर्दू लिपि जानते हैं वह उसके साथ ही नागरी लिपि सीखें, जो नागरी जानते हैं वह उसके साथ उर्दू लिपिका अभ्यास करें और जो दोनोंमेंसे एक भी नहीं जानते, वह दोनों ही सीखें। उन्हें भाषाके दोनों रूप भी जानना चाहिये। बहुत अर्सा नहीं हुआ उत्तरीय भारतके लोगोंकी भाषा एक ही थी। वह उर्दू और देवनागरी लिपियोंमें लिखी जाती थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, दोनों एक दूसरेसे जुदा होती गईं। उर्दू लेखक अरबी और फारसीके कठिन शब्दोंका प्रयोग करने लगे और इसी तरह हिन्दीके लेखक संस्कृत शब्दोंका।, लेकिन एक साधारण ग्रामीण न तो ऊँचे दर्जेकी उर्दू समझता है, न उच्चकोटिकी हिन्दी। वह तो सीधी-सादी हिन्दी-उर्दू मिली हुई हिन्दुस्तानी समझता है। इसीलिये दोनों भाषाओंके बीचकी खाईको और अधिक चौड़ा होनेसे रोकनेके लिये हरेक हिन्दुस्तानीका यह कर्तव्य है कि वह दोनों ही लिपियां सीखे और मेरा मन अन्दर ही अन्दर ऐसा कहता है कि बहुत देर नहीं है जब कि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाएँ मिल कर एक हो जायेंगी।

"दोनों लिपियां सदा-सर्वदा रह सकती हैं। मुझे चिन्ता नहीं, यदि आप हिन्दुस्तानमें प्रचलित सभी लिपियां सीख लें। उत्तर भारतके लोगोंको कम-से-कम

दक्षिण भारतकी एक भाषा तो अवश्य सीखनी चाहिए। यह कोई बहुत लम्बी-चौड़ी मांग नहीं है। लेकिन आज हम दिमागी तौर पर बहुत सुस्त हो गए हैं। अंग्रेजीके बोझने हमारी मानसिक शक्तिको पंगु बना दिया है। एक विदेशी भाषा-अंग्रेजीको सीखनेमें वर्षों लगा देनेकी हम परवा नहीं करते, लेकिन हम एक भाषा अर्थात् अपनी राष्ट्र-भाषाकी दो लिपियों और दो रूपोंका सीखना मुसीबत समझते हैं। यह एक अत्यन्त दुःखद अवस्था है।"

अन्तमें महात्माजीने कहा—"हम हिन्दुस्तानी हैं और हमें हिन्दुस्तानके करोड़ों निवासियोंके बीच रहना है। अगर हमें इन करोड़ोंके हृदयों तक पहुँचना और उनकी सेवा करना है तो हमें दोनों ही लिपियां सीखनेका निश्चय करना चाहिये, जिनमें कि हिन्दुस्तानी लिखी जाती है। ग्रामीण जनता बड़े-बड़े शब्दोंकी चाहे वे फारसीसे लिये गये हों, चाहे संस्कृतसे, परवा नहीं करती। उनके पास पण्डिताईके प्रदर्शनके लिये समय नहीं है। वह तो अपनी रोजकी रोटी पैदा करनेके धंधेमें लगे रहते हैं। वह जो भाषा बोलते हैं, केवल वही भारतकी राष्ट्र-भाषा हो सकती है और हरेक हिन्दुस्तानीका कर्तव्य है कि वह उसे सीखे। अगर इसका महत्व समझ लेंगे तो इसमें होने वाली मेहनत पर नाक-भी न चढ़ावेंगे और जैसे-जैसे उनका उत्साह और लगन बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे ही उनकी मेहनत भी हल्की एवं मनो-रंजक होती जायगी। हिन्दुस्तानी मेरे लिये एक आस्थाका विषय बन गया है और इसके अंगीकार किये जाने और विकासमें मैं महत्वपूर्ण परिणामोंकी कल्पना करता हूँ।"

सभाकी समाप्ति पर अपने भाषणमें महात्माजीने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के साथ किस तरह उनका सम्बन्ध हुआ और किस तरह उन्होंने बहुत समय पहले १९१७ में साहित्य-सम्मेलनके इन्दौर अधिवेशनके मौके पर ही दोनों ही लिपियोंके सीखनेके विचारका समावेश किया, इसका इतिहास बतलाते हुए कहा—"मैंने बादको इस विचारको और भी आगे बढ़ाया, लेकिन आगे चल कर सम्मेलनने इससे कदम पीछे हटा लिया। इसलिये १९४२ में मैंने श्री जमनालालजीके साथ 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कायम की। नागपुरमें, जैसा कि श्री अब्दुलहक साहबने बतलाया,

मैंने गलती की और इसलिये उसके बाद फिर कभी भारतीय साहित्य परिषदकी बैठक न बुला कर उस गलतीको दुरुस्त किया।

'मैंने जिस गरजसे आपको बुलाया है, वह है भाषाके दो स्रोतों-हिन्दी और उर्दूसे राष्ट्र-भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानीका विकास करनेके काममें मदद देना।

"इसके लिए किसी एक या दूसरेकी तरफसे संकेत या चेष्टाकी प्रतीक्षामें बैठे रहनेकी ज़रूरत नहीं। सत्याग्रह हमें दूसरे कुछ करें या न करें, इसकी परवाह किये बिना अपना कर्त्तव्य करते जाना और बाकीको ईश्वर पर छोड़ देना सिखाता है। अच्छे कामके लिये किया गया प्रयत्न कभी निरर्थक नहीं जाता।" बम्बईमें होनेवाली अंजुमन ए-उर्दू परिषदके लिये मुझसे सन्देश मांगा गया था। मैंने इसके जवाबमें उर्दूमें पत्र भेजते हुए लिखा था—

'मैं आयन्दा अकेली हिन्दी या उर्दूकी हिमायत नहीं कर सकता। मैं दोनोंको ही फूलती-फलती देखना चाहता हूँ, लेकिन साथ ही उम्मीद करता हूँ कि एक दिन आयगा जबकि दोनों मिल कर एक हो जायंगी।"

महात्माजीने आगे कहा—"जैसा कि डा० ताराचन्दने बतलाया हिन्दुस्तानी अभी भी मौजूद है और उसे अपने सुन्दर साहित्यका भी अभिमान है। लेकिन हम केवल उसके यशोगानसे ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते। यद्यपि भूतकालसे हम प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन अपने वर्त्तमान और भविष्यकी हमें अधिक चिन्ता करनी चाहिए। बहुतसे लोग अब उर्दू बनाम हिन्दीके झगड़ेमें बुरी तरह परेशान हैं। एक पक्ष जहां तक बन पड़ता है, भाषाको फारसीमय बना देना चाहता है तो दूसरा संस्कृतमय। लेकिन आम जनता दोनों ही को नहीं जानती। वह तो सीधी-सादी हिन्दुस्तानी समझती और उसीको पसन्द करती है। यही वह भाषा है जिसकी आपको रक्षा और वृद्धि करनी है। यह जो कीमत मांगती है, वह है सिर्फ दोनों लिपियोंका सीखना। मुझसे कहा गया है कि हिन्दू लड़के तो उर्दू लिपि सीखनेको तैयार रहते हैं, लेकिन मुसलमान लड़के नागरी सीखनेसे इनकार कर देते हैं। इस पर मेरा जवाब यही है कि फ़ायदा उसीका है जो दोनों लिपियां सीखता है। जो

लोग अपने ज्ञानमें एक उपयोगी वृद्धिके लिए उचित परिश्रमसे जी चुरायेंगे, नुकसानमें वेही रहेंगे।

"भारतकी जनताके लिए एक अन्तर्प्रान्तीय भाषाका विकास उसके अपने हितकी दृष्टिसे उपयुक्त प्रयास है और हमारे अधिकसे अधिक परिश्रमकी अपेक्षा रखता है। इसलिए हम संख्यामें थोड़े हैं या बहुत, इस बातकी परवाह नहीं करनी चाहिए। अगर हम डटे रहे तो हमारे प्रयत्नोंमें सफलता निश्चित है।"

(हिन्दुस्तान १९४६)

रैहानाबेन तैयबजीके पत्र तथा उनके तर्कोंका (हिन्दुस्तानीके तथा नागरीके पक्षमें) उत्तर देते हुए गांधीजीने कहा—

"हम दो जाति नहीं हैं, वरन् एक जाति हैं। जिनका यह विश्वास है कि हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न जातियां हैं, वे इन दोनोंकी तथा भारतकी क्षति करते हैं। यदि क़ायदे आज़म, हिन्दू और मुस्लिम जातीयताको भिन्न मानते हैं, अथवा कुछ हिन्दू भी ऐसा ही समझते हैं, तो समझा करें। अगर सारी दुनिया ग़लती कर रही हो तो इसका मतलब यह नहीं कि हम भी ग़लती करें। ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए।

यदि 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रभाषा स्वीकृत हो जाती है तो स्वभावतः दोनों लिपियां नागरी और उर्दू साथ ही साथ स्वीकृत हो जाती हैं। यदि सरकार 'हिन्दुस्तानी' लिखनेके लिये नागरी लिपिको स्वीकार कर लेती है तो हमारे अल्पसंख्यक भाई मुसलमानों*का स्मरण आते ही यह स्वीकृति अन्याय-सी प्रतीत होती है और हमारा अपराध बढ़ जाता है।

मेरा कभी भी यह तात्पर्य नहीं रहा कि भारतकी चालीसों करोड़ जनताको दोनों लिपि सीखनी ही पड़ेगी। मेरा मतलब यह रहा है कि जो अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्धको रखना चाहते हैं, और केवल अपने ही प्रान्तको नहीं, वरन् सारे भारतकी सेवा

---

* बापू इसके पहले ही कह चुके हैं कि हमारी जातीयता एक है, हम दो नहीं हैं तब 'अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक' का भेद ही क्यों उपस्थित हो ?

करना चाहते हैं, तो उन्हें दोनों लिपियोंका ज्ञान रहना चाहिए। कारण स्पष्ट है। वे, चाहे नागरी हो अथवा उर्दू हो, पढ़ लें। अतः यह आवश्यक है कि दोनों लिपि राष्ट्रीय रूपमें स्वीकृत हों।

यदि हिन्दी राष्ट्रीय भाषा स्वीकृत हो जाती है, तो नागरी ही केवल राष्ट्र-लिपि होगी। यदि उर्दू उस स्थानको ग्रहण करती है तो फिर उर्दू लिपि ही राष्ट्र-लिपि होगी। किन्तु यदि 'हिन्दुस्तानी' जो कि हिन्दी और उर्दूके सम्मिश्रणसे बनी है, * राष्ट्रीय भाषा बने, तो मेरी रायमें दोनों लिपियोंका ज्ञान होना आवश्यक है।" × ×

Answering the araguments of Raihnabehn Tyabjee who favoured Hindustani as the inter-provincial language written exclusively in Nagri, Mahatma Gandhi expressed that, "We are not two nations. Those who believe the the Hindus and the Muslims to be two nations harm both the communities and India. It should not matter that the Quid-e-Azam believs The Hindus and the Muslims of India to be two nations or that there are Hindus too who entertain the same belief, surely, it does not follow that because the whole world is in error, we, who believe otherwise, should follow it. This should never happen.

If Hindustani is taken to be the inter-provincial language of India, it follows that both the scripts, Nagri and Urdu, should be equally acceptable. If the state, recognizes only Nagri as the character in which Hindustani should be written, it would certainly be

---

* इसी भ्रमात्मक परिभाषाने ही 'हिन्दुस्तानी' शब्दकी ख्याति नष्ट कर दी। 'हिन्दुस्तानी' के सम्बन्धमें प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल लिखित 'यह बदनाम हिन्दुस्तानी' शीर्षक लेखमें यथेष्ट सूचनाएँ प्राप्त होंगी। —ले०

unjust to our Muslim bretheren and when it is remembered that they are a minority the guilt is enhanced.

I have never contented that all the forty crores of Indians have to learn both the scripts, I have, however held that those who have inter-provincial contacts and who want to serve not merely their own province but the whole of India should know both the scripts. The reason is obvious. They ought to be able to read letters written whether in the Nagri or the Urdu scripts. Hence, it is necessary that both the scripts are accepted as national.

If Hindi is to be the national language, naturally Nfgri alone will be the national script and if Urdu is to take that place, Urdu script alone will be the national script. But if Hindustani, which is a resultant of the junction of Hindi and Urdu, is to be the national language, a knowledge of both the scripts is essential in the manner indicated by me. × × × ×

(Harijan. November. 9th 1947).

पंडित जवाहरलाल नेहरू—

[माननीय पंडित जवाहरलाल नेहरूके निम्नलिखित विचारोंसे प्रगट हो जाता है कि हिन्दी और उर्दूमें वे कोई अन्तर नहीं मानते। हिन्दीके राष्ट्रभाषा होनेपर उर्दू पर कोई असर नहीं पड़ता, कारण दोनों मूल रूपमें एक हैं। उर्दूके पृष्ठपोषक इसे अस्वीकार नहीं कर सकते कि स्वयं पंडित नेहरू जिस वाणीका व्यवहार करते हैं, वह उनके तथाकथित उर्दूके अति निकट है वरन्, बंगाल आदि प्रांतोंमें कभी-कभी उनके भाषणको समझनेमें कितनोंको कठिनाई भी होती है, किन्तु उनकी व्यवहृत भाषा हिन्दीकी ही एक शैली है।]

हिन्दी प्रचार सभा भवनके उद्‌घाटनके समय कांग्रेस प्रेसीडेन्ट पंडित जवाहरलाल नेहरूजीने हिन्दीको राष्ट्रभाषाके योग्य बताते हुए कहा था कि यदि इसमें राष्ट्रीय पुकार न होती तो अहिन्दीभाषी इसे इतनी तत्परताके साथ न सीखते। हिन्दीका ज्ञान, राष्ट्रीयताको प्रोत्साहन देता है और हिन्दी अन्य भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक राष्ट्रभाषाके योग्य है। श्री नेहरूजीने, हिन्दीके कारण अन्य बोलियोंकी प्रगतिमें बाधा पहुँचेगी, इस भयका निराकरण करते हुए कहा कि विभिन्न स्थानविशेषकी बोलियां अपने अपने स्थानविशेषमें प्रमुख रहेंगी, किन्तु भारतको एक सूत्रमें बांधनेके लिये हिन्दीको ही राष्ट्रभाषा होना चाहिए। 'हिन्दी' 'उर्दू' के झगड़ेके सम्बन्धमें आपने आगे चलकर कहा कि इन दोनों भाषाओंमें कोई अन्तर नहीं है सिवा इसके कि हिन्दी, नागरी लिपिमें लिखी जाती है और उर्दू फ़ारसी लिपिमें। कुछ प्रान्तोंमें हिन्दीमें संस्कृत शब्द अधिक व्यवहारमें लाए जाते हैं और कुछ प्रान्तोंमें फ़ारसी शब्द अधिकतर व्यवहृत होते हैं। उन्होंने कहा स्वयं वे शुद्ध उर्दू (शुद्ध फ़ारसी युक्त हिन्दी) का व्यवहार करते हैं। यह बड़े दुःखकी बात है कि हिन्दी-उर्दूको धार्मिक झगड़ेका रूप दे डाला गया है।

(एडवान्स अक्टूबर, १९३६)

On the occasion of opening of the Hindi Prachar Sabha Buildings Pandit Jawaharlal Nehru, Congress President, emphasised the value of Hindi as the national language of India and said that had it not been for national call, the people who did not speak Hindi as their mother tongue would not have learnt that language as enthusiastically as they had done. Knowledge of Hindi would promote the spirit of nationalism, and further Hindi was the language most suited to be the Lingua Franca of the country.

The Pandit dispelled the fear that the progress of Hindi might result in the supersession of the local dialects

by Hindi. Hindi, he said, was not intended to supersede the local dialects. The principal language of India should be the principal language of the respective areas in which they were spoken. And there was no question of any of them being superseded by Hindustani. But the speaker emphasised that Hindi would be the linguistic link to bind India together.

Pandit Nehru next referred to Hindi-Urdu controversey and said there was no difference between the two languages except that Hindi was written in Devanagari script and Urdu in the Persian script. Further, in some areas there might be a large admixture of Sanskrit words in the language where as in certian other areas there might be a large number of Persian words. Pandit Jawaharlal said he spoke pure Urdu in conversation with friends. It was unfortunate that the Hindi Urdu coctroversy was considered a communal question. It had no communal aspect, he emphasised.—United Press.

(Advance Oct. '37)

× × ×

हिन्दी-उर्दू विवाद

हिन्दी-उर्दूके विवादके सम्बन्धमें नेहरूजीने काफ़ी विस्तृत व्याख्या की। आपने बड़ी व्यग्रताके साथ कहा कि मैं भाषाके प्रश्नको इतना महत्व नहीं देने दूंगा कि वह हमारे स्वतंत्रताके युद्धके रास्तेका एक रोड़ा बन जाय। आपने खेद प्रकट किया कि आज हिन्दी और उर्दूके हिमायती बजाय अपनी-अपनी भाषाको अधिक समयानुकूल बनानेके दूसरी भाषाकी बुराइयाँ कर रहे हैं। आपने इस विचारको

हास्यास्पद बताया कि लोग इसका बातका प्रयत्न करें कि उनकी भाषा कचहरियोंकी भाषा बना ली जाय तो वह देशकी भाषा हो जायगी।

नेहरूजीने खेद प्रकट किया कि हमें यह मानना पड़ता है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाएँ आज संसारकी पिछड़ी हुई भाषाएँ हैं। उनमें कविता इत्यादिका अपना निजी साहित्य चाहे कितना ही क्यों न हो, यह बात तो स्पष्ट ही है कि वर्त्तमान कालमें हम इनके सहारे ही अपने सब विचार व्यक्त नहीं कर सकते, उनकी शब्दावली इतनी कम है और हमारे विचार इतने दकियानूसी और संकीर्ण हैं कि हम अपनी इन भाषाओंको बढ़ने ही नहीं देते।

पंडितजीने कहा कि भाषा तो संस्कृतिकी द्योतक होती है। यही कारण है कि आज अंग्रेजी भाषा संसारकी सबसे शक्तिशाली भाषा हो गई है, उसके समान प्रचलित भाषा संसारमें दूसरी है ही नहीं। अंग्रेजी भाषामें रोज ही नये शब्द बढ़ते जा रहे हैं और पिछले पचास वर्षोंमें उसमें नये शब्दोंकी इतनी वृद्धि हुई है कि पचास वर्ष पहलेकी अङ्गरेजी भाषा आज इस्तेमाल की ही नहीं जा सकती।

आपने बताया कि वर्त्तमान कालमें किसी भाषाकी अच्छाई इस बातसे नहीं देखी जा सकती कि उसका व्याकरण कितना पूर्ण है, बल्कि वह तो इस दृष्टिकोणसे देखी जाती है कि किस भाषाको लिखने, छापने और प्रयोग करनेमें सबसे ज्यादा सहूलियत होती है, यह सर्वमान्य है कि संस्कृत संसार की सबसे ज्यादा पूर्ण भाषा है और उसका व्याकरण सबसे पूर्ण है, मगर वह इन्हीं कारणोंसे इतनी कठिन भी है कि वह जन साधारणकी भाषा बन ही नहीं सकती। आपने बताया कि चीनी भाषामें कोई व्याकरण है ही नहीं और वह धीरे धीरे आगे बढ़ती चली जा रही है, यहाँ तककि आज वह इतनी आगे बढ़ गयी है कि संसारकी किसी भी भाषाकी कोई अच्छी पुस्तक प्रकाशित हुई नहीं कि उसका चीनी भाषामें अनुवाद नहीं हुआ। हमारी हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओंमें इसकी बेहद कमी है, वर्त्तमान काल की कोई भी पुस्तकें इन भाषाओंमें है ही नहीं, बजाय आपसकी तू-तू, मैं-मैं के हिन्दी और उर्दूके हिमायतियोंको चाहिये कि वह समयानुकूल साहित्य तैयार करायें।

भाषाके प्रसारका मार्ग बताते हुए नेहरूजीने कहा कि हिन्दी और उर्दू संस्कृत और अरबी, फ़ारसीके कठिन शब्दोंके बढ़ानेसे उन्नति नहीं कर सकेंगी, बल्कि मजदूरों और साधारण जनताके रोजके बोलचालके शब्दोंको अपने कोषोंमें स्थान देनेसे वह आगे बढ़ सकेंगी। उदाहरणकी तरह आपने बताया कि सिर्फ मोटरगाड़ीके आविष्कारसे ही अङ्ग्रेजी भाषामें लगभग एक हजार शब्द बढ़ गये, क्योंकि उसके हर हिस्सेका अलग नाम था। अङ्ग्रेजी भाषाने इन सब चीजोंके नामोंको अपने कोषमें स्थान दिया और इससे उसकी उन्नति हुई। × × ×

(विश्वमित्र २२-६-४५)

× × × ×

(पंडित जवाहरलाल नेहरूने पी० ई० एन० के अधिवेशनमेंभाषा सम्बन्धी कुछ विचार प्रकट किये थे। आपने कहा कि भारतीय भाषाओंमें विभिन्न भाषाओंका प्रश्न नहीं उठता वरन् दो भाषाओंकी समस्या उपस्थित होती है। हिन्दी और उर्दू—जो मौलिक रूप एक ही स्थल से प्रेरणा प्राप्त करती हैं। अन्तर है केवल साहित्यिक शैलीका।

पंडित जवाहरलाल नेहरू पी० ई० एन० के भाषण में से। हिन्दुस्तान टाइम्स अक्टूबर २२ १९४५)

Pandit Jawaharlal Nehru, initiating discussion on whether the development of Indian literatures'was unifying force pointed out that superfecial observers might think that snch devolopment would create more provincial barriers. "But in reality" he said when we take about this question, it does not relate to a dozen languages, but only to two, namely Hindi and Urdu—which is one language with different literary forms drawing inspiration from the same fountain head."

(Pandit Jawaharlal Nehru. Hindusthan TimesP. E. N. conf. speeches. October 22nd. 1945).

× × × ×

'हिन्दुस्तानी' के लिये ठीक शब्द 'हिन्दी'* होगा, चाहे हम उसे मुल्कके लिये, चाहे संस्कृतिके लिये और चाहे अपनी भिन्न परंपराओंके तारीखी सिलसिलेके लिये इस्तेमाल करें। यह लफ़्ज़ हिन्दसे बना है जोकि हिन्दुस्तानका छोटा रूप है। अब भी हिन्दुस्तानके लिये हिन्द शब्दका आम तौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशियाके मुल्कोंमें, ईरान और टर्कीमें, ईराक़, अफगानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहोंमें हिन्दुस्तानके लिये बराबर हिन्द शब्दका इस्तेमाल किया जाता है और इन सभी जगहोंमें हिन्दुस्तानीको 'हिन्दी' कहते हैं। हिन्दीका मज़हबसे कोई सम्बन्ध नहीं है और हिन्दुस्तानी, मुसलमान और ईसाई उसी तरहसे हिन्दी हैं, जिस तरह कि एक हिन्दू मतका माननेवाला। अमरीकाके लोग, जो कि सभी हिन्दुस्तानियोंको हिन्दू कहते हैं, बहुत ग़लती नहीं करते। अगर वह हिन्दी शब्दका प्रयोग करें तो उनका प्रयोग बिलकुल ठीक होगा। दुर्भाग्यसे 'हिन्दी' शब्द हिन्दुस्तानमें, एक खास लिपिके लिये इस्तेमाल होने लगा है—यह भी संस्कृतकी देवनागरी लिपिके लिये—इसलिये इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थमें इस्तेमाल करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकलके मुबाहसे खतम हो लें तो हम फिर इस शब्दका उपयोग उसके मौलिक अर्थमें कर सकें और वह ज्यादा संतोषजनक होगा। आज हिन्दुस्तानके रहने वालेके लिये 'हिन्दुस्तानी' शब्दका इस्तेमाल होता है और जाहिर है कि वह हिन्दुस्तानसे बनाया गया है, लेकिन बोलनेमें यह बड़ा है और इसके साथ वह ऐतिहासिक और सांस्कृतिक खयाल नहीं जुड़े हुए हैं, जो कि हिन्दीके साथ जुड़े हैं। निश्चय ही प्राचीन कालकी हिन्दुस्तानकी संस्कृतिके लिये हिन्दुस्तानी लफ़्ज़का इस्तेमाल अटपटा जान पड़ेगा।' —('हिन्दुस्तानकी कहानी' पृ० ८१) × × ×

---

* "हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्तां हमारा"—(इकबाल)

इसमें इकबाल साहबने हिन्दुस्तानके निवासियोंके लिये 'हिन्दी' के प्रयोगमें अरबी परंपराका अनुसरण किया है। अतः 'हिन्दी' यदि राष्ट्र भाषा बनाई जाय, तो इसमें विरोधकी गुंजायश कहां रह जाती है? —के०

× × × आज कलकी उर्दू तकमें, जो कि खुद एक भारतीय-आर्यभाषा है। ८० फी सदी लफ्ज संस्कृतके हैं, अक्सर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई खास लफ्ज संस्कृतसे आया है या फ़ारसीसे, क्योंकि इन दोनों भाषाओंमें मूल शब्द अक्सर एक-से हैं। कुछ अचरजकी बात है कि दक्खिनकी द्रविड़ भाषाओंने, अगर्चे वह मूलमें बिलकुल अलगकी भाषाएँ हैं, संस्कृतके इतने शब्द अपनेमें ले लिये हैं कि क़रीब-क़रीब उनका आधा शब्द-कोष संस्कृतसे मिलता है। (वही० पृ० १९७) ××

× × मौजूदा जमानेकी हिन्दुस्तानी भाषाएं जो संस्कृतसे निकली हैं और इसीलिये भारतीय-आर्य भाषाएँ कहलाती हैं, वह हैं: हिन्दी, उर्दू, बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असामी, राजस्थानी (जो कि हिन्दीका ही एक रूप है), पंजाबी, सिंधी, पश्तो और काश्मीरी। द्रविड़ भाषाएँ यह है : तमिल, तेलेगू, कन्नड़ और मलायलम। इन पन्द्रह भाषाओंमें सारे हिन्दुस्तानकी भाषाएँ आ जाती हैं, और इनमेंसे हिन्दी (अपने रूपान्तर उर्दूके साथ) सबसे ज्यादा रायज है और जहां यह बोली भी नहीं जाती, वहां भी समझ ली जाती है। इन भाषाओंको छोड़ कर कुछ बोलियां और अविकसित भाषाएँ हैं, जो कि बहुत छोटे इलाकोंमें या बिछड़ी हुई पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जाने वाली यह कहानी कि हिन्दुस्तानमें पांच सौ या इससे ज्यादा ज़बानें हैं, भाषा वैज्ञानिकों या मर्दुमशुमारीके कमिश्नरके दिमागकी गढंत है, जो कि बोलियोंके छोटे-छोटे भेदोंको और आसाम, बंगाल और बर्माके सरहदकी पहाड़ी जातियोंकी हरएक बोलीको गिन लेते हैं, चाहे वह बोली कुछ सौ या हज़ार लोगोंकी ही बोली हो। इन सैकड़ों की गिनती कराने वाली भाषाओंमें से ज्यादातर हिन्दुस्तानके पूर्वी सरहद या पूरबमें बर्माके सरहदी इलाकोंकी बोलियां हैं। जो तरीका मर्दुमशुमारीके कमिश्नरोंने अख्तियार किया है, उसकी नकल की जाय तो यूरोपमें सैंकड़ों भाषाएँ निकलेंगी और जर्मनीमें मेरा ख्याल है, साठ बताई गई हैं।

हिन्दुस्तानमें जबानके मसलेका इस विविधतासे कोई ताल्लुक नहीं। यह मसला हिन्दी-उर्दूका है, यानी एक ज़बानका जिसके कि दो साहित्यिक रूप हैं और जिसकी दो लिपियां हैं। बोलीमें दोनोंमें शायद ही ज्यादा फ़र्क हो ; लिखनेमें, खास तौरसे

साहित्यिक शैलीमें, यह भेद बढ़ जाता है। इस भेदको कम करनेकी और एक आम सूरत जिसे कि हिन्दुस्तानी कहते हैं पैदा करनेकी भी कोशिशें हुई हैं, और अब भी जारी हैं। और यह आम ज़बानकी शक्लमें, जो कि सारे हिन्दुस्तानमें समझी जा सकें, तरक्की कर रही है। † (वही० पृ० १९८)

* * * The correct word for 'India', as applied to country or culture or the historical continuity of our varying traditions, is 'Hindi' from 'Hind', a shortened form of Hindustan. 'Hind' is still commonly used for India. In the countries of Western Asia, in Iran and Turkey, in Iraq, Afganistan, Egypt and elsewhere India has always been referred to, and is still called, Hind; and everything Indian is called 'Hindi'. 'Hindi' has nothing to do with religion and a Muslim or Christian Indian is as much as a Hind as a person who follows Hinduism as a religion. Americans who call all Indians Hindus are not far wrong;

---

* नेहरूजीके इस कथनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी उर्दू-हिन्दी मिश्रित हिन्दुस्तानी नामक किसी नवगठित 'आमफ़हम' ज़बानकी कल्पनामें संलग्न हैं। इतिहास और भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे यह कल्पना कितनी निराधार है, इसका परिचय 'यह बदनाम हिन्दुस्तानी' लेखमें पढ़ा जा सकता है।

† उपर्युक्त उद्धृत अंश 'हिन्दुस्तानकी कहानी' के हैं। मौलिक पुस्तक अंग्रेजीमें Discovery of India के नामसे प्रसिद्ध है। ज़रा ध्यान देने पर पता चलेगा कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और फ़ारसी निष्ठ हिन्दी अर्थात् तथाकथित हिन्दी और उर्दूका समन्वय कर हिन्दुस्तानी भाषामें यह अनुवाद किया गया है। भाषाका प्रवाह इस ज़ोर ज़बर्दस्तीके कारण रुक गया है और दोनों ही भाषाओंके शब्द ऊपरसे खोंसे हुए शब्दसे जान पड़ते हैं। इस राजनीतिक फरेबी ढकोसलेकी सर्वश्रेष्ठ बानगी आपके सामने है। —ले०

they would be perfectly correct if they used the word 'Hindi.' Unfortunately the word 'Hindi' has become associated in India with a particular script—the Devnagri Script of Sanskrit—and so it has become difficult to use it in its larger and more natural significance. Perhaps when present day controversies subside we may revert to its original and more satisfying use. To-day the word 'Hindustani' is used for Indian ; it is of course derived from Hindustan. But this is too much of a mouthful and it has no such historical and cultural associations as Hindi has. It would certainly appear odd to refer to ancient periods of Indian culture as 'Hindustani.' × × ×

(Discovery of India P. P. 54).

× × × I have no idea of the number of people who understood Latin in the Europe of Dante's time ; nor do I know how many understand Sanskrit in India to-day. But the number of these latter is still large, especially in the South. Simple spoken Sanskrit is not very difficult to follow for those who know well any of the present-day Indo-Aryan languages—Hindi, Bengali, Marathi, Gujrati, etc. Even present-day Urdu, itself wholly an Indo-Aryan language, probably contains 80% words derived from Sanskrit. It is often difficult to say whether a word has come from Persian or Sanskrit, as the root words in both these languages are alike. Curiously enough the Dravidian languages of the South, though entirely different in origin, have borrowed and adopted such masses of words from the Sanskrit that nearly half their vocabulary is very nearly allied to Sanskrit. × × × (Ibid. P. P. 185).

: × : The modern Indian languages descended from the Sanskrit, and therefore called Indo-Aryan languages, are : Hindi, Urdu, Bengali, Marathi, Gujrati, Oriya, Assamese, Rajasthani (a variation of Hindi), Panjabi, Sindhi, Pashto and Kashmiri. The Dravidian languages are :—Tamil, Telugu, Kanarese and Malayalam. These fifteen languages cover the whole of India and, of these Hindi, with its variation Urdu, is by far the most wide-spread and is understood even where it is not spoken. Apart from these, there are only some dialects and some undeveloped languages spoken, in very limited areas, by some backward hill and forest tribes. The oftrepeated story of India having five hundred or more languages is a fiction of the philologists and the census commissioner's mind, who note down every variation in dialect and every petty hill-tongue on the Assam-Bengal frontier, with Burma as a seperate language, although sometimes it is spoken only by a few hundred or a few thousand persons. Most of these so-called hundreds of languages are confined to this eastern frontier of India and to the eastern bordar tracts of Burma. According to the method adopted by census commissioners, Europe has hundreds of languages and Germany was, I think, listed as having about sixty.

The language question in India, has nothing to do with this varity. It is practically confined to Hindi-Urdu, one language with two literary forms and two scripts. As spoken there is hardly any difference, as written, especially in literary style, the gap widens. Attempts have been made, and are being, made to lessen this gap and the

develop a common form which is usually styled Hindustani. This is developing into a common language understood all over India. × × × (Ibid P. P. 136)

श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद—

[डा० राजेन्द्रप्रसादजीके दोनों वक्तव्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। कहीं-कहीं दबी ज़बानसे उन्होंने हिन्दुस्तानीका नाम अवश्य लिया है। इसके द्वारा आजकी प्रचलित की जानेवाली तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' के कृत्रिम रूपके वे कहाँ तक समर्थक हैं, यह संदिग्ध है। क्योंकि, जिस शैलीमें वे लिखते हैं या बोलते हैं तथा जिस हद तक सचाई, ईमानदारी और स्वाभाविकताके वे उपासक हैं उससे प्रमाण तो हिन्दीके ही समर्थनका मिलता है (अभी उस दिन प्रयाग विश्वविद्यालय की रजत-जयन्तीके अवसर पर दिये गये उनके दीक्षान्त भाषणको देखिये।]

दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभाके २८ वर्षोंके कार्यकी प्रशंसा करते हुए आपने कहा कि जब हिन्दी (या हिन्दुस्तानी) को राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार करनेके लिये कहा जाता है तो उससे आशय भाषाके उस रूपसे होता है जो अधिकांश लोगोंकी समझमें सरलतासे आती है। इसका आशय यह कदापि नहीं होता कि हिन्दुस्तानी प्रान्तीय भाषाओंकी जगह अपनाना चाहती है। प्रांतीय भाषाएँ तो अपनी-अपनी जगहों पर रहेंगी ही। हिन्दीका माध्यम ऐसे स्थलों पर उपयोगी सिद्ध होगा जहां विविध प्रान्तों विविध बोलियोंके बोलनेवाले लोग एकत्रित हों और चर्चा ऐसे विषय पर हो जिसका संबंध सबसे हो।

हिन्दी और हिन्दुस्तानीका भेद समझाते हुए उन्होंने कहा कि इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। शब्दावलीका थोड़ा-सा अन्तर हो सकता है, किन्तु किसी भाषाका रूप उसकी शब्दावलीकी अपेक्षा उसके व्याकरणके ढाँचे पर अधिक निर्भर रहता है।

हिन्दी और उर्दूके व्याकरणका ढाचा एक है। शब्दोंका आदान-प्रदान सभी भाषाएँ करती हैं, हिन्दुस्तानी भी एक सजीव भाषा है, उसमें भी शब्दोंका आदान-प्रदान हुआ करता है। अपने इस विचारके समर्थनमें उन्होंने आक्सफोर्ड डिक्शनरीके उत्तरोत्तर बढ़नेवाले कलेवरका जिक्र किया था। अपनी भाषाका संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि वे न संस्कृत जानते हैं न फारसी, लेकिन उनकी भाषामें दोनों ही के शब्द आते रहते हैं। ज्यों-ज्यों इस भाषाका प्रचार बढ़ता जायगा त्यों-त्यों इसमें तमाम प्रचलित शब्दोंका समावेश होता रहेगा। यही विशेष कारण है जिससे प्रेरित होकर वे हिन्दुस्तानीके प्रचारकी वेग्मटके सिफारिश करते हैं और कहते हैं कि उसे राष्ट्रभाषा के रूपमें स्वीकार करना चाहिये क्योंकि बिना किसी बोली, सम्प्रदाय या धर्मसे संबंधित पक्षपातके यह भाषा देशवासियोंके द्वारा समझी जाती है और व्यवहृत भी होती है।

स्वाधीनता प्राप्तिके बाद हिन्दुस्तानीका महत्त्व और भी बढ़ गया है। विधान-परिषद्के सामने यह प्रश्न विशेष महत्वका था कि विचारोंके आदान-प्रदानका माध्यम किस भाषाके द्वारा होना चाहिये। इसीके हल स्वरूप उन्होंने परामर्श दिया था कि देशका भावी विधान 'हिन्दुस्तानी' में होना चाहिये। यदि यह विधान अंग्रेजी में होता और आगे चलकर उसकी व्याख्याके संबंधमें यदि मतांतर होता तो उन्हें बरबस विदेशी पंडितोंका मुखापेक्षी होना पड़ता और तब बाध्य होकर आजकी इस 'विधान परंपरा' को ज्योंका त्यों रखना ही पड़ता। किन्तु, जब विधान हिन्दुस्तानी में होगा तो आगे आनेवाली भारतकी सन्तान उसकी अपने ढंगसे व्याख्या कर सकेगी और देशके लिये जो हितकर होगा उसी रूपमें वह माना जायगा।

स्वाधीन भारत विदेशी सभाओंमें अपने प्रतिनिधि भेजेगा। अन्य देशोंके प्रतिनिधियोंकी तरह हमारे प्रतिनिधि अपने व्याख्यानोंमें अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानीका प्रयोग करेंगे और अन्य राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंकी भाषाओंमें जैसे फ्रेंच, रूसी इत्यादि हैं—हिन्दुस्तानी व्याख्यानोंके अनुवाद भी हुआ करेंगे।

(आजाद हिन्द—२५ मई १९४७)

Hindustani the Best Common Medium of the Masses.

I have been associated with this institution for a long time and am conversant with the progress it had made during the last 28 years, in all directions. Whenever I came to South India, I have tried to visit the Sabha and say publicly something about its work. When I toured South India as the President of the Indian National Congress, I was immensely pleased to find the amount of work turned out by the Sabha at various centres, qualitatively and quantitatively. It was also a source of pleasure to me when at some places people asked me to address them to Hindustani.

In adopting Hindustani as the common language for India, it was their intention to adopt the language in that form and style as would be understood by a large number of people. It was not their intention to replace provincial languages by Hindustani. Tamil, Telugu, Malayalam, Kanada and other languages had their own places in the respective regions. Hindustani was sought to be made the common medium of expressions at all gatherings where people from different provinces and people talking different languages assembled to transact business common to them all.

There was not much difference between Hindustani and Hindi. There might be a slight difference in vocabulary. The form of a language was not determined by its vocabulary, but by its grammar. The grammar for Hindustani and Urdu was the same. Every language has borrowed

freely from their sister languages. Hindustani has gone on expanding, borrowing freely from other languages. That was also the case with English. They would have noticed that the size of the Oxford Dictionary was increasing every time it was published. By the time the words beginning with Z were printed, so may additions would have been made, necessitating an appendix. Hindi has drawn freely from Sanskrit, Urdu, Persian and Arabic.

The Hindustani, they would buildup, ultimately would retain the grammar which was commonly drawn from the vocabulary of both and also incorporate all the words in current use by the masses. He was addressing them in Hindustani. He knew neither Persian nor Sanskrit. That was his weakness and also his strength because he could view things without bias. That was why he considered it their duty to spread the standard Hindustani among the people so that they might have it as their common language, for, it was understoon by all people, irrespective of differences based on dialects, creeds or religion.

With the advent of independence, the importance of Hindustani has increased. In the Constituent Assembly they were faced with the question of finding a medium of expression understood by all persons. That was the reason why he had suggested that they should frame their future Constitution in Hindustani. If the Constituent was framed in English, doubts might arise in respect of interpretation some years later. They might then be put to the necessity of going to foreign jurists to interpret their laws. They

would also have to perpetuate all the legal machinery they were now having. By framing the Constitution in Hindustani, they would help the generations to come to interpret the Constitution correctly themselves and to the best advantage of the country.

When India became free she will be sending her own representatives to foreign Conferences. Like the representatives of every other nation, the representatives of India would be speaking the Hindustani and their speeches would also be translated into the languages of the representatives of other nations, just as French, Russian and other languages were being translated now.

(Azad Hind, 25th May, 1947).

हिन्दी ही राष्ट्रभाषा क्यों ?

मैं इस बातकी आवश्यकता नहीं समझता कि आज भारतवर्षके लिये राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अथवा उपयोगिताकी बहस छेड़ी जाय। यह सर्वसम्मत है कि कोई भी देश अपनी राष्ट्रीय भावनाको विदेशी भाषा द्वारा न तो उन्नति कर सकता है और न ठीक-ठीक व्यक्त ही कर सकता है। यह भारतका दुर्भाग्य था और विदेशी भाषा द्वारा शिक्षाका दोष था कि यहां यह कहने वाले भी कुछ निकले कि हमारा सार्वदेशिक संस्थाओं और प्रवृत्तियोंके लिये विदेशी भाषा आवश्यक है। आज इस विचारके लोग कहीं हों भी तो उनका कोई सुनने वाला नहीं है। इसी तरह यह भी एक प्रकारसे सर्वसम्मत है कि वही राष्ट्रभाषा हो सकती है और है जिसको उत्तर भारतकी जनता साधारण रीतिसे समझ लेती है। इसको हम हिन्दी कहते हैं। इसका प्राचीन साहित्य उच्चकोटिका है और आधुनिक साहित्य भी बड़ी तेजीके साथ बढ़ता आ रहा है। इसके बोलने वालोंकी संख्या १५ करोड़से अधिक होगी और जहांकी यह बोली नहीं है, वहां भी बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगोंकी है जो उसको

समझ और बोल लेते हैं। उसमें इतनी योग्यता और लचक भी है कि वह सब प्रकारके विचारों और भावनाओंको सरलतासे व्यक्त कर सकती है।

हिन्दी—राष्ट्रभाषा

भारतवर्षमें कई प्रान्तीय भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनका अलग-अलग उच्चकोटिका प्राचीन और नवीन साहित्य है, जिन पर उनके बोलने वाले ठीक अभिमान करते हैं और जिनके प्रति वे अगाध श्रद्धा रखते हैं। भारतको किसी एक भाषाको राष्ट्र-भाषा बनाना था और इसके लिये सबसे उपयोगी हिन्दी समझा गया, इसलिये उसको राष्ट्रने राष्ट्रभाषाका पद दिया और उसके प्रचारमें इतने लोग उत्साह और त्यागपूर्वक लगे हुए हैं। इस राष्ट्रभाषाकी किसी भी प्रान्तीय भाषाके साथ प्रतियोगिता नहीं है। वह किसी भी प्रान्तीय भाषाको अपने स्थानसे हटाना नहीं चाहती। मैं मानता हूँ कि प्रान्तीय भाषा और प्रान्तीय साहित्यकी उन्नतिसे राष्ट्रभाषाकी उन्नति होगी और उसके साहित्यका भण्डार परिपूर्ण होगा। इसलिये किसी प्रान्तके लोगोंके हृदय में ऐसा सन्देह नहीं होना चाहिये कि राष्ट्रभाषाका प्रचार किसी तरहसे उसकी भाषा के साथ द्वेष अथवा प्रतिद्वन्द्विताके भावसे प्रेरित हो रहा है। राष्ट्रभाषाका क्षेत्र भी मर्य्यादित है। वह अन्तर्प्रांतीय और सार्वदेशिक प्रवृत्तियोंके लिये ही काममें लायी जानी चाहिये। प्रान्तका काम तो वहांकी भाषामें होता है और होना चाहिये। उसकी प्रतिद्वन्द्विता अगर है तो अंग्रेजीसे है, न कि किसी भारतीय भाषासे। इसलिये मैं आशा करता हूँ कि अगर इस बातमें किसीको कुछ भी सन्देह हो तो वह दूर हो जाना चाहिये और इसके प्रचारमें वैसा ही उत्साह और तत्परता यहां भी अपेक्षित है, जो दक्षिण भारतमें और दूसरे अहिन्दी प्रान्तोंमें हम देखते और अनुभव करते हैं।

हिन्दी-उर्दू का झगड़ा

राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें एक दूसरा प्रश्न हमारे सामने आ गया है, जिससे इसके प्रचारमें कठिनाई सम्भावित है। वह है हिन्दी और उर्दूका झगड़ा। इस विषय पर ठण्डे दिलसे विचार करना आवश्यक है। मूलमें हिन्दी और उर्दू दोनों एक हैं। दोनोंका व्याकरण बहुत अंशमें एक है और अगर आधारवाणी हिन्दी और

उर्दूके शब्द इकट्ठे किये जायँ तो मेरा विश्वास है कि १०० में ८० से भी अधिक एक ही होंगे। इतना ठीक है कि दोनोंकी शब्दावलीमें बहुत फर्क पड़ता है और जहां हिन्दी संस्कृतको आधार मान कर नये शब्द गढ़ती वा लेती है वहां उर्दू, फ़ारसी और अरबीके शब्दको ही लेना पसन्द करती है। कुछ अंशमें यह भी कहना ठीक है कि कभी-कभी उन शब्दोंका रूप फ़ारसीके व्याकरणके अनुसार बदलता भी है और इस प्रकार जो शुद्ध हिन्दीका व्याकरण है, वह कुछ बदल जाता है। राष्ट्रभाषा जो राष्ट्रीय कामोंके लिये देश भरकी भाषा है, तभी प्रचलित और सर्व-स्वीकृति हो सकती है, जब उसकी नींव और व्याकरण निश्चित रहें और उसमें नये शब्दोंके लिये दर्वाजा खुला रहे। व्याकरणके सम्बन्धमें किसी प्रकारका हेरफेर होना बिल्कुल गलत होगा। इसलिये अगर कोई विदेशी शब्द लिया भी जाय तो उसको हिन्दी व्याकरणके बन्धनको स्वीकार करना चाहिये और वह उसीके अनुसार व्यवहारमें लाया जाना चाहिये। उदाहरणके लिये अङ्गरेजीके ही बहुतेरे शब्द हिन्दीमें प्रचलित होते जा रहे हैं। इसी तरह अरबी और फ़ारसीके भी बहुतेरे शब्द प्रचलित होते जा रहे हैं, जैसे—ट्रेन और खत। इन दोनोंको हिन्दीसे निकालनेका प्रयत्न गलत होगा। साथ ही इनको अङ्गरेजी और फारसीके व्याकरणके अनुसार बहुवचन ट्रेन्ज और खतूत बनाना भी वैसा ही गलत होगा। हिन्दीमें हिन्दी व्याकरणके अनुसार ही इनका बहुवचन बनाना चाहिये। यदि इस रीतिसे इस विषय पर विचार किया जाय तो केवल शब्दोंके लेने और न लेनेका ही प्रश्न रह जाता है। आजके संसारमें जब दूर-दूर देशोंके साथ आना-जाना और विचार-विनिमय बहुत सहज हो गया है और होता जा रहा है, संसारकी भाषाओंका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य्य हैं और जिस तरह और विषयोंमें हम एक दूसरेसे अछूते नहीं रह सकते हैं, उसी तरह भाषाके सम्बन्धमें हम बिल्कुल अलग नहीं रह सकते हैं।

हिन्दीको अगर भारतवर्षके लिये सर्वव्यापी भाषा बनाना है तो वह अपने शब्द-क्षेत्रको संकुचित नहीं बना सकती और न वह बहिष्कारकी नीतिका अवलम्बन कर सकती है। उसका दर्वाजा खुला रहना चाहिये। दर्वाजा खुला रहनेका अर्थ यह नहीं कि कोई दूसरा आकर उसमें बैठ जाय। घर तो उसका अपना ही चाहिये और

बाहरसे जो शब्द आयें, वह उसीका रूप-रंग धारण करते जावें—इस प्रकार हिन्दी की उन्नति होगी।

मैं यह नीति केवल फ़ारसी और अरबीके शब्दोंके सम्बन्धमें ही निर्धारित नहीं करना चाहता, पर प्रान्तीय भाषाओंके शब्द-भण्डार भी कुछ कम नहीं हैं—उनमेंसे भी बहुतेरे शब्द हिन्दीमें लिये जा सकते हैं और लेने भी चाहियें। आज भी बहुतेरे ऐसे शब्द आ गये हैं और दिन प्रति दिन आते जायेंगे ; विशेष करके दक्षिण भारतके शब्द, जिनका संस्कृतसे कोई सम्बन्ध नहीं है। गाँवोंकी बोलियोंमें भी अनेक शब्द हैं जो बहुत ही मार्मिक अर्थ रखते हैं और जिनके आ जानेसे हिन्दी भाषाकी उन्नति ही होगा। इन बोलियोंमें नये शब्द गढ़नेकी नीति भी सुन्दर और विलक्षण है और उसको अपना लेना हिन्दीके लिये हितकर होगा।

भाषा सहज हो

राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें हमको यह भी याद रखना है कि यह भाषा ऐसी होनी चाहिये जो जहां तक हो सके आसानीसे सीखी जा सके। इसलिये अहिन्दी-प्रान्तोंके निवासियोंकी सुविधा पर भी हमको ध्यान देना ही होगा और जहां तक संभव है ऐसे शब्दोंको और नियमोंको हमें मानना होगा जो अधिकसे अधिक प्रचलित हैं। इसका भी अर्थ यह नहीं मानना होगा कि हिन्दी भाषाका अस्तित्व लोप करके कोई एक नई खिचड़ी भाषा बना दी जाय, जिसका न अपना कोई शब्द-कोष हो और न व्याकरणके नियम हों। इसका अर्थ इतना ही मात्र है कि अगर कहीं नियमोंमें संशोधन आवश्यक प्रतीत हो तो उससे हिचकना नहीं चाहिये और न अप्रचलित शब्दोंके लेनेमें ही बाधा होनी चाहिये। यदि इस प्रकारसे इस सारे प्रश्न पर विचार किया जाय तो कोई कठिनाई ऐसी न होगी जिसको हम दूर न कर सकें।

हम हिन्दीको राष्ट्रभाषा मानते हैं और इसका प्रचार—जहाँ यह न समझी जाती है वहाँ करनेके प्रयत्नमें भी लगे हैं। वहाँके लोगोंकी सुविधाका भी ख्याल करते हैं। एक ओर इस तरह इसका प्रचार और प्रसार बढ़ाना चाहते हैं तो क्या इसमें कोई बुद्धिमानी है कि दूसरी ओरसे हम इसका रूप-विशेष कर :शब्द-कोष जान

बूझ कर ऐसा बना दें कि जो लोग इसे समझ और बोल सकते हैं, वह इसको समझने और बोलनेमें कठिनाई अनुभव करने लगें ? अगर दक्षिणके करोड़ों हिन्दुओंको हमें हिन्दी सिखाना है—और यह जरूरी है तो उत्तर भारतमें करोड़ों मुसलमानोंको, जो इसे आज समझ और बोल सकते हैं, हम बहिष्कारकी नीतिका अवलम्ब करके इससे अपरिचित नहीं बना सकते। हिन्दी और उर्दूका साहित्य दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। उसकी प्रगति हम न रोक सकते हैं और न हमको रोकनी ही चाहिये। साहित्यकी भाषामें भी अन्तर देखनेमें आता है। कविवर अयोध्यासिंह उपाध्यायजी की भाषामें बहुत अन्तर देखा जा सकता है। उसी तरह उर्दू लेखकोंकी भाषामें भी बहुत अन्तर पड़ता है। कुछ ऐसी भाषा भी लिख देते हैं जो हिन्दीके बहुत नजदीक होती है और कुछ ऐसे भी हैं जो हिन्दीसे बहुत दूर चले जाते हैं। उसी तरह हिन्दीके लेखकोंमें कुछ उर्दूके बहुत निकट पहुंचते हैं और कुछ उससे बहुत दूर चले जाते हैं। इस प्रकारका भेद और अन्तर रहेगा। हम राष्ट्रभाषाके अन्दर इन दोनों प्रकारके लेखकोंको बहुत-कुछ सम्मिलित कर सकते हैं। और कोई भी प्रतिभाशाली लेखक किसी व्यक्ति या संस्थाके बनाये नियमोंके अन्दर अपनेको पूरी तरह नहीं बांधता और उसकी प्रतिभा इसी तरह खुल और खिल सकता है। मामूली कारोबारके लिये नियम बनते हैं, पर जब हम राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें विचार करने बैठते हैं तब हम उच्चकोटिके प्रतिभाशाली साहित्यिक लेखकोंको अपने सामने नहीं रखते, बल्कि जन-साधारणकी दिन-प्रति-दिनकी कारबारी भाषाको ही सामने रखते हैं और उसमें मेरा विचार है कि मतैक्यकी बहुत गुञ्जाइश है। राष्ट्रभाषा, संस्कृतसे सम्बन्ध रखने वाली बंगला, मराठी, गुजराती भाषाओंके बोलने वालोंमें अगर प्रचलित होना चाहती है, तो वह संस्कृतका आश्रय नहीं छोड़ सकती, क्योंकि वहां के निवासियोंके लिये संस्कृतके बहुतेरे शब्द प्रचलित होनेके कारण पूर्व परिचित हैं और उनके स्थान पर फारसी या अरबीके शब्दोंको लाकर रखना प्रचारमें बाधक होगा। उसी तरह दक्षिण प्रदेशोंमें भी यद्यपि वहांकी भाषा संस्कृत-मूलक नहीं है, संस्कृतके अनेकानेक शब्द प्रचलित हो गये हैं और उनके लिये भी संस्कृतका परिचय अरबी और फारसीके मुकाबले में कहीं अधिक सुगम है, वहांके लिये भी

संस्कृतका आधार आवश्यक है। साथ ही हमको यह भी याद रखना है कि कई सौ वर्षोंका मुसलमानी संसर्ग और मुसलमानी राज्य बिना प्रभाव डाले नहीं रहे हैं। सभी प्रान्तोंकी भाषाओंमें फारसी और अरबीके बहुतेरे शब्द आ गये हैं और प्रचलित हो गये है, विशेषकर उत्तर भारतमें उर्दूके द्वारा उनका और भी प्रचार हो गया है। आज उनको प्रान्तीय भाषाओंमेंसे अथवा राष्ट्रभाषामेंसे निकालना उन भाषाओंको दुर्बल बना देगा। इसलिये इन सब दृष्टिकोणोंसे इस जटिल प्रश्न पर ठण्डे दिलसे विचार करना चाहिये।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। प्रचलित शब्दोंका तो हम बहिष्कार नहीं करें पर आज नित नये वैज्ञानिक विचार, यंत्र और भावनायें हमारे सामने आ रही हैं, उनके लिये उपयुक्त नये शब्दोंको बनाना पड़ता है। कुछ तो ऐसे भी हैं जिनके पर्यायवाची शब्द संस्कृतमें मिलते हैं। हो सकता है कि अरबी और फारसीमें भी हों पर हिन्दीमें न तो संस्कृतका ही शब्द और न फारसी-अरबीका ही आज प्रचलित है। ऐसी अवस्थामें क्या संस्कृतके आधार पर नये शब्द गढ़ें अथवा फारसी और अरबीके आधार पर ? और संस्कृतके शब्दोंको के लें अथवा फारसी या अरबीके शब्दोंको ? मैं समझता हूं कि ऐसी अवस्थामें हमको संस्कृतका आश्रय लेना उचित है। और राष्ट्रभाषाको उसी का आश्रय लेना चाहिये। सिर्फ यह ख्याल रहे कि यथासाध्य उनका स्वरूप आसान अथवा तद्भव हो। मैंने ऊपर जो कुछ कहा है, वह केवल प्रचलित शब्दोंके सम्बन्धमें ही है।

संस्कृतके आधार पर

मैं अपने विचारोंको दो-तीन वाक्योंमें रख देना चाहता हूं जिससे उन पर विद्वानोंका ध्यान जा सके।

(१) राष्ट्रभाषाके लिये बहिष्कारकी नीति अनुचित और हानिकर है। जितने शब्द प्रचलित हैं चाहे वह कहींसे आये हों प्रचलित रहने ही चाहियें।

(२) नये शब्दोंको भी लेनेमें हिचकिचाना नहीं चाहिये। वह विदेशी भाषाओंसे, भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित भाषाओंसे और गांवोंकी बोलियोंसे लिये जा सकते हैं।

(३) हिन्दीका व्याकरण ही राष्ट्रभाषाका व्याकरण है और रहना भी चाहिये, इसमें अहिन्दी प्रान्तोंकी सुविधाके लिये अगर छोटामोटा परिवर्तन आवश्यक समझा जाय तो उसे करना चाहिये पर व्याकरण के मौलिक सिद्धान्त ज्योंके त्यों रहने चाहियें।

(४) जो विदेशी शब्द लिये जांय उनको राष्ट्रभाषाका जामा पहना लेना होगा और राष्ट्रभाषामें घुल मिल जाना होगा। वह अपने पैतृक नियमोंका बोझ राष्ट्रभाषा पर नहीं डालने पायें।

(५) साधारण शब्दोंके अतिरिक्त ऐसे परिभाषिक शब्द जो हिन्दीमें प्रचलित नहीं है वे संस्कृतके आधार पर ही लिये जा सकते हैं क्योंकि उनका वही रूप अधिक परिचित हो सकेगा और जल्द हो सकेगा।

(विश्वमित्र १ ली अगस्त १९४७)

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी—

[माननीय श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारियरजी अहिन्दी प्रान्तमें हिन्दीको सरकारी तौरपर राष्ट्रभाषा बनानेमें सबसे प्रमुख रहे। सन् १९३७-३८ में, जबकि भारत स्वाधीनता संग्राममें जुटा हुआ था, तभी उन्होंने हिन्दीकी उपयोगिता का अनुभव कर लिया था, और इसीलिये उसे कार्यरूपमें तत्काल परिणत भी कर दिया। उनके सामने हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानीकी समस्या नहीं थी। वे इन तीनों नामोंमेंसे किसी नाम को भी हिन्दीका पर्यायवाची मानते थे। इस ओर उनका यह सुझाव बहुत ही उपयुक्त एवं विचारणीय है कि उर्दू भाषाका सँबंध मुसलमानोंके धर्मसे कोई सरोकार नहीं रखता। इस्लामकी धार्मिक भाषा तो अरबी है, फारसी भी नहीं। उर्दूकी उत्पत्तिका उल्लेख करते हुए श्री राजगोपालाचारियरजीने अकबरके हिन्दू अर्थ सचिवको उर्दूका जन्मदाता माना है। उर्दू भाषा और उसके साहित्यका इतिहास उनके

इस मतका समर्थन नहीं करता। वे उसी भाषाको हिन्दी, हिन्दुस्तानी जानते हैं जिसे भारतकी सर्वाधिक जनता बोल लेती है और समझ लेती है ।]

मद्रास असेम्बलीमें खान बहादुर खलीफुल्लाह साहबने हिन्दीका विरोध करते हुए कहा कि उर्दूको भारतकी राष्ट्रभाषा होना चाहिये न कि हिन्दी को। माननीय चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (उस समय मद्रासके प्रधान मन्त्री थे) ने विरोधी दलकी आपत्तियोंका उत्तर देते हुए कहा कि सरकार हिन्दी-शिक्षाकी स्वीकृति आपसमें काम चलानेके लिये दे रही है। इसके द्वारा उत्तर और दक्षिणके कार्यमें, तथा भाव विनिमयमें सुविधा होगी। उन्होंने मुसलमानोंके भ्रमके संबंधमें कहा कि यह बिलकुल भ्रमात्मक धारणा है कि उर्दूकी उत्पत्ति इस्लाम से हुई है। उर्दूको इस्लाम और हिन्दीको हिन्दू-भाषा मानना बिलकुल गलत है। अकबरके अर्थ सचिवने उर्दूको बनाया और व्यवहारमें लिया। जिस भी लिपिमें लिखी जाय, भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी है, इसके नामसे भी ऐसा ही बोध होता है। अतः ये विरोधी आन्दोलन भ्रमात्मक धारणाओंके कारण ही हुए हैं।

(अमृत बाजार पत्रिका मार्च २१-१९३८)

In the Madras Assembly to-day, the singing of "Vande Mataram" and compulsory introduction of Hindi in schools formed the main subjects of discussion during the debate on the budget demand for a grant of Rs. 199,49,400 under Education.

Several Muslim members, headed by Khan Bahadur Khalifullah Saheb, ex-interim Minister, opposed compulsory introduction of Hindi in Schools, which they characterised as a "foreign language".

Khan Bahadur Khaliffullah declared: "If there should be a common language for India at all, it should be Urdu

and not Hindi. The Government have no mandate from the electorate that Hindi should be made a compulsory language. Had they stated this intention of theirs at the time of the election, I am afraid they, would not have been elected to the places they occupy now".

Referring to the Wardha scheme of education, the Muslim members conceded that education should be vocational, but entertained misgivings about the theory of making it self-supporting. They felt gratified that the latter theory was not a live issue to day.

PREMIER'S REPLY.

The Hon'ble Mr.-C. Rajagopalachariar, Premier, replying to the Opposition's objections to the introduction of Hindi, said that Government's policy in this respect was merely aimed at imparting a working Knowledge or Hindi, which was spoken in a major part of India to students of this presidency, so that communication between the south and north might, be facilitated. There was no question of evolving a common language for India at present. He said that the agitation against Hindi on the part of Muslims was based on misunderstanding, and he would meet them half-way by making the script for the study of Hindusthani optional for Muslim boys.

A WRONG IMPRESSION

Concluding, the Hon'ble Premier said that Muslims were under an utterly wrong impression when they thought that Urdu was their own language and had its origin in Islam. He said. "Let nobody imagine that Urdu is Islam

and Hindi is a Hindi language. Urdu has nothing to do with Islam. In fact, it was the Hindi Finance Minister of Akbar that founded and put into use Urdu. Even to-day in the Punjab Urdu is used both by Hindus and Muslims. In whatever script it is written, Hindusthani is the language of India as its very name implies. Therefore, all agitation in regard to this is based on misconception",

After Dr. P, Subbarayan, Education, Minister, had replied to the debate the demand was put to the vote of the House and carried.—United Press.

(Amrita Bazar Patrika- 1938)

तिलक घाट पर हिन्दीके समर्थनमें एक विराट जन सभाके सम्मुख माननीय श्री राजगोपालाचारी मद्रासके प्रधान मन्त्रीने घोषित किया था कि "मद्रास लेजिस्लेचर के दोनों भवनोंने पूर्णरूपसे विचार करनेके पश्चात् हिन्दुस्तानीके पक्षमें निर्णय किया है। यदि हम इससे पीछे हटते हैं तो हम सरकारमें स्थान पानेके योग्य नहीं हैं। × × ×

Presiding over the huge gathering at the Tilak ghat organised in support of the Madras Govt's decision to introduce Hindi in Secondary schools, the Honble Mr. Rajagopalachariar, the prime minister, declared, "Both the houses of Madras legislature have after full consideration decided in favour of introducing Hindustani and if we shirk our duty to translate the verdict, we do not deserve our place in the Government.,' × × ×

(Calcutta Hindi Club. Bulletin, September 1938.)

डा० राजन—

[डा० राजनके निम्नलिखित विचारसे प्रकट हो जाता है कि हिन्दी ही एकमात्र भाषा है जिसके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय कार्य सुचारु रूपसे चल सकता है। अबसे दस साल पहले ही उन्होंने अनुमान किया था कि जब "भारत के भाग्यविधाता राष्ट्रकी वाणी हिन्दीमें व्याख्यान देते होंगे, उस समय हिन्दी न जानने वाले सदस्य वहां बैठकर क्या करेंगे ?" भारतकी राजनीतिक श्रृङ्खलामें हिन्दी एक वह अविच्छिन्न कड़ी है, जिसे निकाल देने पर सारी भारतीय संस्कृति और राजनीतिक एकता बिखर जाएँगी।]

मैसूरकी हिन्दी-प्रचार सभाके एक अधिवेशनमें डा० राजन ने भाषण देते हुए कहा था कि जिस समय मद्रास प्रान्तकी सरकारने अपने स्कूलोंमें हिन्दी शिक्षा अनिवार्य कर दी थी, उस समय विरोधी पक्षने इसका जबर्दस्त विरोध किया था। उनकी एक या शायद सबसे अधिक जोरदार दलील यह थी कि मद्रास प्रान्त की सरकारके मंत्री मंडलमें ऐसे कितने व्यक्ति हैं जो हिन्दी जाननेका दावा कर सकते हैं ? और, जब वे स्वयं इस भाषाको नहीं जानते तो उन्हें क्या अधिकार है कि प्रान्तके बच्चों पर इस प्रकारका अत्याचार करें ? इसकी आलोचना करते हुए डा० राजनने कहा था कि उपर्युक्त दलील कितनी लचर है, इसका अन्दाजा इसीसे लग सकता है कि विरोधीपक्षने यह भी न समझा कि मंत्रियोंका हिन्दी न जानना यही तो सबसे बड़ा कारण है, जिसने उन्हें प्रेरित किया कि वे हिन्दीको शिक्षाक्रममें अनिवार्य बना दें। आज जिस हीनताका अनुभव मंत्रीमंडल कर रहा है, वह कैसे गवारा कर सकता है कि प्रान्तकी भावी संतान इस हीनताका शिकार बनी रहे। हिंन्दी आन्दोलनकी आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि जहां तक मैं देखता हूँ आजके राष्ट्रीय जागरणकी भावनाके साथ इसका आद्यांत समन्वय है। यह आन्दोलन केवल दक्षिण को ही चीज़ नहीं वरन्, यदि आंख खोल कर देखा जाय तो देशव्यापी है।

प्रांतीय भाषाओंसे या किसीकी मातृभाषासे हिन्दी प्रचार आन्दोलनका कोई विरोध नहीं, क्योंकि जैसा उन्होंने बताया कि वे आजसे लगभग दस वर्ष पहले यह

प्रत्यक्ष देख रहे थे कि राष्ट्रकी स्वाधीनता अवश्यंभावी है और स्वाधीन भारतका राज्यशासन एक संघके ही रूपमें होगा। उसकी ओर लक्ष्य करते हुए उन्होंने निर्भीकतासे घोषित किया था कि उस संघकी भाषा केवल वही हो सकती है जो देश के अधिकांश लोगोंके द्वारा समझी या बोली जाती है। और वह भाषा न कन्नड़ है, न तामिल और न अंगरेजी। वरन् वह होगी केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी। संघके मैसूर प्रांतके भावी सदस्योंकी ओर इशारा करते हुए उन्होंने पूछा कि जिस समय राष्ट्रसंघकी बैठकमें राष्ट्रके भाग्यविधाता राष्ट्रकी वाणी हिन्दीमें व्याख्यान देते होंगे, उस समय हिन्दी न जानने वाले यहांके सदस्य वहां बैठ कर क्या करेंगे ? इसीलिये उन्होंने कहा कि मैं ज़ोर देता हूँ कि इस शोचनीय परिस्थितिसे बचनेका केवल एक उपाय है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी शीघ्रसे शीघ्र सीख ली जाय। मैसूरका निवासी यदि मुझसे पूछे कि उसे हिन्दुस्तानी क्यों सीखनी चाहिये, तो मैं उससे इतना ही कहूँगा कि वह मैसूरकी उत्तर दिशामें कुछ मील ऊपर चला जाय और वह स्वयं अनुभव कर लेगा कि वहांका सारा जनसमुदाय जिन भाषाओंमें अपने जीवनका व्यापार सम्पादित करता है, वे हिन्दीके ही एक न एक रूप हैं और उसके साथ उसका निर्वाह बिना हिन्दी सीखे संभव नहीं।

Hindi—Common Language of India.

Dr. Rajan's Address at Mysore.

The Hon. Dr. T. S. S. Rajan, Minister for public Health, Madras Government, presided over the prize distribution function held here in connection with the Summer Camp for Hindi at the Town Hall. A large gathering of ladies and gentleman was present.

The Hon- Dr. T. S. S. Rajan, in the course of his speech, observed that nowadays there were summer classes for various activities in life, like summer classes for rural education work, for physical education and for music,

and he might add to this list the summer classes for Hindi, He did not know of summer was the season specially suited for the Indians for acquisition of knowledge. These activities were, he added, indication of an awakening of National life throughout the length and breadth of the country while officialdom took rest, public life and nationalism sought various avenues of self-expression One such activity which bore the stamp of a national character was this summer course for Hindi

I was rather strange, Dr. Rajan continued, that he should address a Kanarese audience in a foreign language. But that seemed inevitable. They might be interested to know, he said, that the Government of Madras had made the study of Hindi compulsory in three forms of the middle-classes. Sometime ago, a curious questionnaire was raised in one of the papers, not very friendly to Hindi movement, to the effect as to how many of the Ministers in the Government of Madras knew Hindi. Logic would have it that the Government that had forced Hindi on a population through their schools should themselves be conversant with the language which they were imposing upon the people. But this logic was one which none of them thought worthy of any attention. Now everyone knew that the Hindi movement was in its infancy and the very fact that the Ministers themselves were not quite conversant with that language should how much they felt the necessity for learning that language. By so doing, they had indicated to the future citizens of the country that the common language of India would hereafter be Hindi or

Hindustani. One of the basic structures in a nationalistic endeavour was a common language which should be understood by the people of the country from one end to the other. That was the fundamental principle on which the Hindustani movement was based.

Dr. Rajan, continuing, observed that language was the expression of thought and even animals, birds and all created beings would find their own language. The speaker explained now this language had diveloped in a particular manner and according to environments. He also explained how the language of the eye was more powerfull than even words, particularly when the eyes of two lovers met.

Proceeding, Dr. Rajan, invited the attention of the people to the fact that in a country which was much smaller than four districts of Mysore (Switzerland), four different languages were being spoken and taught. In modern education, one who knew more than one language was considered to be a thoroughly educated and cultured man. In England, they would find that Greek, Latin and German were being taught in all the schools. In a small country like Denmark, children were obliged to learn three languages. Another fundamental principle, to which he would call their attention, was that language did not retian the same type or pattern as it was originally framed. They would find proof of this in any of the languages of this country like either Tamil, or Kannada or even English. The Tamil of to-day was not the Tamil language of five

hundred years ago. The English that every one of them spoke and wrote was not the English of five hundred years ago.

Dr. Rajan emphasised that language grew along with mankind. One could easily find out the process of absorption and developments taking place in the languages of the world. No man or woman with common sense could say that his or her language was pure or perfect. Therefore, it was that the study of languages was interesting and in a way it was an index of human progress. Taking the history of Mysore State and the languages sponken here, the Hon. Dr. Rajan said that, if Kannada did not absorb in itself all those new features which one saw all round then that language would cease to become a progerssive one. It was from this point of view that the spesches looked upon this Hindustani movement, consonant with the spirit of nationalism developing as comperhensive All-India movement, consonant with the spirit of nationalism developing in this country.

If Mysore showed this eagerness for the study of Hindustani, Dr. Rajan continued, he saw in it the desire of the people of this State to share in the full national life of the country. Yesterday it was a pleasure for him to witness the proceedings of the Repersentative Assembly which were conducted in their mother-tongue. Although the session began in all form with English language, it was indeed a great pleasure for him to see that, after the first performance was over, the whole Assembly went back

to the 'lap of the mother and revelled itself in the language of its mother.'

Continuing, Dr. Rajan said : "I heard your illustrious Dewan Sir Mirza M. Ismail's address to the members of the Representative Assembly. It was a pleasure for me to see that the idea of Federated India appealed to the Dewan in such enthusiastic manner. Such energy and enthusiasism for the Federation of this contry is certainly justified in the State of Mysore. But I may tell you that tha language of the Federation is going to be one that every one can understand and it cannot be either Kannada or Tamil or even English, but it is going to be Hindustani, Imagine the plight of Mysore Councillors proceeding to the Imperial capital at Delhi and trying to understand the proceedings and participating in of following them. You may take it from me that the language of the Federal Assembly which will be the real Assembly of the nationalistic elements of our country shall be Hindustani and no other language."

The Hon. Dr. Rajan, continuing observed that, when he said these things, it should not mean he did not like the English language at all. In fact, he studided English even at the neglect of his own mother-tongue, and even at the neglect of Hindustani which he was preaching so loudly. His ideas of unity, nationalism and patriotism were all derived from the study of the English language. He was thankful to that language to that extent. But he refused to recognise it as his mother-tongue, not only of his province but also of the whole of India, "It is the

language of my bondage", he said. "Therefore I feel small that my country is still humiliated. I feel that the people of this land are still humiliated and I shall feel humiliated until the country is able to express its thoughts in its own mother-tongue Therefore, while talking of the language, it has become incumbent on every citizen to study the language of not only of this province but the whole country to which he belongs. That is why I feel so pleased to see so many boys and girls taking part in these activities—more girls than boys in this national endeavour. A few days ago speaking to women of Mysore, I laid great emphasis on the efforts made by women towards the national regeneration of this land and if our women would take to the mother tongue also, I am prehy certain of the future of this country."

Dr. Rajan further suggested that men should be elected to the Mysore Representative Assembly and women of Mysore should go as representatives to the Federal Central Assembly. He was perfectly certain that their women folk could give a good account of themselves if not better than men in these assemblies. He had always this feeling that the national re-construction work in India to-day would have had a better future and a more sustaining future, if only the movement had been entirely in the hands of women of the country. Then there would less of talk less of difference of opinion, less effusion and noise and there would be plenly of constructive effort. He was very glad to find a friendly and sympathetic atmosphere in Mysore for the study of Hindustani. Fortunately no political

conflict had been brought into this national reconstruction effort. If the Government of Mysore were waiting for indication of the popularity of Hindustani in this province, they might rest assured that this evening's function of the Hindi Prachar Sabha of Mysore would show that people as a class, men and women, desired to study this language. If Mysore wanted to participate in the Federation of India, this State must realise the significance of this language, namely, a knowledge of Hindustani being as much a qualification for Federation as any other political qualification. If Mysore could aspire for a seat in the Councils of the Indian nation, if she should have representation in all those educational and academic endeavours of Indian nation, this State would soon find the knowledge of Hindustani an absolute necessity, for not only to Mysore but for all parts of this land which had not got Hindustani as its common language. If they wanted any evidence as to why Hindustani should be preferred to other languages, he would only ask them to go a little to the north of Mysore and there they would find that a majority of the people spoke this language in one form or another and that it was easily understood by a large number of people from the Himalayas to Cape Comorin.

Continuing Dr. Rajan said that he did not say that Hindustani would ever take the place of the mother-tongue, but what he would emphasise was that it would be the language of inter-provincial communication, the language of Indian Nationalism. It would be the language, as it was to-day, of two great limbs of the Indian race—the

Hindu and the Muslim. Therefore, if there was a language that could claim to be called the common language for India, and if anyone was asked about the one language that all could understand then it must be the proud privilege of every Indian to say it was Hindustani.

Continuing the Hon. Dr. Rajan pointed out that emancipation of India was not entirely a political question, he believed that India has a national culture and tradition which she had, yet to give to the world. The basic cult of love, of free thought, and of free interpretation constituted a rich heritage of the Indian nation. India had never shut out the refugees who swarmed here ages ago. The standing historic symbol of the Indian generosity was the large Persian race in India. Muhamadens of Arabia, Turkistan and Persia had come and settled down in this land as brothers and the Indian civilisation had thus got the benefit of the impect of Islamic culture. The presecuted Jews of Europe were now enjoying in India the hospitality which has denied to them in many parts of the civilised world. Indians might have lost their political freedom, might have been enslaved for centuries and might be physically powerless. But this broad and national sentiment of hospitality was always there, in tune with the simple ideals of her people. All these great thoughts and living sentiments had got to be transmitted to other nations of the world. Were they going to give it, Dr. Rajan asked, in about 150 different languages or were they going to give it in one laguage of the entire nation ? The answer was they would do so only through Hindustani.

Viewed from any point of view, political, educational, national, Dr. Rajan concluded, they would find the claim for spreading Hindustani language in this country was one that no sane man could dispute. He then congratulated the Hindi Prachar Sabha on the successful work they had been carrying on and also the Mysore Government fot the encouragement they were giving for the study of Hindi, and expressed the hope that he was looking forward to the day when it would be made a compulsory study in all the schools of the State.

Mr. Amble Subramania Aiyar proposed a vote of thanks and the function concluded.

श्रीमती अम्बुजम्माल—

[श्रीमती अम्बुजम्मालके इस भाषणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत, राष्ट्रभाषा हिन्दीके लिए क्या सोचता है ।]

भाइयो और बहिनो, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभाके प्रवर्त्तक तथा अन्य मित्रोंने इस हिन्दी प्रचारके आठवें सम्मेलनकी अध्यक्षा चुनकर मुझे जो बड़ा आदर दिया है और सभी प्रचारक प्रचारिकाओंसे परिचय प्राप्त करनेका मौका प्रदान किया है ; उसके लिये मैं उनका बड़ा एहसान मानती हूँ। × × × ×

× × × हिन्दी भाषाके प्रति मेरा जो प्रेम है, मेरे दिलमें जो आशा बँध गयी है कि हिन्दीके द्वारा ही भिन्न-भिन्न प्रान्त एक सूत्रमें पिरोये जा सकते हैं और इस माध्यमके द्वारा ही भिन्न-भिन्न भाषा-भाषीके हृदयमें ऐक्यकी भावना जागृत हो सकती है, उससे प्रेरित होकर और इस ख्यालसे कि जो भाई और बहन आज अपने राष्ट्रके इस जरूरी काम में तन मनसे लगे हुए हैं, उनका वचन मानना मेरा फ़र्ज़ है, मैंने इस पदको स्वीकार किया है । × × ×

× × × कुछ दिनसे चन्द तामिल भाषा-प्रेमी हिन्दीके खिलाफ़ बड़ा आन्दोलन मचा रहे हैं। उनकी दलील है कि अनिवार्य पढ़ाईसे तामिल भाषाको बहुत हानि होगी। इस तरह भय खानेकी कोई ज़रूरत मुझे तो नहीं मालूम पड़ती।

जो राष्ट्रीय भाषा मानी जाती है, जो अपने ही देशके आम लोगोंकी एक सर्वसामान्य तथा सरल भाषा है, जो हिन्दुस्तानमें अधिकसे अधिक बोली जाती है, उसमें मामूली ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकाध बरस तक दिनमें पचीस-तीस मिनट खर्च करनेसे क्या तामिलका बड़ा नुकसान हो जायगा ? कभी नहीं। बल्कि यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हिन्दी प्रचारने प्रजाके मनमें अंग्रेजी मोहको कुछ हद तक हटाकर उसके प्राणको खतरेसे उबार लिया है। क्योंकि अगर अभी हमारे दिलमें देशके प्रति, अपनी मातृभाषाके प्रति अपनी पुरानी संस्कृतिके प्रति, कुछ प्रेम, कुछ आदर रह गया है तो वह उन महापुरुषोंके प्रयत्नका ही फल है, जिन महापुरुषोंने देशमें राष्ट्रीयताका भाव फैलाकर, देशकी आजादीके लिये समाजकी उन्नतिके लिये, कुछ काम करके दिखा दिया है।

देवनागरी लिपिके बारेमें भी यहाँ कुछ चर्चा करना असंगत न होगा। कुछ लोगोंकी राय है कि हिन्दी सीखनेके लिये देवनागरी लिपि सीखनेकी कोई ज़रूरत नहीं है। यह भाषा रोमन, या मातृ भाषाकी लिपिके जरिये सिखाई जा सकती है, मगर मेरी समझमें इससे लाभ तो कुछ न होगा ; हाँ, नुकसान हो सकता है।

मेरा यह अनुभव है कि नागरी लिपि सीखनेमें पन्द्रह दिनसे अधिक समय नहीं लगता है। लिपि सीख लेने पर भाषा सीखना कहीं सुलभ हो जाता है। वही भाषा दूसरी लिपिमें सीखनेसे अन्ततः समय अधिक लगेगा। भाषाकी सुन्दरता ग्रहण करना कठिन हो जायगा और हम मूल ग्रन्थोंकी खूबीको समझनेसे वंचित रह जायेंगे। इस लिपिको सीखनेके लिये थोड़ा समय लगाना वक्त खोना नहीं, बल्कि भाषा-ज्ञानके महलको खड़ा करनेकी नींव डालना है।

अब मैं हिन्दी-प्रेमियोंसे तथा इस सभाके प्रचारकोंसे यह निवेदन करना चाहती हूँ कि हिन्दीके प्रति झूठे भय जो आज कुछ लोगोंके मनमें फैल रहे हैं, उनका प्रतिवाद करते हुए भी किसी तरह मातृभाषा-प्रेमियोंका दिल न दुखावें।

जो भाई सुदूर भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें जाकर हिन्दीके क्षेत्रमें अच्छा काम कर रहे हैं, उनसे मैं यह आशा रखती हूँ कि वे उस प्रान्तकी पुरानी संस्कृति, रस्मोरिवाज़, चाल-चलन आदिको-ख्यालमें रखकर अपना काम चलायें, और आप खुद प्रान्तीय भाषा सीखकर उसका आदर करें।

सभी हिन्दी प्रचारकोंसे मेरा यह साग्रह अनुरोध है कि वे अपनी जिम्मेदारीको अच्छी तरहसे समझें। हिन्दीका अपना ज्ञान दिन-दिन बढ़ानेकी कोशिश करें, पढ़ानेके आधुनिक ढंगको अख्तियार करें। हमेशा इस धुनमें रहें कि किस तरह हिन्दी सीखनेवालोंकी कठिनाइयोंको आसान किया जा सकता है। संक्षेपमें आप सच्चे अध्यापक, सच्चे सेवक बननेकी कोशिश करें। आपके रहन-सहन, चरित्र और सेवा-भावसे लोगोंको प्रभावित होना चाहिये। आपके इस प्रयत्नसे आपका नाम होगा और राष्ट्रका काम।

आप मिशनरी हैं। आपका मिशन है भारत राष्ट्रको एक ज़बान देना। आपका यह मिशन बहुत ही महत् है; अतः आपको भी महान् बनना पड़ेगा। आपको त्याग करना पड़ेगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप अपने व्रत पर तब तक अटल रहेंगे जब तक कि आपका उद्देश्य पूर्ण न हो जाय। भगवान् आपको अपने इस सदुद्देश्यमें सफलता दें।

(आठवें दक्षिण भारत हिन्दी प्रचारक सम्मेलन मद्रासके अध्यक्ष पदसे प्रदत्त भाषण २८-१२-३७)

डा० श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी—

[डा० श्री श्यामाप्रसाद मुखोपाध्यायजीके इस वक्तव्यके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि वे भी हिन्दी सीखना प्रत्येक भारतीयके लिए आवश्यक समझते हैं। आपने रोमन लिपिका प्रतिपादन किया है, मगर इसे व्यवहारमें लाना कोई भी भारतीय पसन्द नहीं करेगा, जब कि इसे संसारकी सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि प्राप्त है।]

दिल्लीमें स्थित बंगालियों द्वारा आयोजित एक साहित्यिक सभामें शिल्प-उद्योगके मंत्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जीने कहा था कि 'यद्यपि प्रत्येक भारतीयको हिन्दी सीखनी चाहिए, तथापि अपनी प्रान्तीय भाषाकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।' प्रत्येक प्रान्तकी सरकार अपनी प्रान्तीय भाषाओंको प्रोत्साहन देगी तथा रोमन लिपिको अन्तर्राष्ट्रीय भावोंके आदान प्रदानके लिये अपनाएगी। × × ×

(डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी—२५ नवम्बर, '४७, अमृत बजार पत्रिका)

INTER-CHANGE OF THOUGHTS.
Provinces Urged To Adopt Roman Scrip.

Dr. S. P. Mookherjee, Minister for Industries and Supplies, Government of India, addressing a literary conference organised by the Bengal residents of New Delhi this evening, congratulated the West Bengal Government on adopting Bengali as the Court Language of the Province. Dr. Mookherjee also urged other Provincial Governments to encourage the development of their respective Provincial languages and suggested introduction of Roman script for the purpose of inter-changing India's thoughts and culture with foreign countries.

"Though every Indian should learn to speak in Hindi", Dr. Mookherjee said, he must not disregard his own Provincial language and should try to enrich it. × × ×

(Amrit Bazar Patrika, Nov. 23rd 1947).

आचार्य श्री काका कालेलकर—

[आचार्य कालेलकरजीके निबंध तथा भाषणके निम्नलिखित अंशोंसे समझनेमें देर न लगेगी कि सन् १९१७ से लेकर (अवश्य ही उसके बहुत पहलेसे भी) पिछले कुछ वर्षों तक अर्थात् अपने जीवनके अधिकांश समय

तक आपने हिन्दीका यथार्थ मूल्य समझा था। उस समयके तथा अबके विचार तथा कार्य-क्रममें उल्लेखनीय अन्तर है। जीवनके दीर्घांशके अनुभवको ठीक समझा जाय अथवा आजके राजनीतिक युगमें कुछ-कर-गुजरनेको ? १९३६ का भाषण देते समय तक हिन्दी और हिन्दुस्तानीमें कोई अन्तर नहीं था, किन्तु सहसा इधर पिछले दिनोंकी राजनीतिक कलाबाजियोंने आपको 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' के महागम्भीर अन्तरका इलहाम करा दिया !]

भारतवर्षकी राष्ट्र-भाषा

हमारा आशय—

हमारा प्रयत्न भारतवर्षको एक भाषा-भाषी बनानेका नहीं है। हमारा आशय यह नहीं है कि हिन्दुस्तानके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंकी भाषाएँ नष्ट हो जायँ और एक ही भाषा रहे। भारतवर्ष जैसे विशाल राष्ट्रकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये भिन्न-भिन्न गुण-स्वभाव वाली जातियोंकी जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता भारतीय संस्कृतिको सर्वतोमुखी विकासके लिये भिन्न-भिन्न भाषाओंकी भी है। किन्तु जिस प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंमें विचरण करने वाला मन एक ही है, फिर भी उसके कारण सारे शरीरमें एकरूपता और एक प्राणका संचार होता रहता है, उसी प्रकार आज भारतवर्षमें एक राष्ट्रीयताकी भावनाको जागृत और व्यक्त करनेके लिये एक राष्ट्रीय भाषाकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई है। बहुत प्राचीन कालसे भारतमें प्रयत्न-पूर्वक राष्ट्रीय भाषाका निर्माण और विकास किया गया है। जब भारतीय राष्ट्र सशक्त था, सुसंस्कृत था, अखिल जगत्में श्रेष्ठ था, तब भारतवर्षके उत्तमोत्तम विचार, आर्योंके काव्य और उनका तत्वज्ञान, उनके पराक्रमोंके वर्णन और उनके शास्त्रीय आविष्कारों और शोध आदिका सारा इतिहास एक शुद्ध, उदात्त और संस्कृत भाषामें लिखा जाता था ; और इसी कारण उस भाषाको देववाणीका गौरवपूर्ण पद प्राप्त हुआ था। × × ×

× × × आज राष्ट्रीय जीवन फिरसे जोरोंके साथ फुफकार मारनेका प्रयत्न कर रहा है, जिसे व्यक्त करनेके लिये राष्ट्रीय भाषाकी आवश्यकता उत्पन्न हुई है और हमारे सामने यह अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न उपस्थित हो गया है कि वह राष्ट्रीय भाषा कौन-सी हो सकती है ? जो इस महान् सिद्धान्तको मानते हैं कि राष्ट्रकी उन्नति उसकी पूर्वपरम्पराके अनुसार ही हो सकती है, उन्हें यह सिद्ध करके बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि आजकी हमारी राष्ट्र-भाषा संस्कृत भाषाकी परम्पराके अनुसार ही होनी चाहिये । × × ×

राष्ट्र-भाषा बनाम अंग्रेजी—

× × × अंग्रेज लोग यहाँ अपना घर बना कर नहीं रहे हैं । वे तो यहाँ केवल शासकके रूपमें रहते हैं । वे भारत-सन्तान नहीं बनना चाहते और इसीलिये उनकी भाषाकी जड़ भी यहाँ कभी नहीं जमेगी । जिस प्रकार अंग्रेजोंकी संस्कृतिका प्रभाव हम पर पड़ता है, फिर भी अंग्रेज लोग हमारे साथ रहते नहीं, हममें मिलते-जुलते नहीं, उसी प्रकार अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजोंकी विचार-शैलीका प्रभाव भले हम पर पड़े, किन्तु यह संभव नहीं कि अंग्रेजी भाषा हिन्दुस्तानकी राष्ट्र-भाषा बने और बन कर स्थिर रहे । राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही बन सकती है । × × ×

उसकी सर्व व्यापकता—

× × × यह सिद्ध हो जानेके बाद कि देशी भाषाओंमेंसे ही कोई एक भाषा राष्ट्र-भाषा बननी चाहिये, हिन्दीका अधिक समर्थन करनेकी बहुत आवश्यकता ही नहीं रहती । संभव, असंभवका विचार तो केवल सुशिक्षित लोग ही करते हैं । जन-साधारण तो इस प्रश्नको बहुत पहलेसे हल कर चुके हैं । यह प्रतीत होने पर भी कि अमुक बात इष्ट है, बैठे-बैठे उसकी शक्याशक्यताका विचार करते रहना तो हमारी कायरताका सूचक है । इस तरहके चिन्तनमें समयकी बरबादी तो वही लोग करते हैं, जो प्रायः निर्जीव हो चुके हैं । ईमानदारीके साथ सारे हिन्दुस्तानमें ड्योढ़ीवानकी नौकरी करने वाला हमारा एक 'भैया' भी तो अपने उदाहरणसे ही यही सिद्ध करता है कि हिन्दी सब जगहकी और सब लोगोंकी भाषा बन सकती है ।

हिन्दुस्तानके अनेक पंथोंके साधु-सन्तोंने भी इस प्रश्नको हल किया है। किसी भी साधुसे आप बात करिये, वह आपसे हिन्दीमें ही बोलेगा, फिर भले वह बंगाली या मद्रासी ही क्यों न हो। हमारे यात्रियोंके अनुभवसे भी हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा ठहरती है। कैलाशसे रामेश्वर तक और द्वारिकासे कामाक्षी तक आपका सब काम हिन्दी द्वारा भली-भाँति चल सकता है।

प्रौढ़ साहित्य—

माना कि हिन्दुस्तानके अधिकांश लोग हिन्दी जानते हैं, फिर भी कुछ लोग पूछते हैं कि हिन्दीमें वह प्रौढ़ साहित्य कहाँ है कि जिससे वह राष्ट्र-भाषाका श्रेष्ठ पद प्राप्त कर सके? लेकिन यह सवाल ही गलत है कि हिन्दीमें प्रौढ़ साहित्य कहाँ है? आप सृष्टि-वर्णनकी किसी कविताको लें, शृंगार, वीर, करुण, भक्ति या अन्य कोई रस लें, दुनियाकी किसी भी भाषासे हिन्दी इस विषयमें पीछे न रहेगी। जिस भाषामें तुलसीदासने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषामें कबीरने एकेश्वरी भक्ति-मार्गका प्रतिपादन किया, जिस भाषामें कृष्णके प्रति गोपियोंका प्रेम व्यक्त हुआ है, जिस भाषामें विचार-सागर जैसे वेदान्त-रत्नोंकी रचना हुई है, जिस भाषामें सूरदासका कविता-सागर हिलोरें ले रहा है और जिस भाषामें भूषण कविने गौ-ब्राह्मण-प्रति-पालक शिवाजीके प्रतापका वर्णन किया है, कौन कहेगा कि उस भाषाका साहित्य प्रौढ नहीं है? हो सकता है कि आधुनिक विज्ञान और अन्य शास्त्रीय शोधों पर हिन्दीमें पुस्तकें न हों, और इतिहास और राजनीतिकी मीमांसा करनेवाले ग्रन्थ भी उसमें न हों; लेकिन यह हिन्दीका दोष नहीं है। हमारे जीवनकी मध्ययुगीन एकांगिता ही इस स्थितिके लिये जिम्मेदार है। हमारे जीवनके व्यापक बनते ही हिन्दी भाषा बातकी बातमें इस ओर भी जोरोंसे अग्रसर हो जायगी। जिस भाषाने साहित्यके एक विभागमें अपनी क्षमता, अपना सामर्थ्य और उत्कर्ष सिद्ध किया है, उस भाषाके लिए यह शंका करना उचित ही नहीं कि वह अन्य विभागोंमें पिछड़ जायगी।

बहनोंकी सेवा—

× × × × बंगालकी अनेक विद्वतापूर्ण पुस्तकोंके हिन्दी रूपान्तर हुए हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आदि बंगालके पंडित और साधु अब हिन्दीका वेष धारण करके हमसे वार्तालाप करने लगे हैं। महाराष्ट्रके ज्ञानेश्वर और रामदास आदि भी हिन्दीमें अपने उपदेश हमें सुनाने लगे हैं। महाराष्ट्रके साथ ही तिलकका 'गीता रहस्य' उत्तरी हिन्दुस्थानको भी प्राप्त हुआ है। सरदेसाईके अनेक वर्षोंकी इतिहास-मीमांसाका फल हिन्दीको एक अनुवाद द्वारा ही प्राप्त हो चुका है। गुजरातके 'सरस्वतीचन्द्र' जैसे ग्रन्थ भी हिन्दीका बाना पहनकर गुजरातके विद्वज्जनोंकी प्रतिभाका परिचय दे रहे हैं। श्री. पढिआरकी पुस्तकोंके अनुवादने हिन्दी भाषी जन-साधारणको 'स्वर्गकी कुंजी' बता दी हैं। महात्मा गांधीका 'आरोग्य-साधन' भी हिन्दी वालोंके लिए सुलभ हो गया है।

छत्रपतिका राष्ट्र-भाषा प्रेम—

यद्यपि महाराष्ट्रमें हिन्दुस्तानकी राष्ट्र-भाषाके सम्बन्धमें कोई विशेष चर्चा नहीं होती है, तो भी महाराष्ट्रके लिये तो उसके आदि संस्थापकने इस प्रश्नको बहुत पहले से हल कर रक्खा है। हिन्दीके नवरत्नोंमेंसे एक रत्न श्री. भूषण कविको अपने दरबारमें बुलाकर और उन्हें अपना राज-कवि बनाकर जब श्री शिवाजी महाराजने उनको कन्याकुमारीसे हिमालय तककी यात्राके लिए भेजा, तभी उन्होंने हिन्दीको राष्ट्र-भाषाका स्थान दे दिया था, और यही कारण है कि इस युगमें भी सातवलेकर और खिवेकर, पराडकर और आगरकर, सप्रे, साठे और गर्दे—जैसे महाराष्ट्री भी निरन्तर हिन्दीकी सेवा कर रहे हैं और यह बात कोई आजकी और नई बात नहीं है। नामदेव, आदि महाराष्ट्रके साधुओंने भी हिन्दीमें पद्य-रचना की है। महाराष्ट्रके साधु नामदेव जातिके दर्जी थे, लेकिन उनकी हिन्दी कविता सिक्ख लोगोंके पवित्र धर्मग्रन्थोंमें सम्मिलित कर ली गई है।

गुजरातके हिन्दी-प्रेमी कवि—

मीराबाई, अखो, दयाराम, दलपतराय आदिने भी गुजरातकी ओरसे हिन्दीकी सेवामें अपना हिस्सा अर्पण किया है। गुजरातमें तो प्रेमानन्दके समयसे पहले लोगोंकी यही धारणा थी कि ग्रन्थकी रचना तो भाषा, अर्थात् व्रजभाषामें ही हो सकती है। प्रेमानन्दके बाद गुजराती भाषामें भी काव्य-रचना होने लगी; फिर भी प्रायः प्रत्येक प्राचीन कविने हिन्दीमें भी कुछ न कुछ लिखा ही है।

वह धन्वन्तरि—

यह सब तो हिन्दीकी सेवाकी बात हुई। लेकिन जो हिन्दी एक अर्सेसे उपेक्षित और क्षीण हो रही थी, उसे स्वाभिमानकी अमृत-संजीविनी पिलाकर उसमें नव-जीवनका संचार करानेवाला धन्वन्तरि तो गुजरातका ही एक सपूत था, यह जानकर किस गुजरातीको अभिमान न होगा ? स्वामी दयानन्दजीने हिन्दीको आर्यभाषाका गौरवयुक्त अभिधान प्रदान करके पंजाब जैसे पिछड़े हुए प्रान्तमें भी उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की है।

इस प्रकार गुजराती, महाराष्ट्री और बंगाली लोगोंने हिन्दीको अपनाकर उसकी जो सेवा की है, उससे उसकी प्रान्तीयता नष्ट हो गई है, और क्या शब्द-प्राचुर्यमें, क्या वाक्य-रचनाकी विविधतामें, और क्या विवेचन पद्धतिके सौष्ठवमें, हर तरह, हिन्दी आज गम्भीर, ललित, विपुलार्थवाही और राष्ट्रीय बनती जा रही है। × ×

हमारा कर्त्तव्य—

अतएव अब कायर पुरुषोंको परेशान रखनेवाली अनन्त शंकाओंसे अपना पिंड छुड़ाकर आज तो हमें प्रधान-रूपसे यही विचार करना चाहिये कि राष्ट्र-भाषाके रूपमें हिन्दीका प्रचार किस प्रकार सत्वर गति से हो। हिन्दुस्तानकी कौनसी भाषा राष्ट्र-भाषा बन सकती है, या हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने योग्य है या नहीं, इसका तो विचार करना ही अब निरर्थक है। देशमें प्रायः सभी जगह थोड़ी-बहुत हिन्दी तो समझी ही जाती है, किन्तु वर्त्तमान परिस्थितिको ध्यानमें रखते हुए आज तो इस बातके लिए प्रबल प्रयत्न होने चाहियें कि हम उस हिन्दीमें ही अपने हृदयके सब उदात्त विचारों और गूढ़ भावोंको व्यक्त कर सकें, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके पारस्परिक व्यवहारको बढ़ाकर राष्ट्रीय-संघटनको अधिक दृढ़ बनानेवाली, संस्कृति-साहित्यकी उत्तराधिकारिणी, हिन्दू-मुसलमानको समानरूपसे अपनी प्रतीत होनेवाली और इस देशकी अपनी भाषा है। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हमारे पाठ्यक्रमोंमें हिन्दीको पहला स्थान मिलना चाहिये। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षाके लिये हिन्दीका एक आवश्यक विषय ही माना जाना चाहिये। फिर प्रत्येक प्रांतवासी को राष्ट्रकी सेवाके लिये अपनी भाषाके उत्कृष्ट ग्रंथोंका हिन्दीमें अनुवाद करनेका प्रयत्न करना चाहिये। हरएक भारतवासीको यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जब

मातृभाषामें बातचीत करना संभव न हो, तब अंग्रेजीके बदले हिन्दीसे ही वह अपना काम चलावेगा। अखिल भारतीय प्रश्नोंकी जो चर्चा आज अंग्रेजीमें होती है, वह अब आमफहम हिन्दीमें होनी चाहिये। जो संस्थायें सब प्रान्तोंमें समान रूपसे काम कर रही हैं, उन्हें अपना सारा कारोबार हिन्दीमें ही चलाना चाहिये। उदाहरणके लिये ऐसी संस्थाओंमें काशीके हिन्दू विश्वविद्यालय, गोखलेजीके भारत-सेवक समाज, ताताके शास्त्र-शोधक विद्यापीठ, भारतवर्षीय महिला-विद्यापीठ, सकल-धर्म-परिषद्, राष्ट्रीय महासभा आदि-आदिका नाम लिया जा सकता है।

प्रान्तीय शिक्षाके लिये स्थापित संस्थायें प्रांतीय भाषामें शिक्षा दें, किन्तु अत्युच्च शिक्षाके लिये स्थापित अखिल भारतीय संस्थाओंमें तो शिक्षाका माध्यम हिन्दी ही होना चाहिये। हमारे मुसल्मान और ईसाई भाइयोंके हितके लिये कुरान और बाइबिलके अतिशय सरल अनुवाद हिन्दीमें शीघ्र ही प्रकट हो जायें, तो क्या ही अच्छा हो?

सरकार बनाम राष्ट्र-भाषा—

इतना कर चुकनेके बाद हम सरकारसे भी प्रांतीय कारोबारमें प्रांतकी भाषा और देशके साधारण शासन-कार्यमें हिन्दीका ही उपयोग करनेकी प्रार्थना कर सकते हैं, और वैसा करनेके लिये वह बाध्य भी की जा सकती है। सरकारसे हम यह भी आग्रह कर सकते हैं कि उसके जंगल-विभाग में, वैद्यक-विभागमें, पुरातत्व विभागमें, और जलवायु-विज्ञान-विभागमें हिन्दुस्तानके धनसे अनुसंधान और आविष्कारका जो भी कार्य हो रहा है, वह सब हिन्दुस्तानके किसानों और व्यापारियोंके उपयोगके लिये हिन्दीमें ही प्रकाशित किया जाय। लेकिन इसके लिये हमें लगनके साथ सतत पूरी कोशिश करनी होगी। हाथ पर हाथ धर बैठे रहने और निराशाके उद्‌गार प्रकट करनेसे कोई अर्थ न सरेगा। आरम्भ कर देनेसे ही सब कुछ हो सकता है। अगर प्रयत्न करेंगे, तो यश भी अवश्य ही प्राप्त होगा।

वादविवादों या शाब्दिक प्रमाणों द्वारा स्वराज्यके लिये अपनी योग्यता सिद्ध करनेकी अपेक्षा उत्तम तो यह है कि हम राष्ट्र-हितके उन कामोंको अपने हाथमें लें, जो अत्यन्त आवश्यक हैं, और जिन्हें सरकार कर नहीं रही है। जब सरकार हमारे इन कामोंको असंभव कर देगी, तब देख लिया जायगा। हिन्दीको राष्ट्र-भाषा

का पद देना, उसका प्रचार बढ़ाना और उसके साहित्यमें वृद्धि करना यह तो सरकार का भी कर्त्तव्य है। यदि सरकार स्वदेशी अर्थात् राष्ट्रीय होती, तो वह अवश्य ही ऐसा करती। मौजूदा सरकार यह सब नहीं कर रही है, इसलिये जो लोग स्वराज्यके अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे इस कार्यको अपने हाथमें लें, और स्वराज्यके लिये अपनी योग्यता सिद्ध कर बतावें। अपनी इस योग्यताका निर्णय पहले स्वयं हमें अपने लिये कर लेना चाहिये। फिर तो सरकारको भी उसका विश्वास हो जायगा। इस सिद्धिके लिये हिन्दीके प्रचारका यह सुवर्ण अवसर हमें प्राप्त हुआ है। हमें दुनियाको यह बता देना है कि हम जो चाहते हैं, सो कर भी सकते हैं। इसके द्वारा हमें अपने सामर्थ्यकी और अपनी संकल्प-शक्तिकी आत्मप्रतीति होगी, और होगी अभीष्ट मंगलफल की प्राप्ति भी। तथास्तु।

['भारतवर्षकी राष्ट्रभाषा', आचार्य श्री. काका कालेलकर, स्वागत-समिति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर सन् १९३५, कालेलकरजीने इस निबंधको १९१७ ई० में गुजरातकी शिक्षण परिषदमें पढ़ा था। अपनी प्रस्तावनामें इसका उल्लेख किया है।]

हिन्दुस्तानी और लिपि

× × × साहित्यका वाहन तो भाषा है। हम अपना कार्य किस भाषामें करेंगे? हम अपनी कार्यवाही किस लिपिमें लिखेंगे? जिन्होंने इस प्रवृत्तिका आरम्भ किया है वह इस निश्चय पर आ गये हैं कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी हिन्दुस्तानी में ही हमारा सारा व्यवहार चलेगा। यों तो प्रांतीय भाषाओंका और साहित्यका संगठन होनेसे इसका कार्य उन-उन प्रान्तोंमें वहाँकी भाषा और लिपिमें ही चलेगा। हमारा प्रयत्न है कि प्रान्तीय भाषाओंकी वर्णमाला एक ही होनेसे, तथा सबको नागरी लिपिका परिचय होनेसे वे अपना प्रान्तीय कार्य अपनी भाषा और नागरी लिपिमें करें। ऐसा होनेसे एक प्रान्तके कार्यको दूसरे प्रान्तमें हम आसानीसे समझ सकेंगे और हमारा संगठन अधिक सुलभ होगा। एक लिपिका प्रश्न हरएक प्रान्तीय भाषाको अपने इच्छानुसार हल करना है।

हम हिन्दी का ही माध्यम पसन्द करते हैं। इसके कई कारण हैं। पहला, कारण तो यह है, कि यह माध्यम स्वदेशी है। करोड़ों भारतवासियोंकी जन्मभाषा हिन्दी ही है। दूसरा कारण यह है, कि सब प्रान्तोंके संत-कवियोंने सदियोंसे हिन्दीको अपनाया है। यात्राके लिये जब लोग जाते हैं तब हिन्दीका ही सहारा लेते हैं। परदेशी लोग जब भारतमें भ्रमण करते हैं, तब उन्होंने भी देख लिया है कि हिन्दीके सहारे ही वे इस देशको पहचान सकते हैं।'' असलमें तो हिन्दी भाषा है ही लचीली, तन्दुरुस्त बच्चोंकी तरह बढ़नेवाली और इसकी सर्वसंग्राहक शक्ति तथा समन्वय शक्ति भी असीम है। जिस भाषाको आज अपने तेरह उपविभाग संभालने पड़ते हैं उसको राष्ट्रभाषाकी भूमिका धारण करनेमें कोई कठिनाई न होगी।

पिछले थोड़े वर्षोंमें हिन्दीने बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय साहित्योंसे अपना साहित्य कम समृद्ध नहीं किया है। आदान-प्रदानमें हिन्दी सिद्ध-हस्त प्रमाणित हो चुकी है। हम हिन्दीको जो कुछ देते हैं वह उसे संशोधित और परिवर्धित करके देशके कोने-कोनेमें पहुँचा देती है। भारतीय साहित्य-परिषद्की प्रवृत्ति शुरू होनेसे हिन्दी अपना सेवा कार्य और भी अधिक कर दिखायगी। ऐसी राष्ट्र-सेवा करके ही राष्ट्रभाषाका गौरवान्वितपद उसने हासिल किया है। हिन्दी से शंकित रहनेका कोई कारण ही नहीं है। हम उसकी राष्ट्र-सेवासे प्रांतीय भाषाओंका गौरव तथा सामर्थ्य बढ़ा हुआ अवश्य देखेंगे।

जब हिन्दी-हिन्दुस्तानीमें हमारा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार चलेगा तब हमें सब प्रांतोंके लिये सुलभ राष्ट्रभाषाका सर्वसाधारण स्वरूप भी गढ़ना होगा।

राष्ट्रीय हिन्दीमें समस्त भाषाओंके शब्दोंको कुछ स्थान मिलेगा ही। हम किसी का बहिष्कार नहीं चाहते। राष्ट्रीय शब्द किसी भी भाषा या बोलीके हों, अधिकांश लोग जिन्हें समझ सकें वे सब शब्द राष्ट्रीय ही हैं। × × ×

(भारतीय साहित्य परिषद्—प्रथम अधिवेशन नागपुर १९३६. स्वागताध्यक्ष श्री काकासाहेब कालेलकरके भाषणसे।)

डा० ताराचन्द—

[डा० ताराचन्दजीने निम्नलिखित लेखमें (विश्ववाणी अक्टूबर १९४४) हिन्दीकी असुविधाओंके प्रति यथेष्ट प्रकाश डाला है। यह भी दृष्टिकोण राष्ट्रभाषाके लिए अत्यन्त आवश्यक है। उनके तर्कोंका उत्तर तथा हिन्दीकी त्रुटियां (डा० ताराचन्दके दृष्टिकोणसे) प्रो० ललिताप्रसाद सुकुलजीके 'भाषा के डिक्टेटर' नामक लेखमें प्राप्त होगा। यह भी उल्लेखनीय है कि डाक्टर साहब 'हिन्दुस्तानी' (नेशनलिस्ट उर्दू) के सबसे प्रमुख पृष्ठपोषक हैं। भाषाकी 'विज्ञता' के सम्बन्धमें आपके लेखका एक और भी उत्तर श्री श्यामनारायणजीके लेख 'हिन्दुस्तानी और डाक्टर ताराचन्द' में प्राप्त होगा। पूज्य बापूको 'हिन्दुस्तानी' सम्बन्धी तथा भाषा विषयक सुझाव सम्भवतः डाक्टर साहबके द्वारा ही प्राप्त होते होंगे। श्री चंद्रबली पांडेजीके लेखमें भी ताराचन्दजीके भ्रमका निराकरण किया गया है।]

डा० ताराचन्दका हिन्दीके विरुद्ध विष-वमन

हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी बत्तीसवीं सालाना बैठक २४ सितम्बरसे २६ सितम्बर तक जयपुरमें हुई। सम्मेलनके जलसोंमें जो तकरीरें हुई उन पर ध्यान देनेकी जरूरत है, क्योंकि उनसे हिन्दुस्तानमें रहनेवाले गिरोहोंके मनोंके झुकाव पर रोशनी पड़ती है और मालूम होता है कि देश किस चालसे किस मंज़िलकी तरफ जा रहा है। अखबारोंमें श्री गोस्वामी गणेश दत्त सम्मेलनके सभापति, श्री कन्हैयालाल मुन्शी राष्ट्रभाषा परिषदके सभापति, श्री सत्यप्रकाश सम्मेलनके विज्ञान विभागके सभापतिके भाषण करीब-करीब पूरे निकले हैं और सर मिर्ज़ा इस्माईल दीवान जयपुर, श्री पोद्दार स्वागत कारिणी समितिके सभापति, और पंडित माखनलाल चतुर्वेदीके भाषणोंके अंश छपे हैं। इन्हींसे सम्मेलनकी जेहनीयतका अन्दाजा होता है।

सम्मेलनकी कार्रवाईका आरम्भ सर मिर्ज़ा इस्माईलकी तक़रीरसे हुआ। उनकी तक़रीरका स्वर कोमल और मध्यम था। उन्होंने हिन्दी और उर्दू दोनोंके साथ

अपनी सहानुभूति ज़ाहिर की, लेकिन एक ऐसी भाषाकी ज़रूरत बताई जो हिन्दू मुसलमानों दोनोंकी प्यारी हो। अफ़सोसकी बात है कि सर मिर्ज़ाकी आवाज़ सम्मेलनके घनघोर गरजते बादलोंमें अनसुनी गूंजकी तरह समा गई। हां पं० माखनलाल चतुर्वेदीने उन्हें चेतावनी दे दी कि हो न हो आखिरकार हिन्दीको ही राष्ट्र-भाषा मानना पड़ेगा।

चेतावनीके बाद भाषणोंका समुन्दर उबल पड़ा। सम्मेलनके अखाड़ेमें पहलवान अपने कर्तब दिखाने लगे। लेकिन सब भाषणोंमें एक रागकी अलाप सुनाई दी। अपने-अपने ढंगसे साहित्यके हरेक महारथीने एक ही लक्ष्य पर निगाह जमाई। इस लक्ष्यके तीन पहलू ध्यान देने लायक हैं। पहला तो यह कि हिन्दीको अपने दुश्मनों से मुक़ाबला करना है, उर्दू और हिन्दुस्तानीके कांटोंको अपने रास्तेसे निकाल फेंकना है और इन्हें मिटा कर राष्ट्र-भाषाके सिंहासन पर आरुढ़ होना है। दूसरा यह कि हिन्दीको संस्कृतमयी, संस्कृतनिष्ट, संस्कृतसे अभिन्न बनाना है। तीसरे यह कि हिन्दी-उर्दूके सवालको हिन्दू मुसलिम समस्याका, सम्प्रदायी कशमकशका साधन बनाना है और इसी निगाहसे इसके हल पर गौर करना है।

उर्दू और हिन्दुस्तानीके खिलाफ़ मोर्चा—

उर्दू और हिन्दुस्तानीके खिलाफ़ मोर्चेबन्दीकी तरफ सबसे ज्यादा जोरशोरसे श्री गोस्वामी गणेशदत्त सम्मेलन सभापतिने ध्यान दिलाया। आपके भाषणका आधा हिस्सा इसी दुखड़ेकी कहानी सुनानेमें खर्च हुआ। आपको यक़ीन है कि हिन्दुस्तान और उसके सूबोंकी सरकारें और कुछ देशी राज मिल कर एक बड़े भारी षड्यन्त्रको रच रहे हैं, जिसका मकसद यह है कि हिन्दीको नष्ट कर दिया जाय। उनके विचारसे जो हिन्दुस्तानी उर्दू या हिन्दुस्तानीका पक्षपात करते है, वह उन राजनीतिज्ञोंका साथ देते हैं "जो भारतवासियोंकी अपनी गौरवपूर्ण परम्परासे हटा कर हमें किंभूत किमाकार बनाना और संसारके बूटोंके नीचे पीसनेके लिये छोड़ देना चाहते हैं।" इस कसौटी पर इण्डियन नेशनल कांग्रेसको कसिये, जिसने १९२५ में यह निश्चय किया था कि हिन्दुस्तानीको हिन्दुस्तानकी राष्ट्र-भाषा होना चाहिये। महात्मा गांधीकी परीक्षा लीजिये, जिन्होंने २ मई १९४२ को "हिन्दुस्तानी प्रचार

सभा" का डौल डाला था और जिसके मेम्बरोंकी फेहरिस्तमें पं० जवाहरलाल नेहरू, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, मौलाना अबुलकलाम आजाद शामिल हैं।

गोस्वामीजीका दिल यह देख कर कांप उठता है कि उर्दूको पंजाब, पच्छिम उत्तरी सरहदी सूबे, सिंध और काश्मीरमें पढ़ाईका ज़रिया ठहराया जा रहा है। कैसे शोककी बात है कि इन इलाकोंमें जहां पंजाबी, पश्तो, सिंधी और काश्मीरी जो उर्दूकी तरह फ़ारसी, अरबीके लफ्ज़ोंकी बहुतायत है, वहां उर्दूको जगह दी जाय। कैसे आनन्दकी बात है कि तामिल, तैलगू, मलयालम और कन्नड़के देशमें जहांकी भाषाएं द्राविड़ी हैं जिनमें संस्कृतका लेशमात्र है, संस्कृतमय हिन्दीकी परीक्षाओंमें बैठने वाले छात्र दिनोंदिन बढ़ रहे हैं। हैदराबादकी रियासतमें मराठी, कन्नड़, तामिल और तेलगू बोली जाती है। वहां अगर उर्दूकी चर्चा हो तो शर्मकी बात है, हिन्दी फैले तो अहोभाग्य! सच है अपनी आंखका रोड़ा नहीं सूझता, दूसरेकी आंखकी किंकरी दिखाई देती है।

अंग्रेजीमें एक कहावत है कि झूठको बार-बार दोहरानेसे वह सच प्रतीत होने लगता है। विहारकी हिन्दुस्तानी कमेटीके सम्बन्धमें यह झूठ सैकड़ों बार दोहराया गया है कि कमेटीकी बनाई पुस्तकोंमें सीताको बेगम और रामको बादशाह कहा गया है। कमेटीकी तरफसे साफ़ लफ्ज़ोंमें कहा जा चुका है कि यह सरासर ग़लत है। लेकिन गोस्वामजीने इस झूठके दोहरानेमें ज़रा संकोच नहीं किया। एक ज़िम्मेदार आदमीके लिये यह बिलकुल अनुचित है।

संस्कृतमयी हिन्दीको उत्तेजना—

हिन्दीको संस्कृतमयी बनानेकी सभी भाषणोंमें उत्तेजना दी गई। श्री कन्हैया-लाल मुन्शी जिनका नाम उनकी विचारधाराको उलहना देता है, संस्कृतीयतके बड़े हामी हैं। उनकी दलील बड़ी रोचक है, लेकिन संदेहोंको दूर करने वाली नहीं। उनके कहनेके मुताबिक हिन्दीको राष्ट्र-भाषा बनाना नहीं है, वह तो राष्ट्र-भाषा है ही। सबूत यह है कि हिन्दुस्तानकी तारीखमें शुरूसे मध्यदेशकी बोली राष्ट्र-भाषा रही है। संस्कृत पहली राष्ट्र-भाषा थी, वह मध्यदेशकी प्राकृतसे निकली थी। उसके बाद मध्यदेशकी शौरसैनी प्राकृत और अपभ्रंशका सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर

असर रहा। इस तरह चौदहवीं सदी ईस्वी तक ज़बानके क्षेत्रमें मध्यदेशका बोलबाला रहा। चौदहवीं सदीसे उन्नीसवीं तक मुसलमानोंकी हुकूमतकी वजहसे फ़ारसी का रंग हिन्दुस्तानकी बोलियों पर चढ़ा, पर अंग्रेजोंकी बदौलत हिन्दी अपने मुसलमानी असरको छोड़ अपने असली रंग यानी संस्कृतीयतकी तरफ़ आ गई है। इसलिये जैसे चौदहवीं सदीसे पहले वह मध्यदेशकी बोली होनेके कारण राष्ट्रभाषा थी, अब भी अपने पुराने रूपको धारण कर लेनेसे उसकी पुरानी हैसियत लौट आई है। जो सदासे राष्ट्र-भाषा रही है, उसे नये सिरेसे राष्ट्र-भाषा बनानेका सवाल ही नहीं उठता। वह तो राष्ट्र-भाषा है ही। फिर संस्कृतकी इनायतसे पहले भी उसमें अदबी (साहित्यिक) भाषाके गुण आये थे, अब भी संस्कृत ही की मददसे वह ऐसी निखर संवर सकती है जैसा कि राष्ट्रभाषाके लिये होना मुनासिब है। संस्कृत और हिन्दीका रिश्ता स्वाभाविक है। हिन्दीको संस्कृतनिष्ठ बनाना ठूँस-ठांस नहीं, हिन्दी की असली शुद्धताको दोबारा कायम करना है। हिन्दीको अपने पूर्ण रूप (संस्कृत) के नज़दीक लाना है।

डाक्टर सत्यप्रकाशने इसे और भी सफ़ाईके साथ बयान कर दिया। वह कहते हैं कि संस्कृतकी सभी संज्ञाएँ (शायद क्रियाएँ, विशेषण, सर्वनाम, अव्यय वगैरह भी) हिन्दीकी मीरास हैं। बाहरके लफ्ज़ जो समय-समय पर हिन्दीमें आ गये हैं, उन्हें निकाल कर अपने सनातन अमरकोषके शब्द ले लेना उचित ही है और हिन्दी की रस-धाराके अनुकूल भी।

हिन्दी नई भाषा है—

अब इन युक्तियों पर ठंढे दिलसे गौर कीजिये। पहले तो इतिहासकी बात लीजिये। वह हिन्दी, जिसके साहित्य-सम्मेलनमें गोस्वामी गणेशदत्त, श्री के० एम० मुन्शी और डाक्टर सत्यप्रकाश शरीक थे, बिलकुल नई भाषा है। भाषा यानी अदबकी जबानकी हैसियतसे उन्नीसवीं सदीसे पहले इसका नाम और निशान भी नहीं था। इस नई हिन्दीकी बुनियाद रखने वालोंमें या तो उर्दू-फ़ारसीके आलिम दिल्लीके रहने वाले मुन्शी सदासुखलाल नियाज़ और मुन्शी इन्शाअल्ला खां इन्शा थे, या फिर फोर्ट विलियम कालिजके मुन्शी—लल्लूलाल, सदल मिश्र वगैरह जिन्होंने कालेजके

अंग्रेज प्रोफेसरोंके कहनेसे नई हिन्दीमें प्रेमसागर, नासिकेतोपाख्यान आदि पुस्तकें लिखीं।

यह नई हिन्दी वही उर्दू है, जिसकी नदी चौदहवीं सदीसे आज तक अटूट रीति से बह रही है। इस नई हिन्दी और उस पुरानी उर्दूके ध्वनि-समूह और ग्रामरके नियमोंमें एकरूपता है। केवल नई हिन्दीने पुरानी उर्दूके शब्द-भण्डारमेंसे उन शब्दोंको निकाल दिया है जो मुसलमानोंके मेलसे उस खड़ी बोलीमें शामिल हो गये थे, जिसकी नींव पर हिन्दी और उर्दूकी इमारतें खड़ी हैं।

अब अगर भाषा-विज्ञानकी निगाहसे हिन्दी, उर्दू और संस्कृतके सम्बन्ध पर गौर करें तो मालूम होगा कि हिन्दीकी संस्कृतियत कितनी बनावटी चीज़ है। हिन्दी और उर्दूका सांचा एक है। यह सांचा संस्कृतसे बहुत अन्तर रखता है। मिसालके तौर पर ध्वनियोंको लीजिये। संस्कृतके साधारण तौर पर तेरह स्वर माने जाते हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ। अनुनासिक, प्लुत, वगैरह इनसे अलग हैं। हिन्दीमें इन स्वरोंमेंसे पांच (ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ) लोप हो गये हैं और कमसे कम दो नए आ गये हैं, एँ (बैर), ओँ (और)। इसी तरह व्यञ्जनोंमें भी हेर-फेर हुआ है। संस्कृतके ३३ व्यञ्जनोंमेंसे करीब ४ गायब हो गये हैं और करीब ११ नये शामिल हो गये हैं। गायब होने वालोंमें कुछ तो अनुनासिक हैं और एक मूर्धन्य ष। हिन्दी और उर्दूकी करीब-करीब एक ही ध्वनियां हैं। लेकिन इससे ज्यादा अद्भुत बात यह है कि इन मूल ध्वनियोंसे जो शब्द बनते हैं उनकी तरकीबका ढंग बदल गया है। संस्कृतमें संयुक्त अक्षरोंका इस्तेमाल बहुत है और ऐसे अक्षर शब्दमें पहले, बीचमें और अन्तमें बिना झिझकके इस्तेमाल होते हैं। हिन्दी, उर्दू और वह खड़ी बोली जिसके यह दोनों अदबी रूप हैं संयुक्तों से घबराते हैं, खासकर शब्दोंके आरम्भमें। दूसरी विशेषता संस्कृत की यह है कि इसमें हलन्त शब्द या शब्दांश कम हैं, स्वरान्त अधिक हैं। हिन्दी उर्दूमें इसके खिलाफ़ हलन्तोंकी बहुतायत है।

हिन्दी उर्दूके निकट और संस्कृत दूर—

हिन्दी और उर्दूके ग्रामरके नियम एक समान हैं और वह संस्कृतके नियमोंसे

बिलकुल जुदा हैं। मिसालके लिए संस्कृतमें संज्ञाके तीन वचन हैं, हिन्दी उर्दू में दो। संस्कृतमें छ कारक हैं, हिन्दी उर्दूमें दो या तीन। क्रियाओंके रूपोंमें तो संस्कृत हिन्दीमें ज़मीन आसमानका फ़र्क है ही। धुनियों और ग्रामरी नियमोंके लिहाज़से जितना ही हिन्दी और उर्दू एक दूसरेके नज़दीक हैं उतना ही वे दोनों संस्कृतसे दूर हैं।

श्री कन्हैयालाल मुन्शी यह तो ठीक कहते हैं कि संस्कृत मध्यदेसी भाषा है। यह भी ठीक है कि संस्कृत एक समय हिन्दुस्तानकी पढ़ी लिखी समाजकी भाषा थी। बौद्ध कालको छोड़कर हिन्दुस्तानकी तारीखके बाकी पुराने ज़मानेमें संस्कृत राज दरबारोंकी भाषा थी। लेकिन इसे राष्ट्र भाषा इसलिये नहीं कह सकते कि पुराने ज़मानेमें कुल हिन्द एक राष्ट्रकी हैसियत नहीं रखता था। साम्राज्य तो जरूर बने, लेकिन एक हिन्दुस्तानी राष्ट्र और एक हिन्दुस्तानी समाजके विचार कभी पैदा नहीं हुए। इस बात पर आज भी बहस जारी है कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र, एक कौम, एक समाज है, जैसे इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, या हिन्दुस्तानमें कई राष्ट्र कई कौमें, कई समाज हैं, जैसे यूरुप, अमरीका, एशियामें।

संस्कृत कुल हिन्दकी भाषा मानी जा सकती है। राष्ट्रीय भाषा नहीं। यह ऐसा ही है जैसे लातीनी (Latin) कुल युरुपी भाषा रही है पर राष्ट्रीय भाषा नहीं। आज संस्कृतका सम्मान इसलिए है कि वह हिन्दू सम्प्रदायमें देववाणी समझी जाती है। इस भाषामें इस खास सम्प्रदायकी पूज्य धर्म पुस्तकें हैं। मुंशीजीका यह कहना कि संस्कृत आज भी राष्ट्रभाषा है और हिन्दुस्तानके रहनेवालोंको एक राष्ट्रीयताके रिश्तेमें बांधनेका ज़रिया है, सचके गले पर छुरी फेरना है।

संस्कृतमयी नई हिन्दीके बारेमें यह कह सकते हैं कि वह मध्यदेसी भाषा है। लेकिन जितना ही उसे संस्कृतमय बनाया जायगा उतनी ही वह भी एक सम्प्रदायकी भाषा होती जायगी, उतना ही उसका राष्ट्र-भाषा कहलानेका अधिकार कम होता जायगा।

उर्दू राष्ट्र-भाषा हो—

उर्दू, संस्कृत और हिन्दीकी तरह मध्य देसी भाषा है। उसका साहित्य हिन्दीके साहित्यसे बहुत पुराना है, ब्रज और अवधीके साहित्यसे भी पुराना है। उर्दू हिन्दू मुसलमानोंके मेल जोलसे बनी है। उसके साहित्यके निर्माणमें हिन्दुओंका बड़ा हिस्सा है। पन्द्रहवीं सदीसे अठारवीं सदीके आखीर तक उर्दू ही हिन्दू मुसलमान शिष्टोंकी भाषा थी। आज भी उसका हक़ है कि वह राष्ट्र-भाषा यानी हिन्दुस्तानके सभी निवासियोंकी बिला सम्प्रदायी तफ़रीकके आम भाषा मानी जाय। लेकिन उर्दू लिखनेवालोंके कुछ गिरोहोंने उसमें ऐसी अरबी फ़ारसीकी ठूंस-ठांस शुरू कर दी है कि उसके वह गुण जिन्होंने उसे आमफ़हम और लोकप्रिय बनाया था लोप होते जाते हैं।

हिन्दीको संस्कृतमें और उर्दूको फ़ारसी अरबीमें डूबते हुए देखकर कुछ लोगोंका ख्याल हुआ कि लिखावटका वह ढंग चलाएं जिसमें अफ़ातफ़ी न हो, जो ज्यादासे हिन्दुस्तानियोंकी समझमें आ जाय और जिसमें अपनी असली धुनिधारा और ग्रामर के नियमोंके मुताबिक लफ्ज़ोंका इस्तेमाल हो। इसी हिन्दी उर्दूके बीचकी ज़बानका नाम हिन्दुस्तानी है।

मुन्शीजी की सख्त भूल है अगर वह यह समझते हैं कि हिन्दी स्वभावसे संस्कृतनिष्ठ है। यह ऊपर बता दिया गया है कि हिन्दीकी धुनियां और ग्रामरी कायदे संस्कृतसे बहुत दूर हैं। हिन्दी ही नहीं बिहारी, नेपाली, बंगाली, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, राजस्थानीकी धुनियां और ग्रामर संस्कृतसे कोसों दूर चली गई हैं। द्राविड़ भाषाओंका तो कहना ही क्या है। एक बात जरूर है। सम्प्रदायी खींचतानने पुरानी बीती रस्मों रीतियोंमें दोबारा जान डालनेका रुझहान पैदा कर दिया है। हिन्दीको संस्कृतनुमा बनानेका मैलान (प्रवृत्ति) बढ़ रहा है। हिन्दुस्तान की सभी भाषाओंमें लिखनेवालोंकी निगाहें आगे नहीं देखती, पीछे तकती हैं। इसका नतीजा तो यह होता मालूम होता है कि जैसे यू० पी० में हिन्दी उर्दूका झगड़ा चल रहा है वैसे ही झगड़े बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबीमें चलने लगेंगे। हिन्दुओंकी बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी अलग होगी मुसलमानोंकी अलग।

मि० मुन्शीका ख्याल है कि हिन्दीमें बल, सिंगार, संवार संस्कृतकी बदौलत है। और जितनी ही संस्कृत भाषा और संस्कृत सभ्यतासे लिपटेगी उतनी ही ऊंची होगी। साथ ही वह हमें इस खतरेसे चौकन्ना करना चाहते हैं कि ज़बानें बनानेसे नहीं बनतीं, वह किसीके हुक्मके अधीन नहीं होतीं। मि० मुन्शीके विचारके मुताबिक इसके ये माइने हैं कि अगर हिन्दी सम्मेलनकी आज्ञासे साइन्सकी परिभाषाएं संस्कृत से ले लीं जांय या संस्कृतके आधार पर बना ली जांय तो उनके उसूलका उल्लंघन नहीं होता, लेकिन अगर परिभाषाएं किसी और भाषासे बनाई जायं तो यह बनावटी इन्जिनियरी है। मिसालके लिए अगर आप लिखें प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तो हिन्दीका स्वाभाविक विकास होगा और अगर आप लिखें पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, या अव्वल, दोयम, सोयम, चहारुम, तो यह धींगा-धींगी ठूंस-ठांस समझी जायगी। संस्कृतके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थकी आवाजें ऐसी रसीली हैं कि तबियतको गुदगुदा देती हैं, फारसीके अव्वल, दोयम, सोयम, चहारम इतने भोंड़े हैं कि वह न सिर्फ़ बैनसूबजाती (अन्तर प्रान्तीय) भाषा के लिए अर्थहीन और कुरूप हैं, वह उर्दू बोलने वालोंके लिए भी घिनाओने हैं। क्या अनूठे सिद्धान्त हैं! कैसी ठोस दलीलें हैं!

सम्प्रदायी समस्या—

लेकिन हाथीके दाँत दिखानेके और हैं खानेके और। इन सब उसूलों और दलीलोंकी आड़में जो असलियत है वह कुछ और ही है। मि० मुन्शीने उसे भी खोल कर कह दिया है। वह कहते हैं, "हमें एक पलके लिए भी न भूलना चाहिए कि हिन्दी उर्दूका सवाल जो विशेषरूपसे देशके सामने है, भाषाका सवाल नहीं है। वह तो सम्प्रदायी समस्या है, जिसे भाषाके सवालका रूप दे दिया गया है।" .... इन बातोंसे साफ ज़ाहिर है कि हिन्दीको संस्कृतनिष्ठ बनानेका कारण भाषा और साहित्य का सुधार नहीं, सम्प्रदायी झगड़ेमें अपनी माँगको कड़ा और ऊँचा बनाना है ताकि फैसलेके वक्त मोल तोल करनेमें फ़ायदा रहे। यह निराली मंतक (तर्क शास्त्र) है। हिन्दू मुसलमानोंके झगड़ेको चुकानेके लिए यह नीति बतलाई जाती है कि झगड़ेको खूब तेज़ करो, फ़र्कोंको खूब बढ़ाओ, सम्प्रदायी भावोंको कट्टरसे कट्टर,

सम्प्रदायी संगठनको मज़बूत से मज़बूत बनाओ। बीज-बोओ कांटोंके, और आशा करो फल फूलोंको ! यह सरासर भ्रम है, उन्माद है, निरर्थक चेष्टा है।

ईं खयालस्त ओ मुहालस्त ओ जुनूं।

(साप्ताहिक भारत)

श्री कन्हैयालाल मुन्शी —

[श्री मुन्शीजीने 'संस्कृतनिष्ठ' भाषाको राष्ट्र-भाषा बनानेकी सलाह दी है। उन्होंने कुछ आंकड़े भी दिये हैं। उन आंकड़ोंमें भ्रम होनेकी सम्भावना तो अल्प ही है। यदि ये सत्य हैं तो प्रचलित हिन्दी-भाषामें ज़बर्दस्ती, विशेषतः फ़ारसी इत्यादिके अप्रचलित शब्दोंको भरना अदूर-दर्शिताका ही द्योतक है।]

श्रीयुत के० एम० मुन्शीका भाषण—

उदयपुरमें होने वाले ३३ वें हिन्दी सम्मेलनके अवसर पर श्री मुन्शीने सभापति पदसे जो भाषण दिया, उसके कुछ अंश निम्न लिखित हैं :—

इससे पूर्व भी गुजरातने इस सम्मेलनको दो सभापति दिये थे। एक गुर्जर-नरेश सयाजीराव गायकवाड़ और दूसरे विश्व-वन्द्य महात्मा गांधी। पर न तो मैं नरेश हूं और न नेता। मैं तो आप सबकी तरह सरस्वतीके मन्दिरका एक सामान्य पुजारी हूँ। मैं अपने जीवनकी उन घड़ियोंको सबसे अमूल्य घड़ियां गिनता हूं, जिनमें मैं अपनी साहित्य-शक्तिको भारतीके चरणोंमें समर्पित करता रहा हूं। मैं तो एक रंक साहित्यकार हूँ।

आज मेरे हृदयमें खिन्नताका संचार हो रहा है। महात्मा गांधीजी आज सम्मेलनसे अलग हो गये हैं। इन्दौरमें वही मुझे सम्मेलनमें लाये थे। उनकी प्रेरणा और सहायतासे मैंने स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के साथ 'हंस' चलाया था।

मैंने महात्माजी तथा टंडनजीका पत्र-व्यवहार ध्यानपूर्वक पढ़ा। इसमें दो अटल श्रद्धावान् पुरुषोंकी धर्मनिष्ठा झलकती है। गांधीजी मानते हैं 'हिन्दी और उर्दूका

समन्वय न केवल इष्ट है, वरन् शक्य भी है। टण्डनजी मानते हैं यह शक्य नहीं, सम्मेलनके लिये इष्ट भी नहीं।

गांधीजी तो आदर्शके स्रष्टा हैं। वह उसे सिद्ध करनेके लिये अपनी समग्र शक्तियोंको एकाग्र करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझते हैं। उन्हें हिन्दकी राष्ट्रीयताका सृजन करना है। इसका पाया हिन्दू-मुस्लिम एकता पर रखनेके लिये उन्होंने भागीरथ तपश्चर्या की है। उनका मन्तव्य है—'राष्ट्र-भाषा वह है जिसमें नागरी और उर्दू लिपिको स्थान दिया जाता है और जो भाषा न फारसी है, न संस्कृतमयी है।' श्री टण्डनजीने जवाबमें लिखा—'सम्मेलन हिन्दीको राष्ट्र-भाषा मानता है। उर्दूको वह हिन्दीकी शैली मानता है जो विशिष्टजनोंमें प्रचलित हैं।' भाषाकी स्वभावसिद्ध लिपि नागरी ही हो सकती है, यह भी उनका मन्तव्य है।

हिन्दकी राष्ट्र-भाषा नागरी है (नागरीमें लिखी जाने वाली हिन्दी) है। यह इस सम्मेलनका मुख्य सिद्धान्त है। ३३ वर्षोंसे इसी विश्वास और प्राण पर उसका यह जीवन निर्भर है।

गांधीजी राष्ट्र-स्रष्टा हैं। हिन्दू व मुसलमान दोनों दो लिपियां सीख और हिन्दुस्तानीके व्यवहारसे एकता सिद्ध करें, ऐसा मार्ग वह दर्शा रहे हैं।

जहां तक मैं देख सकता हूं ये दोनों सत्य भिन्न-भिन्न है। इनका समन्वय सरल नहीं। परन्तु—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'

सम्मेलन क्या करे—

सम्मेलन और गांधीजी दोनों अपना-अपना स्वधर्म पारस्परिक उदारतासे अनुसरण करें, इसीमें मुझे लाभ दिखाई देता है। यदि सम्मेलनका सत्य खरा होगा तो गांधीजी उसे स्वीकार करेंगे और जो सम्मेलन समझेगा कि उनका सत्य खरा है तो उसे स्वीकार करनेमें सम्मेलनको संकोच नहीं होगा। गांधीजीने सम्मेलनसे त्याग पत्र दिया है पर वह उसे छोड़ नहीं गये हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है—'जैसे मैं कांग्रेसमेंसे निकला तो कांग्रेसकी ज्यादा सेवा करनेके लिये, उसी तरह अगर मैं सम्मेलनसे निकला तो भी सम्मेलनकी अर्थात् हिन्दीकी ज्यादा सेवा करनेके लिये निकलूंगा।'

गत पन्द्रह सौ वर्षोंके साहित्यके रचयिता हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, सिक्ख हैं। यह सरलतासे समझा जा सकता है। (बोलियोंमें अन्तर होते हुए भी) इसकी भाषा तथा साहित्य विषयक मौलिक तत्त्व एक ही हैं। १३ वीं सदीके पहले ये गुण अपभ्रंशमें थे, उसके बाद व्रजभाषामें थे, आज हिन्दीमें हैं। इस रीतिसे यदि हम भिन्न-भिन्न भाषा और साहित्यका लघुतम निकालें, तो हिन्दी निकले।

उन्नीस सौ इकत्तीसकी जनगणनाको ध्यानमें लें तो ३४,९८,८८००० मनुष्य हिन्दो और बर्मामें हिन्दी और बर्मी भाषा बोलते थे। इनमेंसे २५, ३७, १२००० संस्कृत-कुलकी भाषाओंको व्यवहारमें लाते थे। ४,६७,१८००० संस्कृत-प्रधान द्राविड़ी भाषाको काममें लाते थे। इस वर्षकी गणनाको लें तो एक सौ भारतवासियोंमें—

(१) ९९ प्रतिशत भारतीय भाषाएँ बोलते हैं।

(२) ३५ प्रतिशतकी भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी है।

(३) ३४ प्रतिशतकी भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानके साथ सम्बन्ध रखती है।

(४) १३ प्रतिशत संस्कृत-प्रधान भाषाएँ बोलते हैं।

(५) ६ प्रतिशत-प्रचुर भाषाएं बोलते हैं।

(६) ३३ प्रतिशतकी भाषा देवनागरी लिपिमें लिखी जाती है।

(७) २७ प्रतिशतकी भाषा देवनागरीके किसी स्वरूपमें लिखी जाती है।

(८) २० प्रतिशतकी भाषा द्राविड़ी लिपिमें लिखी जाती है।

(९) इन आकड़ोंकी हकीकत देखते हुए जो भाषा संस्कृतप्रधान हो, वही राष्ट्र-भाषा हो सकती है।

(१०) हिन्दकी प्राचीन राष्ट्रभाषाओंकी अखण्ड पीढ़ीमें हिन्दी उतर आती है। इसकी शब्द-समृद्धि ८८ प्रतिशत बोलनेवालोंके लिए बहुत कुछ परिचित है। इनके बोलनेवाले तथा सरलतासे बोल सकनेवाले उनहत्तर प्रतिशत हैं।

राष्ट्र भाषा—

फलतः हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनाना नहीं है, वह तो राष्ट्रभाषा है ही।

हिंदी राष्ट्रभाषाको आज समस्त भारत स्वीकार कर रहा है। ऐतिहासिक कारणों से यह भाषा ही राष्ट्रभाषा होनेके लिए निर्मित हुई है।

१. इसका बाजारू स्वरूप हिन्दुस्तानी समस्त भारतमें समझी जा सकती है। इसी रूपमें प्रांत प्रांतमें वह जुदा जुदा रूप लेती है। इस व्यवहारू भाषाका मूल असली अपभ्रंशमें है। इसकी गढ़न दिल्ली-प्रदेशमें होनेके कारण यह हिन्दू-मुसलमानों के व्यवहारका साधन है।

२. उत्तर भारतकी समस्त भाषाओंकी एकता जैसे सन १८०० से पूर्व ब्रजभाषामें प्रतिबिंबित थी, वैसी ही आज इसमें प्रतिबिंबित है।

३. इसमें नैसर्गिक लक्षण हैं। संस्कृतकी समृद्धि होनेके कारण यह हिन्दकी संस्कृत-प्रचुर भाषाओंका संगम हो सकती है। द्राविड़ भाषा बोलने वाले भी इसे सरलतासे स्वीकार कर सकते हैं।

४. नागरी लिपि हिन्दमें प्रतिशत ६०के लिए परिचित है। इसलिए इसे राष्ट्र-भाषाके रूपमें स्वीकार करनेमें कमसे कम प्रयत्नकी जरूरत पड़ती है।

राममोहनरायने बंगाली गद्य की नींव डाली, इसकी अभिवृद्धि हुई। बंकिम और रवीन्द्रने इसे अपूर्व लालित्यसे भरा—संस्कृत की समृद्धि से।

मराठी लो, कन्नड लो, तेलगू लो, मलयालम लो—अरे तामिल भी लो, संस्कृत की शक्ति बिना इनमें समृद्धि और सरसता आ ही नहीं सकती। यह कोई नई बात नहीं। यदि मैं विकास प्राप्त करता हूं तो अपनी शक्तियोंके प्रतापसे ही। इसी प्रकार भारतीय भाषा विकास पाये, संस्कृतकी मददसे ही—दूसरा कोई मार्ग नहीं।

हिंदी, संस्कृत-बिना समृद्ध नहीं हो सकती। संस्कृतकी प्रेरणाके बिना यह सरसताका वाहन नहीं बन सकती। संस्कृत इसकी जननी है। इस जननीसे मुझे शरम नहीं आती। मैं अपनी इस माँ से प्रेरणा लेता हूं, इसलिए मैं किसीसे माफी नहीं मांगता—मांगूंगा भी नहीं।

व्यवहारमें—

अब मैं व्यवहारके प्रश्नों पर आता हूं। हिन्दी राष्ट्रभाषा हो तो मुसलमानोंका क्या ? पंजाबके हिन्दुओंका क्या ? उर्दूका क्या ? यह प्रश्न भाषा-विज्ञानका नहीं ; यह तो राजनीतिक प्रश्न है। राष्ट्रीय दृष्टिसे हिन्दू-मुस्लिम-विरोधको टालनेके लिए इस प्रश्नकी चर्चा होती है। आजके ज़मानेके सभी प्रश्न राजनीतिक भ्रमरोंके चक्र में पड़कर गदले हो जाते हैं। मैं अब वास्तविक दृष्टिसे इस प्रश्नकी छानबीन करना चाहता हूं।

आज राजकारणमें हिन्दू-मुस्लिम एकता जल्दी होनी मुश्किल है

हिन्दुओंके लिए फ़ारसी-अरबीकी समृद्धि पानी कठिन है ; मुसलमानोंको संस्कृत की समृद्धि मिलनी मुश्किल है।

अरबीशाही उर्दूको हिंदुओं द्वारा स्वीकार करवानेमें, मुसलमान अपनी साम्प्रदायिक विजय मानने लगे हैं। इस प्रकारकी उर्दू स्वीकार करनेमें हिन्दुओंका सम्मान भङ्ग होता है।

हिन्दू संस्कृत-विहीन हिन्दुस्तानीको जो राष्ट्रभाषा मानें तो राष्ट्रीय साहित्यकी अभिवृद्धि पीढ़ियों तक कुंठित हो जायगी। मुसलमान और पंजाबके हिंदू जो अफ़ारसी हिन्दी लिखते हैं, तो सुन्दर साहित्यकी रचना न कर सकें।

पर ज़रूरत इस बातकी है कि हिन्दी उर्दूका प्रश्न राजनीतिक क्षेत्रसे हटाकर साहित्य क्षेत्रमें ले जाया जाए। कांग्रेसकी नीतिके अनुसार हिन्दी-हिन्दुस्तानी व्यवहारकी राष्ट्रभाषा रहे और राजनीतिमें हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियोंको बिना टीका-टिप्पणी, बिना संकोच लिखनेकी छूट दी जाय। ऐसा करनेसे दो में से एक शैलीका उपयोग करना चाहिये, या दोनोंका मिश्रण करना चाहिये, यह दुविधा स्वयं मिट जायगी। भारतकी आजकी परिस्थितिमें हिन्दी और उर्दू दोनोंके विकासका अवसर है। एक न एक दिन इन दोनों विकसित शैलियोंका एकीकरण स्वयमेव होगा। आज होना अशक्य है। इनका समन्वय आज ही जाए और हिन्दू-मुसलमान एक भाषा स्वीकार करें, यह मेरी दृष्टिमें शक्य नहीं।

पर महात्माजी मानते हैं कि आज हिन्दी उर्दू का समन्वय शक्य है और इष्ट भी है। यदि महात्माजी अशक्यको शक्य बना सकें तो हमें उसका स्वागत करना ही होगा। मेरे जीवनकालमें यदि यह चमत्कार हो जाय तो मैं जीवन धन्य समझूं। इतनी तो मैं आशा रख सकता हूं कि दोनों प्रवृत्तियोंके लिए स्थान है। दोनोंके बीच में विरोध या वैमनस्य हो जाय तो जरूर हानि होगी। महात्माजीके इस सिद्धान्तको माननेवाले और सम्मेलन परस्पर सहिष्णुतासे अपने अपने धर्मका अनुसरण करें।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो, यह एक बात है। पर व्यवहार और राजनीतिके लिए भी मुझे 'भारती' भाषा चाहिये – जिसे सभी भारतीय लिखें; जिसमें सब बोलें, जिसमें समस्त भारत साहित्यका सृजन करें। जैसे इङ्गलैण्डकी भाषा अंग्रेजी, फ्रांसकी फ्रेंच, वैसे ही भारतकी भाषा 'भारती' कब बने इसकी मुझे झंखना होती है। हिन्दी 'भारती' रूप कब ले, मैं इसकी वाट जोह रहा हूं।

जैसे अपभ्रंशके सत्ताईस रूप थे, वैसे ही शुरूमें उसके भी सत्ताईस रूप हों। इस 'भारती' भाषाका विकास करनेके लिये हिन्दी भाषा भाषियोंको उदारतासे दूसरी भाषाओंकी विशिष्टतायें अपनानी पड़ेंगी।

(वीर अर्जुन २१ अक्टूबर १९४५)

श्री वियोगी हरि—

[श्री वियोग हरिजीने अपने भाषणमें हिन्दीको राष्ट्रभाषा और नागरी लिपिको राष्ट्रलिपि माना है। 'हिन्दुस्तानी' (आजकलके अर्थमें प्रयुक्त) के नाम पर हिन्दी और उर्दू का भद्दा परिहास निन्दनीय है। गांधीजी भी, जिन्होंने देशकी अतुलनीय सेवा की है, वे भी यदि इस प्रकारकी अस्वभाविक भाषाके पुष्ट पोषक हैं तो वे देशको महान हानि पहुंचा रहे हैं। हिन्दीकी समस्याको राजनीतिक समस्याका निरर्थक रूप दे दिया गया है। अतः इसका सम्बन्ध राजनीतिसे गहरा होता जा रहा है। जनताकी मांग है हिन्दी राष्ट्रभाषा हो, न कि 'हिन्दुस्तानी' (गांधीजीके प्रयुक्त अर्थोंमें)।

यदि जनताकी मांग पूरी न की गई तो सरकारको जनताके विरोधका सामना करना पड़ेगा।]

"सम्मेलन हिन्दीको, उसके प्रचलित रूपमें राष्ट्रभाषा और नागरी लिपिको राष्ट्रलिपि मानता है। उसकी इस मान्यतामें शुद्ध और पूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। जहां तक हिन्दीके बोलनेका सम्बन्ध है, विभिन्न हिन्दी भाषी प्रदेशोंमें भी उसके अनेक रूप प्रचलित हैं। लिखी भी वह कई शैलियोंमें जाती है। एक शैली उसकी उर्दू भी है, जिसका चलन विशिष्ट जनोंमें पाया जाता है। स्पष्ट है हमने इस विशिष्ट शैलीको बहिष्कृत नहीं किया है; ऐसा करनेकी हमारी कभी मंशा भी नहीं। किन्तु सम्मेलनने हिन्दीकी उसी धारणा-शैलीको राष्ट्र-भाषा माना है, जिसमें कबीर, रैदास, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, गुरुनानक, रहीम, रसखान, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि कवियों और सन्तोंने तथा राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द आदि लेखकोंने राष्ट्रके विचारों और भावोंको भिन्न-भिन्न कालों और अलग-अलग परिस्थितियोंमें स्वाभाविक रीतिसे व्यक्त किया है।" अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके ३४ वें अधिवेशनमें अध्यक्ष पदसे भाषण देते हुए राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपिके सम्बन्धमें श्री वियोगी हरिने उपर्युक्त विचार व्यक्त किये।

'हिन्दुस्तानी' आन्दोलनकी ओर संकेत करते हुए श्री वियोगी हरिने कहा कि "अच्छा तो यह होगा कि हिन्दी और उर्दूको अपने-अपने रास्ते बढ़ने और फैलने दिया जाय। समन्वयका मैं भी विरोधी नहीं, प्रेमी हूँ। किन्तु जिस प्रयत्न द्वारा हमारी भाषाकी प्रकृतिका अंग-भंग होता हो, उसे असुन्दर और विषम बनाया जाता हो, उस प्रयत्नको चाहे जो नाम दिया जाये, पर उसे समन्वय या सामंजस्यका प्रयत्न नहीं कहा सकता। राजनीतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न हमारी भाषा पर दबाव नहीं डाल सकते।"

रेडियोकी भाषा सम्बन्धी नीतिकी तीव्र आलोचना करते हुए श्री वियोगी हरिने कहा कि "रेडियोकी वर्तमान हिन्दी-घातक नीतिका अन्त तुरन्त होना चाहिये।"

भाषणका संक्षिप्त अंश—

सम्मान्य स्वागताध्यक्ष, देवियो और सज्जनो ! सम्मेलनके सभापतिके आसन पर बिठा कर आप लोगोंने मेरा जो इतना बड़ा सम्मान किया है, उसके लिये मैं किन शब्दोंसे धन्यवाद दूं ? 'रंक चले सिर छत्र धराई'—यह सुना तो बहुत था, पर प्रत्यक्ष इसे आज देखा। करबद्ध प्रार्थना अब यही है कि इस महान आसन पर आप लोगोंने मुझे बिठाया है, तो मेरी सारी त्रुटियोंको, भूलोंको अपने उदार स्वभावसे अन्त तक निभाते भी रहें।

सिन्ध-भूमिको श्रद्धांजलि—

सम्मेलनका यह अधिवेशन ऐसे प्रान्तमें हो रहा है जहां हिन्दी बोली नहीं जाती, किन्तु समझ लेते हैं और जहांकी लिपि भी दुर्भाग्यसे अरबी लिपिका परिवर्तित संस्करण है। सिन्धी भाषा पर ऐतिहासिक उतार-चढ़ावोंका काफी प्रभाव पड़ा है, पर अन्य अनेक भारतीय भाषाओंकी भांति सिन्धी भी प्रकृतिसे संस्कृत और प्राकृत-मूलक है। सिन्ध प्रदेशकी प्राचीनतम सभ्यताका तो कहना ही क्या। वहांकी सांस्कृतिक समृद्धिकी साक्षी संसारको आज भी सहस्रों वर्षके पुराने मोहनजोदाड़ोके भग्नावशेष दे रहे हैं। ऋग्वेदने, महाभारतने तथा पुराणोंने इस आर्यावासकी महिमा का भूरि-भूरि गान किया है। आज इस पुण्य प्रदेशकी इस प्राचीनतम आर्यभूमिको मैं श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूं।

राष्ट्र भाषाका स्वरूप—

सबसे पहले मैं राष्ट्र-भाषाके सम्बन्धमें कहना चाहता हूं। सम्मेलनका मत स्पष्ट है। वह हिन्दीको, उसके प्रचलित रूपमें राष्ट्र-भाषा और नागरी लिपिको राष्ट्र-लिपि मानता है। हमारे देशमें भाषा कभी वाद-विवादका विषय नहीं बनी थी। उस पर कभी राज्य-सत्ताका अंकुश नहीं रहा।

साम्प्रदायिक ऐक्य साधनकी धुनमें भाषाको जान-जान कर बिगाड़ना किसी भी दृष्टिसे समीचीन नहीं। बेमेल शब्दोंको कान उमेठ कर जबर्दस्ती ऐसी जगह बिठाना, जो उनके लिये मौजूं न हो, एक व्यर्थका प्रयास है। कभी इस तरह सहल,

सुबोध और सामान्य भाषा बनी है। इस फेरमें पड़ कर भाषाको हिन्दीको भी और उर्दूको भी अस्वाभाविक और असुन्दर क्यों बनाया जा रहा है ?

राष्ट्रकी भावनाओंको जगाने और एक छोरसे दूसरे छोर तक फैलानेमें हिन्दीका सबसे अधिक हाथ रहा है। फिर हिन्दीको किसी खास सम्प्रदायकी भाषा कहनेका कौन साहस करेगा ? कलकी हिन्दुस्तानीसे भी उसे कोई खटका नहीं।

श्री वियोगी हरिने आगे कहा कि, "यदि हिन्दुस्तानी नामसे भाषाके उसी रूप को ग्रहण किया जाता हो, जिसे कि हम आज राष्ट्र-भाषाके रूपमें स्वीकार कर रहे हैं, तो हिन्दीका हिन्दुस्तानी नामकरण करनेमें हमें संकोच नहीं होगा, यद्यपि नया नामकरण बिलकुल व्यर्थ है प्रश्न तो असलमें भाषाके स्वरूपका है।"

रेडियोकी हिन्दुस्तानी—

अध्यक्षने आगे कहा कि "इस सिलसिलेमें मेरा ध्यान स्वभावतः उस हिन्दुस्तानी पर भी जाता है जिसका प्रसार और प्रचार रेडियो पर किया जा रहा है। राष्ट्र-भाषा हिन्दीका रेडियोकी इस भाषा नीतिसे काफ़ी अहित हुआ है। हमारी अन्तःकालीन सरकारने अब तक इस दिशामें कोई कदम नहीं उठाया। रेडियोकी वर्तमान हिन्दीघातक नीतिका अन्त तुरन्त होना चाहिये। सम्मेलनने जिस सद्भावपूर्ण न्यायकी आशासे बहिष्कार आन्दोलन उठा कर सहयोगका हाथ बढ़ाया था, उसका सही उत्तर उसे अब तक नहीं मिला। हिन्दी जगतमें फिर अन्दर-अन्दर रेडियो विभागकी इस उपेक्षा नीतिसे असन्तोष और क्षोभ बढ़ रहा है। क्या भारत सरकार इस प्रकार इस प्रकार असन्तोषका बढ़ते रहना राष्ट्रके हितमें अच्छा समझती है ?

सम्मेलन और गांधीजी—

श्री वियोगी हरिने कहा कि "गांधीजीने राष्ट्र-भाषा हिन्दीकी अनुपम सेवा की है। सम्मेलन उनका सदा ऋणी रहेगा। आज दुर्भाग्यसे भाषाके प्रश्न पर हमारा उनके साथ मतभेद हो गया है। मतभेद प्रकट करते समय हमारी तर्क-शैली और भाषामें अविनय नहीं आना चाहिये। हमें यह न भूलना चाहिये कि गांधीजीके

त्याग-पत्रका अर्थ सम्मेलनका परित्याग नहीं है। उन्हींके शब्दोंमें उनके सम्मेलन से निकलनेका अर्थ, 'सम्मेलन की अर्थात् हिन्दीकी ज्यादा सेवा है।"

(भारत २७ दिसम्बर १९४६)

गत ७ नवम्बरको (१९४७) काशी नागरी प्रचारिणी सभा भवनमें एक विशाल जन-समुदायके सामने श्री वियोगीहरिजीने निम्नलिखित विचार प्रगट किये—

यदि विधान परिषद् हिन्दीको राष्ट्रभाषा तथा नागरी लिपिको राष्ट्र लिपि नहीं स्वीकार करती है तो आगामी चुनावमें देशको आयर्लैंडकी भांति इसी विषय पर लड़ना पड़ेगा। पूज्य महात्मा गांधीजी हमारे सर्वश्रेष्ठ नेता, 'हिन्दुस्तानी' जिसका राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा साहित्य संकुचित है, प्रचारकर निस्संदेह देशका अहित कर रहे हैं। हिन्दीका साहित्य उन्नत है तथा दृष्टिकोण भी व्यापक है। यह अन्तर्राष्ट्रीयतामें विश्वास करती है, इसके विपरीत उर्दूमें इन विशेषताओंका अभाव है। यह उपयुक्त नहीं होगा कि हिन्दी माता है और उर्दू उसकी पुत्री है। यह कहना गलत है कि यह हिन्दुओंकी भाषा है। अपितु यह हमारे देशवासियोंमें अधिकांश लोगोंको बोधगम्य है। × × ×

× × × राजनीतिक नेताओंसे अनुरोध है कि वे हिन्दीको राष्ट्रभाषा तथा नागरी को राष्ट्रलिपि मानें।

(दैनिक 'लीडर' से

Banaras, Nov. 7, '47. If the Constituent Assembly of India does not recognise Hindi as a national language and Nagri as the national script of the country the country will have to fight the coming election on this very issue as was in Ireland. The revered Mahatma Gandhi, the supreme leader of our country, is definitely doing a great disservice to the Nation by preaching Hindustani among the people in spite of its having a poor literature and lack of national outlook. Thus observed Sri Viyogi Hari, a

veteran Hindi scholar and the president of the All-India Hindi Sahitya Sammelan, while addressing a huge gathering at the Nagri Pracharni Sabha Hall recently. Pandit Ram Narain Misra presided.

Sri Viyogi Hari further added that Hindi has got a rich literature with a liberal outlook It believes in internationalism, on the contrary Urdu literature lacks in these qualities. It will be no exaggeration if we call Hindi as the mother language and Urdu its daughter. It is wrong to say that it is the language of the Hindus but it is spoken and understood by the majority of our countrymen

The English knowing public of our country takes great pride in boasting the English journalists and the foreign men of letters and raising memorials in their honour though our Hindi Scholars and Indian journalists have in no way less contributed to the upliftment of our society and have always suffered a great deal for the imancipation of our country and man kind. But these days are not far off when their services will also be recognised by our country and they will not have to suffer with inferiority complex before the political leaders of the country.

Appealing to the political leaders of the country he said that they should accept Hindi the National language and Nagri as the National script of our country and relieve the Nagri Pracharini Sabha, Hindi Sahitya Sammelan and other similar organisations from enlisting support for placing Hindi language on the citadel of the national

language and allow them to do their best to enrich the Hindi language

In the end he complimented the Nagri Pracharni Sabha and its organizers for the great service which they rendered to the cause of Hindi Literature and its language.
(Leader)

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—

[श्री 'नवीन' जी ने निम्नलिखित लेख 'हिन्दुस्तानी कभी नहीं' में उस हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दीका विरोध किया है, जिसमें फ़ारसी शब्दोंको अस्वाभाविक रूपसे भरा गया है। हिन्दी तथा उर्दूके बीच एक झगड़ेकी सृष्टि हुई और उसे आज राजनीतिक रूप देकर 'हिन्दुस्तानी' नाम समझौतेके लिए दिया गया। यद्यपि 'नवीन' जी 'हिन्दुस्तानी' का विरोध करते हैं, किन्तु उस हिन्दुस्तानीका नहीं जो हिन्दीका पर्यायवाची है।]

हिन्दुस्तानी कभी नहीं

उत्तर भारतमें हिन्दी और उर्दूका विवाद बहुत पुराना हो चुका है। सन १९१९ में महात्मा गांधीके भारतीय राजनीतिक क्षेत्रमें अवतरण तथा उनकी इस घोषणाके पश्चात कि भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी है, हिन्दी-उर्दू विवाद प्रायः नष्ट होता अवगत हुआ। किन्तु हाल ही में विरोधकी ज्वालायें पुनः प्रज्वलित हो उठी हैं और आज हम अंजुमन तरक्क़ीए-उर्दू, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा नागरी प्रचारिणी सभाको हिन्दुस्तानीके सम्बन्धमें एक दूसरेका उग्रतर विरोध करते देखते हैं।

प्रश्न उठता है कि यह विरोध पुनः क्यों उठ खड़ा हुआ ? इसका उत्तर भी स्पष्ट है। पहले महात्मा गांधीने हिन्दीको ही भारतकी राष्ट्रभाषा उद्घोषित किया

था और अहिन्दी प्रान्तों—मद्रास, बङ्गाल, आसाम, सिन्ध आदिमें उसके प्रचारके लिए प्रयत्न भी किये थे। इसके परिणामस्वरूप मुसलमान सशङ्कित हो उठे और उन्होंने अपरोक्षतः महात्मा गांधी तथा कांग्रेस पर यह दोष लगाना आरम्भ कर दिया कि वे भारतीय मुसलमानोंकी भाषाको नष्ट करनेके लिए प्रयत्नशील हैं, तथा यहांके मुसल्मानों पर हिन्दी उनकी इच्छाके विरुद्ध उन पर लादी जा रही है। इन आक्षेपोंका उद्देश्य सफल हुआ और तुरन्त ही भाषाकी एक सर्वमान्य संज्ञाका अन्वेषण होने लगा और इस प्रकार उर्दूकी सहायतासे 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रीय-भाषाके पद पर प्रतिष्ठित हुई। अनेक कांग्रेसजन इस नामको समन्वयपूर्ण मानते हैं। किन्तु यह भ्रांतिपूर्ण धारणा है। वह भाषा जिसे पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद तथा आचार्य नरेन्द्रदेव अ० भा० राष्ट्रीय महासभाके अधिवेशनोंमें बोलते हैं, विशुद्ध प्रांजल उर्दू है। इसीको 'हिन्दुस्तानी' भी कहा जा सकता है जो कि वास्तवमें उर्दूका ही एक अन्य नाम है। किन्तु नाम बदल देने मात्र ही से भाषाका स्वरूप नहीं बदल सकता। एतदर्थ यदि कोई यह समझता है कि फ़ारसी, अरबीकी शब्दावलीसे युक्त उर्दू भारतकी राष्ट्रभाषा हो जायगी तो वह भ्रममें है। ऐसा विचार करनेके मेरे पास पर्याप्त कारण हैं। भारतीय भाषाओंके नक्शेको देखनेसे पता चलता है कि अधिकांश प्रान्तीय भाषाओंका सम्बन्ध आर्यभाषा वर्गसे है। बंगालसे बम्बई प्रान्त तक जितनी भी प्रान्तीय भाषाएँ तथा उपभाषाएँ बोली जाती हैं, उनका संस्कृतसे ऐतिहासिक सम्बन्ध है। मराठी, गुजराती, हिन्दी, बिहारी, बंगाली, राजस्थानी, आसामी आदि समस्त भाषाएँ संस्कृतसे ही निकली हैं। इसलिये इनमें संस्कृतके शब्दोंका आधिक्य स्वाभाविक ही है। ऐसी हालतमें भारतकी जन भाषा वही हो सकती है, जिसे सारा देश समझ सकता हो और जिसका प्रचीन कालकी 'अपभ्रंश' 'शौरसेनी' तथा अन्तिम रूपसे संस्कृतसे निकटतम सम्बन्ध हो। हिन्दी ही ऐसी एक मात्र भाषा है और इसलिये वह भारतकी जनभाषा बन सकती है। हिन्दीके स्थान पर हिन्दुस्तानीको थोपनेके प्रयत्नका कड़ा विरोध किया जायगा। इसलिये कांग्रेसको या तो भाषा सम्बन्धी वाद-विवादमें ही नहीं पड़ना चाहिये अथवा उसे साहसपूर्वक हिन्दीको अपनाना चाहिये।

वाद-विवादके फलस्वरूप प्रान्तीय भाषाओंको भी काफी धक्का लगा है। बिहार, युक्तप्रान्त और सी० पी० के अधिकांश निवासियोंकी भाषा हिन्दी ही है, किन्तु हमारे राजनैतिक पंडितोंके 'हिन्दुस्तानी' के प्रति ज़बर्दस्त जोशने इन प्रान्तीय भाषाओंको काफ़ी क्षति पहुँचाई है।

भारतकी आम भाषाको फ़ारसी और अरबीका जामा पहिना देना असंगत और अव्यावहारिक ही नहीं, बल्कि अमानवीय भी है। जब कि विभिन्न प्रान्तोंके निवासी संस्कृतसे उत्पन्न भाषाओंका ही प्रयोग करते हैं और जब कि महाराष्ट्र, गुजरात और बङ्गाल आदिके मुसलमान भी अपने दैनिक प्रयोगमें संस्कृत-प्रधान प्रान्तीय भाषाओंको ही उपयोगमें लाते हैं, तब फिर इतने जोश और लगनके साथ, जिसे कि किसी महान् उद्देश्यकी प्राप्तिमें लगाना चाहिए था, हमारी भाषाको बिगाड़नेका प्रयत्न क्यों किया जा रहा है ?

हिन्दुस्तानीका एक दूसरा पहलू भी है और यह पहलू बहुत ही महत्वपूर्ण है। वर्तमान हिन्दुस्तानीमें हम अपने उच्चतम भाव और भावनाओंको व्यक्त ही नहीं कर सकते। दार्शनिक विचार और भावपूर्ण कल्पनाएँ रूखी प्राणहीन और दैनिक प्रयोगमें आने वाली भाषा द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती।

इसलिये हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभाके प्रयत्न निश्चय ही असफल होंगे।

(वीर अर्जुन १४ अक्टूबर, १९४५)

राष्ट्र भाषा भारतीय संस्कृतिके अनुरूप हो—

संयुक्त प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके काशीमें होनेवाले सप्तम अधिवेशनके सभापति पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने जो भाषण दिया है वह इस प्रकार है :—

सम्मान्य स्वागताध्यक्ष महोदय एवं मित्रो,

आज हृदयमें बड़ी वेदना, बड़ी व्यथा, बड़ी पीड़ा है। भारतीय मानव आज उपमानव बन रहा है। घृणा एवं विद्वेषकी ज्वाला भड़क उठी है। निम्नतम मनो-विकारोंका धूम्र सब दिशाओंको आक्रान्त किये है।

आज भारतीय सन्त परम्पराको, नीच धर्मान्धता चुनौती दे रही है। यह शत्रु-भावना, यह घृणा यह बर्बरता, यह अज्ञानवृत्ति मानव-रक्त-रञ्जित अपने विकराल दंष्ट्रोंमें बच्चों, बेटियों और निरीहोंके शवोंको दाबे हुए अट्टहास कर रही है। शेख सलीम चिश्ती, कबीर, नानक, तुलसीकी परम्पराको ललकारकर वह कह रही है, "कहां है तेरा वह राम-रहीमकी एकतावाला उद्बोधन ? क्या हुआ तेरा वह इकतारा जिसे बजा-बजाकर सर्वधर्म-श्रद्धा-भावके गीत गाये जाते थे ?"

तात्कालिकता एवं सामयिक आवश्यकताके आधार पर साहित्य-सृजन करनेके सिद्धान्तका अनुगमन करनेमें सदा यह भय बना रहेगा कि कहीं हम अपनी नाककी सीधसे किंचित् भी अधिक आगे देख सकनेमें असमर्थ तो नहीं हो जायेंगे ? और इसी कारण, इधर कई वर्षोंसे मैं अपने साहित्यकारों तथा आलोचकोंके समक्ष अपना यह विचार उपस्थित करता आ रहा हूँ कि हमें केवल-मात्र तात्कालिकता, केवल-मात्र सामयिकवाद विशेषताके आधार पर साहित्य-निर्माण करनेका हठ नहीं करना चाहिये। ऐसा हठ भयावह है।

साहित्यकार सम्प्रदायवादमें न पड़ें—

यदि केवल तात्कालिक आवश्यकता, यदि सामयिक युग-धर्म ही मेरी साहित्य-कृतियोंको प्राणोदित करनेके अधिकारी हों तब मैं क्या घृणा, विद्वेष, बर्बरता, निर्दयता और निर्ममताके ही गीत गाऊँ ? क्या मेरे वे गीत मानवको ऊँचा उठाने वाले मानवको ऊर्ध्व गमनकी प्रेरणा देने वाले होंगे ? यदि नहीं तो क्या मेरा साहित्य केवल-मात्र मेरे जघन्य रागोंका पुंज होकर ही नहीं रह जायगा। मैं निवेदन करना चाहता हूं कि इस प्रकारके वर्गवाद या सम्प्रदायवादमें पड़कर हमें साहित्यका—अर्थात् अपने अन्तस्तलमें बैठे हुए सत्यं-शिवं-सुन्दरं का गला नहीं घोंटना चाहिये।

हम, राष्ट्र भाषा हिन्दीके सेवकोंका उत्तरदायित्व बहुत अधिक है। हमारी साहित्य परंपरा और हमारी सन्त-परम्परामें कोई भेद-भाव नहीं रहा है। स्मरण रहे कि यदि हम अपनी परम्परासे विचलित होते हैं तो हम न केवल अपने उज्ज्वल साहित्यिक इतिहासके प्रति वरन् अपने वर्तमान और अपने भविष्यके प्रति भी घोर

विश्वासघात करते हैं। देवोभूत्वा देवंयजेत—स्वयं देव-स्वरूप होकर ही अपने आराध्य देवकी अर्चना करनी चाहिये। माता सरस्वतीकी आराधना करनेवालेके हृदयमें सरस्वती-वाहन हंसकी-सी शुभ्रता और नीर-क्षीर-समर्थता यदि न हो तो माता की पूजा कैसे होगी? हम यदि साहित्य-स्रष्टा हैं तो हम प्रण करें कि आजकी इस पशु बना देनेवाली भयानक परिस्थितिमें भी हम पशु नहीं बनेंगे और हम मानव को पशु बननेकी प्रेरणा नहीं देंगे। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम कायर, अकर्मण्य, आकाश कुसुम चुनने वाले, यथार्थतासे अनभिज्ञ, गगन-बिहारी बन जायं। इसका अर्थ केवल यह है कि हम मानवको उसका मानवत्व प्रदान करनेकी ओर अग्रसर हों। मानवके अन्तस्तल-निवासी गुहा-मानवको उत्कर्षणके, विकासके मार्गकी ओर अग्रसर करनेमें ही सच्चा पुरुषार्थ है। यही श्रेयका मार्ग है। इसीके द्वारा प्रेय की भी संपूर्ति हो सकती है। इसी प्रकार योग-क्षेमका वहन हो सकता है। साहित्य निर्माण करते समय यही प्रेरणा हमें प्रणोदित करती रहे—यही मेरा विनम्र अनुरोध और मेरी विनम्र प्रार्थना है।

भाषा विषयक मतभेद—

गत वर्ष दिल्ली प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके सभापति-पदसे बोलते हुए मैंने हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानीके विषयमें तथा सरकारकी रेडियो-भाषा सम्बन्धी नीतिके विषयमें अपने विचार बहुत स्पष्टतापूर्वक व्यक्त कर दिये हैं। अतः मैं इस विषयमें कुछ विशेष बात तो आपके सम्मुख रख नहीं सकता; पर इतना अवश्य कह देना चाहता हूं कि हमारे देशमें भाषा विषयक यह मतभेद हमारी ऐतिहासिक बिडम्बना है। बड़े खेदका विषय है कि हमारे देशके मुसलमान भाई न जाने क्यों यह समझ बैठे हैं कि भारतवर्षसे बाहरकी भाषाएं भारतीय भाषाओंकी अपेक्षा उनके अधिक निकट हैं। बात जैसी है, उसे वैसे ही समझ लेनी चाहिये। आजका भारतीय मुसलमान यानी पढ़ा-लिखा, नवीन ठप्पेका मुसलमान अभारतीय किंवा भारतीय संस्कृति का विरोधी है। और आजके भारतीय मुसलमानमें जो यह भारतीयता-विरोधी मानस-ग्रन्थि दिखलाई दे रही है, वह कुछ नई नहीं है। भाषा-विकासके इतिहास पर यदि हम विचार करें तो हमें पता लगेगा कि उसका स्वरूप भारतीयता-विरोधी मुस्लिम

भावनाका ही प्रतिफल है। इस समयमें इस प्रश्नके ऊहापोहमें न पड़ूंगा कि भारतीय मुसलमान समाजकी भारतीयता-विरोधिनी मनोवृत्तिके ऐतिहासिक कारण क्या हैं ? बिना किसी ऐतिहासिक विवेचनके यदि मैं गतवर्ष दिल्लीमें व्यक्त किये गये विचारोंको ही दोहराता हूं तो आपको मेरा मन्तव्य स्पष्ट रूपसे अवगत हो जायगा। इस देशमें इस्लामने अभारतीय स्वरूप धारण किया है, और दिन प्रति दिन भारतीयता विरोधका यह रंग और गहरा होता जा रहा है।

मैंने कहा था कि "भारतीय मुसलमान, भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास, भारतीय वीरपुरुषों और भारतीय परम्पराओंको विजातीय समझना ही अपने इस्लाम के प्रति भक्तिरव्यभिचारिणीका आवश्यक तत्व मानता है। अतः वह भारतीय भाषा को अपनी भाषा नहीं मानता। यह दुर्भाग्यका विषय है। पर है यह सत्य, यथार्थ बात। आज तुर्कीका मुसलमान अपनी तुर्की भाषासे अरबीके शब्द बीन-बीन कर निकाल रहा है। आज ईरानका मुसलमान अपनी फारसी भाषासे अरबीके शब्द निकाल कर अपनी भाषाको शुद्ध एवं संस्कृत कर रहा है। पर आजका भारतीय मुसलमान इस प्रभावके वश होकर कि अभारतीयता इस्लाम-भक्तिकी द्योतक है, अपनी उर्दू भाषामें अरबी शब्दोंको ठुसेड़ रहा है। यह हमारी विडम्बना है। भारतीय मुसलमानोंकी इस मनोवृत्तिके कारण हम हैं—हम उच्च वर्णके हिन्दू, जिन्होंने अपने धार्मिक संकोचके कारण तथा अपनी सड़ी-गली परिपाटी पूजाके कारण, अपनी संस्कृति को अपने मनोभावोंको विकृत कर दिया और जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्य धर्मावलम्बी जन हमारे शुद्ध स्वरूपको देख ही न पायें। कारण कुछ भी हो, भारतीय मुसलमानकी इस अराष्ट्रीय अथवा अभारतीय, किंवा भारतीयता विरोधी प्रवृत्तिके अस्तित्वको स्वीकृत करके ही हमें आगेकी भाषा सम्बन्धी नीतिका निर्णय करना है।

अभारतीय मनोभाव—

हमारे देशवासी भाइयोंकी—अर्थात् हमारे मुसलमान भाइयोंकी—भाषा संबंधी नीति इस बातका एक और प्रमाण है कि उनका मनोभाव अभारतीय है। उर्दू भाषाके विकास और उसके आरम्भका क्रमगत इतिहास इस बातका साक्षी है कि

उर्दूके उन्नायकोंने एतत् देशीय शब्दों—संस्कृत किंवा प्रान्तीय भाषाओंमें व्यवहृत होनेवाले शब्दों,—के बहिष्कारकी भीत्ति पर ही उर्दू ए-मो-अल्लाका प्रासाद निर्मित्त करनेकी ठान ली थी। अदीब उल्मुल्क नवाब सैयद नसीरखांके 'मुगल और उर्दू' नामक ग्रन्थका एक उद्धरण पं० चन्द्रबली पाण्डेयने अपनी 'उर्दू कब और कैसे बनी' नामक पुस्तिकामें अंकित किया है। नवाब सैयद नसीरखां महाशयका कथन इस प्रकार है :—

,, उमदतुल मुल्कने और उमराके मशविरः से देहलीमें एक 'उर्दू अंजुमन' कायम की। उनके जलसे होते, जबानके मसायले छिड़ते, चीजोंके उर्दू नाम रखे जाते, लफ्जों और मुहाविरों पर बहसें होतीं, और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छान-बीनके बाद 'अंजुमन' के दफ्तरमें वह तहकीकशुदा अल्फाज व मुहावरात कलम बंद होकर महफूज किये जाते। और बकौल मियहलमुतो लगीन, इनकी नकल हिन्दके उमराव रूसाके पास भेज दी जातीं और वे उसकी तकलीदको फख्र जानते और अपनी-अपनी जगह उन लफ्जों और मुहाविरोंको फैलाते।''

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि उर्दू भाषाको विकसित करते समय उसके निर्माताओं के मनमें इस देशको बहिष्कृत करनेकी भावना थी। यदि हम सरूरके उस शेरको याद करें जो उन्होंने नासिक के सम्बन्धमें कहा था तो हमारा यह संदेह और भी दृढ़ हो जाता है। सरूर महाशय श्रीयुत नासिक की प्रशंसामें कहते हैं।

बुलबुले शीराजको है रश्क नासिकका सरूर।
इस्फहाँ उसने किये हैं कूचहाए लखनऊ॥

किंचित् सोचिए तो कितना बड़ा अभारतीय अथवा भारतीय-विरोधी मनोभाव है। नासिककी प्रशंसा इसलिये की गई कि उन्होंने लखनऊकी गोलियोंको इस्फहान बना दिया। अर्थात् अपनी रचनाओंमें उन्होंने इतना अधिक एतत् देशीय शब्द-बहिष्कार किया और फारसी शब्दोंकी इतनी ठूंस-ठास की कि लखनऊकी गलियाँ इस्फहान बन गईं। मेरा तात्पर्य यह है कि उर्दूके विकासकी यह गति यों ही चलती रही।

हिन्दीका स्वरूप क्यों विकृत किया जाय—

मैं इस बातका घोर विरोधी हूं कि हिन्दुस्तानी नामक किसी कपोल-कल्पित भाषाके सृजनके नाम पर हिन्दीका स्वरूप विकृत किया जाय। प्रश्न सीधा-सा है— क्या आप हम राजनीतिक, अर्थ शास्त्रीय, वैज्ञानिक, गणित विषयक, ज्यामिति शास्त्रीय आदि शब्दोंको संस्कृतसे लेनेको तैयार हूं? अथवा क्या ये नित नव, किन्तु सतत प्रयोगोंमें आनेवाले, शब्द अरबी या फारसीसे लिये जायेंगे? मेरे देशकी ऐतिहासिक परिपाटी संस्कृति, जन-रुचि एवं जन-हित भावनाका यह आदेश है कि वर्तमान आवश्यकता एवं वर्तमान विचार-धाराको व्यक्त करनेवाले अभिनव शब्द संस्कृत अथवा देशी भाषाओं से ही आयें।

आज हमारे देशकी राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां अत्यन्त तीव्र गति से परिवर्तित हो रही हैं। आज तो हमारे सम्मुख यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिये कि हमारे इस भारत देशकी राष्ट्र-भाषा क्या हो? हिन्दुस्तानी नामक भाषाका हमारे जीवनमें, हमारी ऐतिहासिक शृंखलामें, हमारी संस्कृतिमें, हमारी जन-रुचिमें कोई स्थान नहीं है। हिन्दुस्तानी नामक कपोल-कल्पित भाषा एक ऐसा उपहासास्पद प्रयास है, जो सांस्कृतिक सम्मेलनके नाम पर वास्तवमें संस्कृति सांकर्यको प्रणोदित करता है। प्रश्न यह है कि हम अरबी तथा फारसीके शब्दोंका प्रचलन क्यों सहन करें? हम इस प्रकारकी विजातीयताको क्यों प्रोत्साहित करें? क्या हमारी भाषामें हमारी संस्कृत वाणीमें, यह क्षमता नहीं है कि वह अभिनव विचारोंको आत्मसात् कर लेनेके उपरांत उन्हें व्यक्त करे? किसका साहस है जो यह कहे कि हमारी भाषा, हमारा शब्दकोष—दरिद्र है? हमारी यह मान्यता है और हम साहसके साथ यह प्रतिपादित करते हैं, कि हम प्रत्येक प्रकारके वैज्ञानिक, राजनीतिक, न्याय-विधान-विषयक आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक, दार्शनिक, साहित्य संबंधि एवं ललितकला विषयक अभिनव विचारोंको संस्कृत शब्दों द्वारा पूर्णरूपसे व्यवहृत कर सकते हैं। इस सम्बन्धमें किसी भी निष्पक्ष शब्द-शास्त्रीको रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। अतः जो लोग हिन्दुस्तानी नामक कल्पित भाषाका राग अलापते हैं, वे वास्तवमें भाषा विषयक प्रश्नके महत्त्वको समझे बिना ही ऐसा करते हैं। प्रचलित

शब्दों के आधार पर भाषाको परिवर्तित न करनेकी बात भी मेरी समझमें नहीं आ रही है।

आज हमारी न्याय-विधान विषयक शब्दावली फ़ारसीके अस्वाभाविक प्रभाव से बोझिल हो गई है। हम इस बातको क्यों सहन करें ? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे साहित्यमें, हमारे प्राचीन समाज-विधानमें, न्यायालयोंमें प्रयोग होनेवाले प्रत्येक शब्दके लिये, संस्कृत शब्द विद्यमान हैं ? तब, हम आज उन शब्दोंकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये क्यों न आन्दोलन एवं प्रचार करें ? हम युक्त प्रान्तीय सरकारके कृतज्ञ हैं कि उसने प्रांतकी भाषा हिन्दी स्वीकृत कर ली है। हम उसे बधाई देते हैं। परन्तु हमारा निवेदन यह है कि यह स्वीकृति मात्र ही पर्याप्त नहीं है। इस सिद्धान्त-मान्यताको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये हमारी प्रांतीय सरकारको एक समितिका निर्माण तुरन्त ही करना चाहिये और इस समितिके अधीन समस्त शासन सम्बन्धी शब्दोंके हिन्दी रूपान्तरका कार्य कर देना चाहिये। यह कहना कि अरे भाई जो कानूनी शब्द प्रचलित हो गये हैं उन्हें यथावत बना रहने दो, एक भ्रान्त वार्ता है। प्रचलनके नाम पर और प्रचलन भी ऐसा जो बलात् चालू किया गया हो—हम इस प्रकारकी विजातीयताको सहन नहीं करेंगे।

बहुधा हिन्दुस्तानीके पक्षपाती सरलता एवं बहुजन-बुद्धि ग्राह्यताकी दुहाई देते हैं। यह सरलता वाला तर्क हमारी समझमें कभी नहीं आया। यह माना कि आज हमारा जन-समूह निरक्षर है, उसका शब्दकोष सीमित है एवं उसका मानस-दिङ्-मंडल अत्यन्त संकुचित है। यह भी माना कि आज वह संस्कृत-निष्ठ भाषाको समझनेमें कठिनाई अनुभव करता है। तब क्या इसका यह अर्थ है कि वह फारसी-निष्ठ भाषा समझ सकता है ? गत शताब्दियोंके शब्द-सांकर्यके कारण यह हो सकता है कि उत्तर भारतके दिल्ली लखनऊके आस पासके कुछ गांवोंके निवासी फ़ारसी-अरबी शब्दोंसे किंचित परिचित हो गये हों। पर क्या हम उन गत शताब्दियोंके इस अत्यन्त सीमित अभिशापको अपनी खोपड़ी पर लादे रहें ? नहीं। हम यह न करेंगे। यदि आज हमारा जनसमूह संकुचित एवं सीमित विचारों वाला है, तो क्या इस कारण हम अपनी भाषाको सदा दरिद्र बनाए रखें ? क्या हम अपने मानवको

सदा अज्ञान-तिमिराच्छन्न ही रहने दें ? क्या हम उसे नये विचार न दें ? क्यों हम उसका शब्द-भाण्डार न बढ़ाएँ ? क्या हम उसके संस्कृति-सांकर्यको प्रोत्साहित करते जायं ? "कहिए, किबला, मिजाज मकसूस ? आदाब अर्ज।" मैं पूछता हूँ यह कौन-सी सभ्यता कौन-सी संस्कृति, कौनसी परिपाटी है ? क्या इसीको हम संस्कृति-सम्मेलनके नामसे पुकारें ? स्पष्टवादिता क्षमा की जाय, यह संस्कृति सम्मेलन नहीं है, यह हमारी दासता-जन्य विवशताकी निशानी है।

गान्धीजीका विरोध—

मुझे स्वयं दुःख है कि मैं अपने नेता एवं आराध्यदेव गान्धीकी हिन्दुस्तानी वाली बातको अनुचित समझने पर बाध्य हूं। मेरी बुद्धि गांधीकी इस बातको स्वीकृत नहीं करती। गान्धीके विचारोंके विरुद्ध अपना मत प्रतिपादित एवं प्रकट करना मेरे ऐसे जनके लिये कितना कष्टकर है, इस बातको मेरे वे समानधर्मा ही समझ सकते हैं, जिन्होंने गांधीकी एक मुसकानके लिए अपने संपूर्ण यौवनको उत्सर्ग कर दिया है। मेरे लिए गीताका स्थित प्रज्ञ, संन्यासी, त्रिगुणातीत, भक्त एवं ज्ञानी कल्पनाके परे की वस्तु थे। गान्धीके चरण-दर्शन करके ही मैं गीताकारकी तत्सम्बन्धी मान्यताको सम्भव एवं व्यवहार्य मान सका हूं। गान्धी मेरे जीवनमें और मेरे सदृश लक्षावधि जनोंके जीवनमें क्या रहा है और क्या है—यह मैं क्या बताऊँ ? जो महामानव अनायास ही मेरे हृदय-सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो गया है, जिसे मैं अपना मुक्ति-मन्त्र-दाता मानता हूं, जिसे मेरी भावना एवं मेरी बुद्धि युगावतारके रूपमें स्वीकृत कर चुकी है, जिसके चरणानुगमन करनेका यत्किंचित् प्रयास जीवन-सफलताका सन्तोष प्रदान करता है, उस महापुरुषके विचारसे सहमत न हो सकना मेरे लिए कष्ट-प्रद अवश्य है। किन्तु आज इस भाषा विषयक नीतिके सम्बन्धमें मैं गान्धीका विरोध करनेके लिए विवश हूँ। मैं समझता हूँ कि गान्धी 'हिन्दुस्तानी' का उद्घोष करके देशको भ्रान्त दिशाकी ओर ले जा रहा है। मेरे लिये, हम सबके लिये भाषाका विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्धमें किसी प्रकारका कोई समझौता नहीं हो सकता।

आज भारतवर्ष स्वतन्त्र है। मेरे लिये स्वतन्त्रताका कोई मूल्य नहीं रहेगा, यदि इस स्वतन्त्र वातावरणमें मुझे भारतीय संस्कृतिके अनुरूप अपने समाज एवं राष्ट्र

के विकासका अवसर तब तक नहीं मिल सकता, जब तक कि मेरे राष्ट्रकी भाषाका प्रश्न मेरे राष्ट्रकी सांस्कृतिक परम्पराके अनुसार निर्णीत नहीं होता। इस भारत राष्ट्रकी सांस्कृतिक परम्परा संस्कृत भाषानिष्ठ है। इसका प्रमाण यदि आप चाहें तो आप इस राष्ट्रके संस्कृत, प्राकृत, पाली, पैशाची, अपभ्रंश एवं जानपदीय साहित्यका अग्राग्रावलोकन कर लें। आज भी हमारी प्रांतीय भाषाओंमें संस्कृतनिष्ठ शब्दोंका बाहुल्य है। अतः यह स्वयंसिद्ध बात है कि भारत राष्ट्रकी संस्कृति परम्पराकी रक्षा केवल उसी भाषा द्वारा हो सकती है जिस भाषाका स्रोत संस्कृत भाषा हो और जिसका अक्षर-अभिव्यञ्जन देवनागरी लिपि द्वारा हो। स्मरण रहे कि जब तक हम इस प्रश्नको ठीक तरहसे नहीं सुलझा लेंगे, तब तक हम अपने राष्ट्रीय जीवनकी अन्य गुत्थियोंको न सुलझा सकेंगे।

हमें अपने देशमें अपनी परम्परा-अनुमोदित भाषा—हिन्दी भाषा—के द्वारा ही अपना सांस्कृतिक उत्थान करना है। हमें अपने देशवासी मुसलमान जनोंको हिन्दी भाषाके द्वारा ही शिक्षित करना है। हमें उन्हें इसी भाषाके द्वारा अपने देश—अर्थात् उनके देश—की प्राचीन गरिमाका गौरवानुभव कराना है। हमें उन्हें राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, अशोक, चन्द्रगुप्त, गंगा, यमुना, विन्ध्य, हिमाचल आदिमें अपनपौका अनुभव कराना है। यह कार्य संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषाके द्वारा ही हमें करना है। अतः आज हम उर्दू अथवा हिन्दुस्तानीके जालमें क्यों फंसे ? कोई भी महान् सांस्कृतिक यज्ञ ऐसी भाषाके द्वारा सम्पूर्ण हो ही नहीं सकता जो विदेशी भाषाओंके शब्द-भाण्डारकी ओर टकटकी लगाये देखती रहे और उसके द्वार पर शब्दोंकी भिक्षाके लिये हाथ पसारे खड़ी रहे। यदि हमें अपने राष्ट्रवासी हिन्दू-मुसलिम बालकोंको यह सिखलाना है कि "भगवान् कृष्णचन्द्र पूर्ण पुरुषोत्तम थे", तो इस बातकी कौनसी आवश्यकता है कि हम उर्दू लिपिमें उन्हें सिखाएं कि "जनाब किशनचन्दर साहब एक मुकम्मल आला इन्सान थे ?" और फिर यह भी तो सोचिये कि 'जनाब किशनचन्दर साहबकी मुकम्मल आला इन्सानियत' उनके 'पूर्ण पुरुषोत्तमत्व' की तर्जुमानी कहां तक करती है ? इसलिये हम कहते हैं कि भारतीय संस्कृतिमें तथाकथित हिन्दुस्तानी भाषा और उर्दू लिपिका कोई स्थान नहीं है।

विधान परिषद् और कांग्रेस दलका प्रस्ताव—

हमारे सम्मुख अभी तक हिन्दी भाषाको तथा देवनागरी लिपिको भारतकी राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपिके रूपमें स्वीकृत करनेका प्रस्ताव अस्वीकृत अवस्थामें ही पड़ा हुआ है। आपमें से अधिकतर, अथवा यों कहूं कि सभी महानुभाव यह बात तो जानते ही हैं कि भारतीय विधान परिषद्के कांग्रेस दलने आपके इस सेवक का यह प्रस्ताव मान लिया है कि भारतकी राष्ट्र-भाषा हिन्दी तथा राष्ट्र-लिपि देवनागरी हो। परन्तु अभी तक यह प्रस्ताव विधान-परिषद् द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। विधान-परिषद्के आगामी अधिवेशनमें यह प्रस्ताव विचारार्थ उपस्थित किया जायगा। श्रद्धास्पद बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डनके प्रयत्नों एवं भिन्न-प्रांतोंके हिन्दी-प्रेमी सदस्य बन्धुओंके सहयोगसे यह प्रस्ताव विधान-परिषद्में भी स्वीकृत हो जायगा, ऐसी आशा तो है। पर रह-रह कर मनमें एक खटका भी उत्पन्न हो जाता है। गांधीजी आज भी हिन्दुस्तानी तथा देवनागरी एवं उर्दू लिपियोंकी बात कहते चले जा रहे हैं। और उनके एतत् विषयक अनुगामी जन हम लोगों पर आग्नेय नयन बाणोंकी वर्षा कर रहे हैं। ऐसे समय आपका—युक्त प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलनका—यह कर्तव्य है कि बंगाल, मद्रास, बम्बई, पंजाब तथा अन्य सभी प्रान्तोंके विधान-परिषद् सदस्यों को हिन्दी तथा देवनागरीके पक्षकी बातें समझायें और इस प्रकार आप हम हिन्दी-देवनागरी-समर्थकों को बल प्रदान करें। आपमेंसे कुछ महानुभाव तथा अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके भाषा शास्त्र पंडित नेतागण विधान-परिषद्के समय दिल्ली पधारें और भिन्न-भिन्न प्रांत-वासियोंसे सम्पर्क स्थापित करें। हिन्दी-हिन्दुस्तानी-विवादका स्पष्टीकरण करने वाली पुस्तिकाएँ अंग्रेजीमें भी तैयार की जानी चाहियें। हम हिन्दी तथा देवनागरीके पक्षमें प्रबल आन्दोलन करना चाहिये। स्मरण रखिये कि बिना एक संगठित एवं शक्तिशाली आन्दोलनके हम विधान-परिषद्में अपनी बात न मनवा सकेंगे। इस कारण आप सब मित्रोंको सजग एवं सतर्क रहने की परम आवश्यकता है।

विधान-परिषद्के कांग्रेस दलमें एक प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ है कि हिन्दी देव-नागरीका प्रस्ताव कांग्रेस-दलने जब बहुमतसे स्वीकृत कर लिया है, तब कांग्रेस दलके

सदस्योंको विधान-परिषदमें मनमाने ढंगसे मत देनेकी स्वतन्त्रता हो या न हो ? कांग्रेस दलके विधान परिषदीय वे सदस्य जो हिन्दी-देवनागरीके समर्थक हैं, यह चाहते हैं कि इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर दलके सदस्योंको प्रस्तावके पक्षमें ही मत देनेका आदेश दिया जाना चाहिये। प्रस्तावके विपक्षमें मत देनेवाले अल्पमतीय सदस्योंको यह स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये कि वे विधान परिषदमें भी मत देते समय विरुद्ध में अपनी सम्मति प्रकट करें। प्रस्ताव-विरोधियोंका यह मन्तव्य है कि यह भाषा-विषयक प्रश्न ऐसा महत्वपूर्ण एवं तात्विक है कि उसका सीधा सम्बन्ध उनके आत्मिक आन्तरिक विश्वासके साथ है, अतः विरोधी सदस्योंको अन्तस्थ आत्मिक विश्वासके प्रतिकूल मत देनेके लिये विवश करना घोर अन्याय होगा। विधान-परिषदस्थ कांग्रेस दलकी सभाके सभापति आचार्य कृपलानी सदस्योंको मतदान-स्वतन्त्रता देनेके पक्षमें प्रतीत होते हैं। हिन्दी देवनागरी वाले प्रस्तावको सफलतापूर्वक पास करानेके लिये यह आवश्यक है कि न्यूनातन्यून कांग्रेस-दलमें इस विषयमें फूट न पड़े। हमारी समझमें इस गुत्थीका एकमात्र सुलझाव हमें तो यही प्रतीत होता है कि विधान-परिषदस्थ कांग्रेस दल अपने उन सदस्योंको, जो इस प्रश्नको आत्मिक-विश्वास-मूलक मानते हैं, केवल इतनी स्वतन्त्रता दे दें कि वे विधान-परिषदमें वोटके समय तटस्थ रह जांय। किसी भी अवस्थामें ऐसे सदस्योंको प्रस्तावके विपक्षमें वोट देनेकी स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। मेरा तात्पर्य यह है कि इस समय हमारे सामने अनेक कठिनाइयां हैं और जब तक हमारे हिन्दी-भाषी कर्मठ विद्वज्जन विधान-परिषद के समय हमारी सहायताको नहीं आएँगे, तब तक इस प्रश्नको हिन्दी देवनागरीके पक्षमें निर्णीत करा लेना अत्यन्त कठिन—कदाचित् असम्भव भी होगा।

पाकिस्तानने अपनी राष्ट्रभाषा उर्दू उद्घोषित कर दी है। पाकिस्तानकी विधान-परिषद्‌ने चाहे इस विषयमें कोई निर्णय न किया हो, पर पाकिस्तानी विद्युत-उद्घोष-विभागने हिन्दुस्तानीके स्थान पर उर्दूमें समाचारोंकी घोषणा करनी प्रारम्भ कर दी है। हम पाकिस्तानका अनुकरण नहीं करना चाहते। पर, हिन्दुस्तानीके आवरणमें इस विजातीयताको प्रश्रय देनेके घोर विरोधी हैं। इसलिये हमारा यह निश्चित मत है कि हिन्दीको राष्ट्रभाषा और देवनागरीको राष्ट्र लिपिके रूपमें स्वीकृत

करने ही में भारत राष्ट्रसंघका कल्याण है। भाषा और लिपिके साथ खिलवाड़ करना राष्ट्रकी परम्परा एवं संस्कृतिके साथ विश्वासघात करनेके सदृश है।

अन्ततः, हिन्दुस्तानी भाषा है क्या ? भारत सरकार द्वारा निर्मित विद्युत-उद्योग-परामर्श-दात्री-समितिने हिन्दुस्तानीकी व्याख्या करनेका प्रयास किया था। उसके मतानुसार हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जो साधारणतः उत्तर-भारतमें समझी और बोली जाती है। और जो उर्दू और देवनागरी दोनों लिपियोंमें लिखी जाती है। मेरे निकट यह परिभाषा एक भ्रष्ट परिभाषा है,—भ्रष्ट इसलिये कि यह अवैज्ञानिक एवं अवास्तविक है। सर जार्ज ग्रियर्सनके सदृश भाषा-तत्व-विशारदको उत्तर भारतमें हिन्दुस्तानी नामकी कोई भाषा नहीं मिली। इतिहासकी दृष्टिसे हिन्दवी अर्थात् हिन्दी तो भाषा है,—पर हिन्दुस्तानीका तो कहीं अस्तित्व है ही नहीं। इसलिये, इस प्रकारके भ्रामक नामके चक्करमें फंसकर, हिन्दी भाषाके साथ अन्याय करनेकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन करते जाना कहांका न्याय है ?

हमारा अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा हमारे भिन्न-भिन्न प्रान्तस्थ प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, अथवा यों कहूं कि हम हिन्दी भाषा भाषीजन, कदापिकाल उर्दू भाषाके विरुद्ध नहीं हैं। यदि हमारे देशके कुछ निवासी भ्रमवश किंवा प्रमादवश हिन्दीका, अर्थात भारतीय परिपाटी एवं संस्कृतिका, विरोध करें तो करें। हम, भारतके लिये नितांत अस्वाभाविक उनकी उर्दूका विरोध नहीं करते हैं। हमने तो उर्दूको भी हिन्दीकी एक शैली ही माना है—हां, शैली ऐसी अवश्य जो भारतीयतासे विरहित एवं विजातीयतासे विजड़ित है। हम चाहते हैं कि अपने स्थान पर उर्दू फले-फूले। हां, हम इस बातका पक्ष समर्थन नहीं कर सकते कि हिन्दुस्तानीके छद्मवेशमें उर्दू पनपे। उर्दू अपने वास्तविक, यथार्थ, यथावत् रूपमें उन्नति भले ही करे। हिन्दुस्तानीके नाम पर, वह हिन्दीके विकासके मार्गमें आड़े न आवे, यही हम चाहते हैं।

हमारा यह विश्वास है कि हम हिन्दी भाषा एवं देवनागरी लिपिके द्वारा अपने देशके उस जन-समूहको जो अभीतक अपनेको हमसे, इस देशसे, इस देशकी परम्परा

और संस्कृतिसे, भिन्न समझता रहा है, अपनेमें आत्मसात कर लेनेमें समर्थ होंगे। हिन्दुस्तानी नामक कल्पित भाषाके माध्यमसे यह कार्य सम्पादित नहीं हो सकता।

एक बात और कह दूं ? हिन्दी अमर है, वह हमारी संस्कृतिका एक अविच्छेद्य अंग है। जब तक भारतीय जन-गणोंके हृदयोंमें अपनी परम्परा, अपनी सत्य-शिवं-सुन्दरं संस्कृति एवं अपने उज्ज्वल अतीतके प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं आस्था है, जब तक हमारे हृदयोंमें बल एवं धैर्य है, जब तक हममें कर्मठता का किञ्चित् मात्र भी अंश है, तब तक हिन्दी मर नहीं सकती। मैं तो स्वप्नदर्शी हूं। मैं उस भविष्यका स्वप्न देख रहा हूं, जब भारतीय मुसलमान, अपनी वर्त्तमान अज्ञान निद्राको परित्यक्त करके उठ खड़ा होगा और वह देखेगा कि वास्तविक भारतीयताका ग्रहण करनेके पश्चात् ही वह सच्चा, अच्छा मुसलमान बन सकता है। और तब वह 'जय हिन्द' के उद्घोषसे दिगदिगंतको प्रकंपित करता हुआ भारतीय इतिहासमें एक नये अध्यायका प्रारम्भ करेगा। स्मरण रखिये हिन्दी तो इस देशके हिन्दू-मुसलमानोंकी संयुक्त सम्मिलित भाषा है। हमारी हिन्दी केवल सूर और तुलसी ही की नहीं है; वह अब्दुर्रहीम खानाखाना और रसखान की भी है। अतः इस बातका हम सदा स्मरण रखें कि हिन्दीका पक्ष समर्थन करते समय हम संकुचित साम्प्रदायिकताको न अपना लें।

(भारत—२६ अक्टूबर १९४७)

श्री सम्पूर्णानन्दजी—

[श्री सम्पूर्णानन्दजीके इस भाषणसे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषाकी अधिकारिणी अपने गुणोंके कारण ही है, न कि किसी प्रकार के पक्षपातके कारण। इसके द्वारा अन्य धार्मिक समुदायके लोगोंको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुंचेगी। इसकी 'सर्व संग्राहक (?) शक्ति तथा समन्वय शक्ति' असीम है। 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर आजकल जिस कृत्रिम भाषाका प्रयोग किया जा रहा है वह राष्ट्रके लिए व्याधिके समान कष्टदायक है।]

हिन्दी समूचे देशकी राष्ट्रभाषा है

काशीमें होने वाले संयुक्त प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके सप्तम अधिवेशनमें स्वागताध्यक्षके पदसे माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजीने जो भाषण दिया है, वह इस प्रकार है :—

हिन्दीके प्रेमियो !

सम्मेलनका यह अधिवेशन विशेष परिस्थितिमें हो रहा है। जो आजसे बारह महीने पहिले बहुत लोगोंके लिये स्वप्नका भी विषय नहीं था वह आज ध्रुव सत्य है। भारतवर्ष स्वतंत्र है। दुर्भाग्यवशात् देशके दो टुकड़े हो गये हैं, फिर भी जिस भागमें हम रहते हैं वह स्वाधीन है और हमको अब भी आशा है कि एक न एक दिन विभाजनका अन्त होगा। सामूहिक रूपसे न सही पर वैयक्तिक रूपसे हिन्दी साहित्यके कई प्रमुख सेवकोंका स्वाधीनताके युद्धमें अग्रगण्य स्थान रहा है। हमारे मनोनीत सभापति पं० बालकृष्णजी इस कथनके ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसा होना स्वाभाविक था। साहित्यिकके चेतः प्रदेशमें चतुर्दश भुवन समा जाते हैं, परन्तु वह स्वयं भूलोक निवासी होता है। वह भले ही किसी आदर्श जगत् की कल्पना करे परन्तु इस जगतका रेखांकन इस वास्तविक जगतके अट्टहास और क्रन्दन, भूख और तृप्ति, अभ्युदय और शोषणकी भूमिकामें ही हो सकता है। पराधीनतामें लेखनीका भी गला घुटता है, हँसीकी आड़में रुलाई झांकती है, आशा पलायनका आश्रय बन जाती है। अतः साहित्य सेवी स्वभावतः स्वाधीनता चाहता है। सम्मेलन राजनीतिक संस्था नहीं है। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह बात तो निःशंक कही जा सकती है कि हम सब स्वाधीनताका स्वागत करते हैं और इस कष्ट-प्राप्त स्वाधीनताकी रक्षाके लिये अपनी ओरसे सतत यत्नशील रहेंगे।

संस्कृतका स्थान हिन्दीने लिया है—

जिस वाराणसीमें हम आज मिल रहे हैं, उसका भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें स्थान है। ऐसा कह सकते हैं कि वाराणसीका इतिहास वेदोत्तरकालीन भारती संस्कृतिका इतिहास है। वेदोत्तरकालीन कहना भी अक्षरशः यथार्थ नहीं है। ऋग्वेद-

कालकी संस्कृतिका उद्गम और विकास तो सिन्धु और सरस्वतीके अन्तर्वेदमें हुआ परन्तु यजुर्वेदके ब्राह्मण यह स्पष्ट बतलाते हैं कि विद्या, राजशक्ति और संस्कृतिका केन्द्र पूर्व दिशाकी ओर खिसक आया था और काशी उस समय तक सांस्कृतिक आकाशका उज्ज्वल नक्षत्र बन चुकी थी। संस्कृत भाषा इस संस्कृतिका गोचर रूप है। मनुष्य मात्रके लिये स्फूर्तिदायिनी, कल्याणकारिणी और शान्तिप्रदा है। इसी प्रकार संस्कृत भाषा भी अमर है। जो लोग उसको मृत भाषा कहते हैं वह भूल करते हैं। परन्तु यह ठीक है कि कुछ अंशोंमें संस्कृतका स्थान हिन्दीने लिया है। यों तो सभी भारतीय भाषाएँ संस्कृतकी देन हैं परन्तु मुख्य दायित्व हिन्दी पर ही है। वह करोड़ों मनुष्योंकी मातृ भाषा है और कोई माने या न माने समूचे देशके लिये राष्ट्रभाषा है। अतः राष्ट्रकी संस्कृतिका वही मुख्य वाङ्मय प्रतीक है। इस संस्कृतिको कई आवान्तर धाराओंने पुष्ट किया है। साहित्यके क्षेत्रको ही लें तो हम जायसी, कबीर, रहिमन, रसखान को कदापि नहीं छोड़ सकते, वह किसी एक धर्म, एक सम्प्रदाय मात्रसे सम्बन्धित नहीं है, फिर भी यह मानना ही होगा कि इसका मूल स्रोत, इसका चिर-नूतन आधार, तो वही है जहांसे हमारे ऋषि पूर्वजोंको सामगानकी प्रेरणा मिली है। हमारे ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है। जिस पीठ पर से वशिष्ठ, विश्वामित्र, भृगु, अंगिरा, व्यास, वाल्मीकि, 'इमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः' का उपदेश दिया था, जिस मंच परसे कालिदास, भवभूति, माघ, बाण, तुलसी, सूर, कबीर, मीराकी वाणीने समाजको ऊपर उठाया था उसी पर आज हिन्दीका साहित्यकार बैठा है। वह भले ही भविष्यत्के गगनमें लम्बी उड़ान ले। भले ही दूर देशोंके विद्वानोंके उपदेशोंसे अपनी बुद्धिको परिष्कृत करे, परन्तु उसको यह समझ लेना चाहिये कि वह महती परम्पराकी देन है। उस परम्पराका उच्छेद करके वह टूटे हुए तारेकी भांति क्षण भर चमक कर सदाके लिए विलीन हो जायगा। कमसे कम इतनी बात तो नहीं ही भूलनी चाहिये। हमारे आचार्योंने ऐसा माना है कि काव्यका उद्देश्य शिवेतरक्षति अर्थात् शिवका विस्तार है और शिव वहीं है जहां सत्य है, अभेद है, द्वितीयाद्वै भयं भवति। आज स्वाधीनताके उषा कालमें हमें यह बात दृढ़तासे हृदयंगम् कर लेनी है। व्यथित जगत्के लिये हमारा यही सन्देश होना चाहिये।

हिन्दुस्तानी—

मुझे हिन्दीके भविष्यके विषयमें कोई चिन्ता नहीं है। राजाश्रय न होते हुए भी हिन्दी पनपी है, आगे भी अपने गुणोंके बल पर उन्नति करेगी। मैं जानता हूँ कि कुछ लोगोंको 'हिन्दुस्तानी' ने वात-व्याधिकी भांति ग्रस लिया है। उनमें महात्माजी जैसी दूरदर्शिता नहीं है, समवेदन नहीं है, तितिक्षा नहीं है, तपस्या नहीं है, सत्य-निष्ठा नहीं है, किसी भी अंशमें महत्ता नहीं है। वह महात्माजीके बतलाये पथ पर अन्य बातोंमें दूर तक चलनेमें असमर्थ हैं, परन्तु हिन्दुस्तानी शब्दको उन्होंने पकड़ लिया है। ऐसे मनुष्य दयाके पात्र हैं। भारतके जिस भूखंडमें हम रहते हैं वह किसीके साथ अन्याय नहीं करना चाहता। यहांके अधिकतर निवासी हिन्दू हैं परन्तु वह मुसलमानोंकी संस्कृति पर आघात नहीं करना चाहते। मुसलमानका धर्म सुरक्षित है, उससे कोई नहीं कहता कि वह धर्मकृत्योंमें अरबीको छोड़ दे। इतना ही नहीं, यदि वह समझता है कि उसकी कोई अपनी पृथक् संस्कृति है और उस संस्कृतिके व्यक्त करनेका माध्यम उर्दू है, तो वह सुखसे उर्दू पढ़े-पढ़ावे। परन्तु यह कहाका न्याय है कि १४ प्रतिशतकी भाषाको ८६ प्रतिशतकी भाषाकी बराबरीकी जगह दे दी जाय। स्विटजरलैंडका उदाहरण यहाँ नहीं बैठता। न तो यहाँका इतिहास वैसा है, न समुदायोंमें वैसा अनुपात है, न हिन्दू, मुसलमान, फ्रेंच, जर्मन, इटालियनकी भांति भिन्न जातियां हैं। एक ही पिताकी सन्तान हिन्दू और मुसलमान दोनों हो सकते हैं। मनुष्य अपने जीवनमें ही हिन्दूसे मुसलमान और मुसलमानसे हिन्दू हो सकता है। यह बात स्विटजरलैंडमें नहीं होती। वहां धर्म परिवर्तन तो हो सकता है परन्तु किसीके लिये अपने जर्मन या फ्रेंच या इटालियन होनेसे पिंड छुड़ाना उतना सुगम नहीं है। अतः हमारे यहाँ उर्दू, हिन्दीके समकक्ष नहीं हो सकती। अविच्छिन्न भारतमें भी वह हिन्दीके बराबर नहीं हो सकती थी, अब पाकिस्तान बननेके बाद तो उसका अनुपात-प्राप्त पद और भी गिर गया। हमारे प्रान्तमें तो बराबरीका प्रश्न उठता ही नहीं। अब उर्दूको छोड़ कर हिन्दुस्तानीको लीजिये। यह हिन्दुस्तानी क्या है ? यदि इस पदका अभिधेय हिन्दी या उर्दूमेंसे एक है तो कौन ? उर्दू हमारी मुख्य भाषा हो नहीं सकती। हिन्दी नाममें कोई

दोष नहीं देख पड़ता। एक समय था जब हम मेलके लिये हिन्दी नाम छोड़ कर हिन्दुस्तानी नाम भी स्वीकार कर सकते थे, पर अब वह दिन गए। जिससे मेल करना था वह तो हमको छोड़ कर चला गया। उसने नया देश ही बना लिया है। यदि हिन्दुस्तानी दोनोंसे भिन्न कोई पृथक् भाषा है, तो हमें कृत्रिम भाषा न चाहिये। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हम अपनी भाषासे उन शब्दोंको हठात् नहीं निकालने जा रहे हैं जो सैकड़ों वर्षोंमें उसके अंग बन गये हैं। जितना समन्वय प्राकृतिक है उतना हमारी हिन्दीमें है। इतना हम और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि तर्ककी सुविधाके लिये हिन्दू, मुसल्मानोंकी जनसंख्याओंका आश्रय लेना पड़ता है, परन्तु हम यह नहीं मानते कि हिन्दी केवल हिन्दुओंकी भाषा है, वह इस प्रान्तके अधिकतर निवासियोंकी भाषा है, जिनमें हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई सभी हैं।

जहाँ कुछ लोगोंके लिये हिन्दुस्तानी वातव्याधि है, वहाँ कुछ दूसरे लोगोंके लिये हौआ हो रहा है। सतर्क रहना उचित है परन्तु सतर्कताकी अतिमात्रता मानस रोग है। कुछ लोगोंको सर्वत्र हिन्दुस्तानी ही देख पड़ती है। उनको प्रतिक्षण यही प्रतीत होता है कि हिन्दी पर गुप्त या प्रकट प्रहार हो रहा है। न उनको हिन्दी के आभ्यन्तर, नैसर्गिक गुणों पर भरोसा है, न अपने ऊपर भरोसा है, न दूसरे भारतीयोंके हिन्दी प्रेम व गुणों पर भरोसा है। स्वाधीनताकी घोषणा हो गयी, पाकिस्तान बन गया। हमारे प्रान्तोंकी सरकारोंको चलानेवालोंमें अधिकांश हिन्दू हैं, जिनको भी हिन्दीसे यथोचित स्नेह होगा ही। परन्तु हिन्दीके ये भयग्रस्त सेवक संतुष्ट नहीं होते। उनकी समझ में यह बात आती ही नहीं कि अपने ही आदमियों को, जो आज दायित्व के स्थानों पर हैं, व्याज स्वेण नासमझ, भीरु, दुर्बल या कपटी कहकर हम हिन्दीकी सेवा नहीं कर सकते। प्रहरीको कोसना प्रहारको रोकनेका अच्छा उपाय नहीं है।

हिन्दी प्रान्तकी राजभाषा बनी —

कोई प्रहार कर रहा हो या न कर रहा हो हमारे प्रान्तकी—और इस प्रान्तीय सम्मेलनका क्षेत्र तो यह प्रान्त ही है—मुख्य भाषा तो हिन्दी है और रहेगी। हिन्दी

ही हमारी संस्कृति, हमारी भावनाओं आकांक्षाओं, आदर्शोंका प्रतीक है। उसी के द्वारा हमारे उज्ज्वल अतीत और उज्ज्वलतर अनागतके समन्वयकी यथार्थ अभिव्यक्ति हो सकती है, अब वह प्रान्तकी राजभाषा भी हो गयी है। सैकड़ों वर्षोंके बाद यह दिन देखनेको आया है। दुःखकी बात है कि कल्पित भय और आशंकाने कुछ लोगोंको इस बातकी महत्ताको समझनेसे वंचित कर दिया है। केवल राजभाषा बन जाने से किसी भाषाका अभ्युदय निश्चित नहीं हो जाता, पर राज्यपदकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। अब हमारा काम है कि एक ओर तो इस बातसे यथान्याय लाभ उठावें दूसरी ओर हिन्दीको सर्वाङ्ग सुन्दर और परिपूर्ण बनानेका यत्न करें।

यदि हिन्दीको साधारण व्यवहार, काव्य और दर्शनके लिये ही नहीं प्रत्युत विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित जैसे शास्त्रोंके अध्ययनाध्यापनका भी माध्यम बनना है, यदि उसे सरकारी विभागोंके जटिल कामोंके उपयुक्त बनाना है, यदि उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारमें काम लेना है, तो हमें उसकी ओर बहुत ध्यान देना होगा। संस्कृत हमारा आकार (?) है परन्तु आकारसे काम लेनेमें भी बुद्धिमत्ता चाहिये। अभी तो हमने शब्दोंसे ठीक-ठीक काम लेना सीखा ही नहीं है। जिन्हें 'सुक्ष्म भेद' कहते हैं ऐसे सूक्ष्म भेदोंको हम ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर पाते। मोटर और बैलगाड़ी के टकरानेसे दो डाक गाड़ियोंके लड़ जाने तक संक्रामक रोग या दंगेसे २....३ व्यक्तियोंके मरनेसे १०००-२००० के मरने तक हम सर्वत्र एक ही विशेषण का प्रयोग करते हैं। कोई समाचार पत्र उठा लीजिये। बस वही 'भीषण" मिलेगा। 'कारटम्स' और आकट्रायके अर्थभेदको न समझने या व्यक्त न करनेसे जो क्षति होती है वह चाहे थोड़ा भी हो पर जब हम अच्छी लेखनियोंसे और प्रतिष्ठित पत्रोंमें डिप्लोमेटको कूटनीतिज्ञ और 'डिप्लोमेटिक रिलेशन' को 'कूटनीतिक सम्बन्ध लिखा देखते हैं तो कांप उठते हैं। हमारी भाषा ऐसी दरिद्र नहीं है, परन्तु हमको सावधानीसे अपने भांडारको टटोलना होगा कि कहां क्या धरा है।

हम संस्कृतसे शब्द लें—

एक और बात है। यह कहा जाता है कि संस्कृतमयी हिन्दी देशकी भाषा नहीं हो सकती। जो लोग ऐसा कहते हैं वह यह भी स्वीकार करते हैं कि अरबी-फारसी-

मयी उर्दू भी उतनी ही अग्राह्य है। इसीलिये वह सीधी सादी बोली हिन्दुस्तानीका समर्थन करते हैं। साधारण बोलीको हिन्दी क्यों न कहा जाय यह बात मैं ठीक नहीं समझ पाता, परन्तु नामको जाने दीजिये भाषाके स्वरूपको लीजिये। बहुतसे कामोंके लिये तो साधारण बोलीसे काम चल जायगा परन्तु गम्भीर विषयोंके पठन-पाठनके लिये, सरकारी कामोंके लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारके लिये, तो उसमें शब्द नहीं है। कहीं से नये शब्द लेने ही होंगे। फिर हम संस्कृतके सिवाय और कहां से शब्द ले सकते हैं? संस्कृत न केवल बंगला व गुजराती, मराठी, तामिल, तैलगू, मलयालमके लिये आकर भाषा है वरन् आज उसके आधार पर लंका और श्याम तक अपने यहां शब्द सृष्टि कर रहे हैं। यह संस्कृतमयी भाषा निश्चय ही कुछ कठिन होगी परन्तु इसका उपयोग भी तो विशेष स्थलों पर ही होगा, धीरे-धीरे सुबोध भी हो जायगी। यह कौन नहीं जानता कि अंगरेजीमें लिखित दर्शन और विज्ञानकी पुस्तकें बहुतसे सुपठित अंगरेजीके लिये भी दुर्बोध होती हैं। सभी भाषाओंमें ऐसा होता है।

परन्तु एक बातमें हमको सावधान भी रहना है। भाषाको हठात दुरूह बनाना उसको कृत्रिम बनाती है। हमको लोक वाणी, जनताकी बोली, गांव बाजारकी कहावतों और मुहावरोंको अपनाना चाहिये। उनमें जनताकी अनुभूतियां भरी पड़ी हैं। उनसे भाषाको शक्ति और स्फूर्ति मिलेगी, जनतासे दूर पड़ कर हिन्दी भी उर्दूकी भांति परायी हो जायगी।

इस सम्बन्धमें एक बात आपके सामने रखना चाहता हूं। हमारी भाषामें नाम धातु बनानेकी शक्ति अब नहीं रही। इसे फिरसे लाना चाहिये, अंग्रेजीमें यह गुण है, ग्राम बोलीमें है, संस्कृतमें है। मोटर पर चलनेके लिये अंग्रेजीमें 'टु मोटर' धातु बना लिया है। अभिमान करनेको देहाती भाई सेखियाना कह लेते हैं। जहां हमको इतना लम्बा वाक्य बोलना पड़ता है, 'वह हिटलर जैसा आचरण करता है', वहां संस्कृत में 'हिटलरायते' कहा जा सकता है। किसी विद्वानको साहस करके नाम धातुओं के निर्माण और व्यवहारका मार्ग प्रशस्त करना चाहिये, इससे उपकार होगा।

हमारे प्रान्तमें अब चाहे किसी दलकी सरकार हो, परन्तु हमको यह विश्वास रखना चाहिये कि उससे हमको हिन्दी साहित्यके विस्तार और उन्नतिमें सहायता ही मिलेगी। वर्तमान सरकार ने हिन्दीको राजभाषा घोषित ही नहीं कर दिया है, वरन इस बातके लिये बराबर यत्न हो रहा है कि घोषणा कार्यान्वित हो। सभी विभागोंके लिये उपयुक्त शब्दोंकी खोज हो रही है। हम आशा करते हैं कि थोड़े दिनोंमें सभी दफ्तरोंमें सभी काम हिन्दीमें होने लग जायंगे।

देवनागरी-लिपि—

हिन्दीके साथ देवनागरी लिपि भी आती है। यों तो कोई भी भाषा किसी भी लिपिमें किसी न किसी अवसर पर लिखी जा सकती है, परन्तु जितनी प्रचलित लिपियां हैं, उनमें देवनागरी अनुपम है, फिर भी समयानुसार उसमें कुछ परिवर्तनकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। लिपिमें परिवर्तन करना दोष नहीं है। इस लिपि ने बहुतसे परिवर्तन देखे हैं। आचार्य नरेन्द्रदेवकी अध्यक्षतामें एक कमेटी काशी-नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदित तथा अन्य सभी प्रस्तावित परिवर्तनों पर विचार कर रही है।

इसके आगे कुछ कहना स्वागताध्यक्षके क्षेत्रकी सीमाका अतिक्रमण करना होगा। मैं इस पुनीत नगरमें आप लोगोंका स्वागत करता हूं। हिन्दीके इतिहासमें हमारा भी स्थान है। हिन्दी साहित्य-गगनके दो परमोज्ज्वल नक्षत्रों, कबीर और तुलसीने यहींसे सुधाकी वर्षा की थी, दीनदयाल गिरि, भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रसाद, प्रेमचन्दने यहींसे हिन्दीके भण्डारको भरा है। काशीकी नागरी प्रचारिणी सभाकी सेवाओंको हिन्दी-संसार भूल नहीं सकता। हिन्दी साहित्य-सम्मेलनकी नींव डालनेका श्रेय भी काशीको है। यह प्रसन्नताकी बात है कि प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन ऐसे अवसर पर यहां मिल रहा है। यह हमारे लिये हर्ष और गर्वकी बात होगी कि सद्योजात स्वातन्त्र्ययुगके अनुरूप हिन्दीका सन्देश प्रान्तको पहले यहांसे मिलेगा।

(साप्ताहिक भारत २६ अक्टूबर '४७)

श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी—

[श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयीके इस लेखमें राष्ट्रभाषाके सम्बन्धसे अनेक मूल्यवान सूचनाएँ प्राप्त होंगी। हिन्दी और उर्दू दोनोंको सीखने तथा सिखानेके पीछे जो रहस्य छिपा था उसका उद्घाटन कर आपने यथार्थको प्रकट कर दिया है। इससे प्रमाणित हो जायगा कि दोनों लिपियों तथा दोनों भाषाओंमेंसे किसे राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपिका स्थान ग्रहण करना चाहिए। 'हिन्दुस्तानी' का वर्तमान उद्योग व्यर्थ है, इसपर भी श्री वाजपेयीजीने प्रकाश डाला है।]

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

भारतकी राष्ट्र भाषाके प्रश्न पर देशमें वैसा ही मतभेद है, जैसा स्वराज्य पर। यह कहा जा सकता है कि स्वराज्य पर कोई मतभेद नहीं है और मुसलिम लीग वाले भी स्वराज्य चाहते हैं। पर यह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि मुस्लिम लीग और उसकी नीतिके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थक पाकिस्तान चाहते हैं और कहते हैं कि इसीसे हिन्दुस्तान भी स्वतन्त्र हो जायगा। इस प्रकार इनके मतसे पाकिस्तान स्वार्थ अर्थात् पाकिस्तानके लिये और अन्यर्थ अर्थात् हिन्दुस्तानके लिये भी है। परन्तु इसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता।

राष्ट्र-भाषा राष्ट्रकी भाषा होती है। पर जहां एक पक्ष कहता है कि वह हिन्दी है, वहां पाकिस्तानी पक्ष कहता है कि उर्दू है और उर्दू ही होनी चाहिये। महात्मा गांधी पहले हिन्दीके पक्षमें थे और उनके प्रयत्नसे मद्रासमें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन द्वारा हिन्दीका प्रचार भी हुआ था। परन्तु तबसे उनके मनमें परिवर्तन हो गया है और अब वे मध्यम-मार्गमें न उर्दू न हिन्दीके पक्षपाती बन गये हैं और उन्होंने नई खिचड़ी-भाषा हिन्दुस्तानीके प्रचारार्थ सभा बना ली है। वे समझते हैं कि हिन्दुस्तानी ही राष्ट्र-भाषा होगी और सब लोगोंके हिन्दी और उर्दू लिपियां सीख लेनेसे कोई झगड़ा न रह जायगा।

महात्मा गांधी देशकी विभूति हैं और जो कुछ कहते हैं, उसे बहुजन हिन्द नतमस्तक स्वीकार कर लेता है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो यह हल नहीं है, क्योंकि जिनकी भाषा हिन्दी या उर्दू नहीं है, उन्हें चार सीखनी होंगी। (१) अपनी (२) हिन्दी (३) उर्दू (४) अंगरेजी। केवल लिपियां सीखनेसे काम न चलेगा। इसके सिवा हिन्दी—उर्दूका झगड़ा केवल उत्तरमें ही है ; उसे देशव्यापी कर देनेसे लाभ होगा या हानि यह भी विचारणीय है। और भी, जिस झगड़ेको मिटानेके लिये यह दवा तैयार की गयी है, उसे कोई ४५ साल पहले सर एँटनी (बादको लार्ड) मैकडानेलने खिलानी चाही थी। परन्तु जिन्हें खानी चाहिये, उन्होंने नहीं खायी और इसलिये रोग भी दूर नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि इस अवधिमें दुनिया बहुत दूर चली गयी है। हमारा कहना है कि और चाहे जिस विषयमें भले ही चली गयी हो, इस विषयमें यदि पीछे नहीं हटी, तो आगे भी नहीं बढ़ी।

इस समय भारतमें अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं जिनका वर्गीकरण मोटे हिसाबसे मुख्यतः आर्य, अनार्य, द्राविड़ और यूरोपियन नामोंसे किया जा सकता है। यूरोपीयन भाषाओंमें अंगरेजी मुख्य है। यद्यपि यह राजभाषा है और इसकी शिक्षाके लिये बहुत बड़ा आयोजन है, तथापि इसकी जड़ देशमें नहीं है और इतने उद्योगके बाद भी इसका प्रचार नहींके बराबर ही है। यूरोपियनोंको मिलाकर भी यहां १९२१ की गणनाके अनुसार ३१९३४९ ही अंगरेजी भाषी हैं। अनार्य भाषाएँ कोल, भील, मुंडा आदि आदिम निवासियोंकी हैं। साहित्य और प्रचारकी दृष्टिसे राष्ट्रभाषाके विचारमें इनका कोई स्थान नहीं है। द्राविड़ भाषाएँ कोई ७-८ करोड़से अधिक लोगोंमें प्रचलित नहीं हैं। आर्य भाषाएँ ही भारत-व्यापिनी हैं और कोई ३० करोड़ लोग इन्हें बोलते हैं। इनका संस्कृतसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और धर्मभाषा होनेके कारण संस्कृतका द्राविड़ भाषाओं पर भी विशेष प्रभाव है।

आर्य भाषाओंमें मध्य देशकी भाषा ही बहुत लोकप्रिय है और उससे संलग्न उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सभी दिशाओंके लोग न्यूनाधिक रूपसे उसे समझ और बोल सकते हैं। इसके अतिरिक्त इसके बोलनेवालोंकी संख्या भी कमसे कम

१५-१६ करोड़ हैं। (१९३१ की गणनाके अनुसार १२१२४७२२९ हैं उर्दूवाला) इसे उर्दू और हिन्दीवाले हिन्दी कहते हैं। यों तो उर्दूका मूलाधार, क्रियापद विभक्तिचिह्न, सर्वनाम और अव्यय प्रायः सभी हिन्दीके हैं, तथापि फारसी लिपि, मुसलमानी विचारों और पुराने हिन्दी शब्दोंके बहिष्कार तथा नये शब्दोंके समावेशसे हिन्दीसे यह दिनों दिन दूर पड़ती चली जाती है। सच तो यह है कि उर्दूके विद्वानोंकी दृष्टिमें हिन्दी 'मुब्तजल अल्फाजका मजमूआ' (अशिष्ट शब्द संग्रह) है और महज़ बाज़ारी ज़बान है।

पहले कई विद्वानोंने उर्दू हिन्दी के बीचकी खाई पाटनेके लिये अनेक यत्न किये, पर सब व्यर्थ सिद्ध हुए। पर अब महात्मा गांधी उसका फिर उद्योग कर रहे हैं, परन्तु सफलताकी आशा नहीं है, क्योंकि उर्दूके मुसलमान विद्वान ही उनकी नीतिके विरोधी हैं। वे अरबी फारसी, तुर्की आदि भाषाओंके शब्द लेंगे, पर हिन्दी, संस्कृत आदि के न लेंगे। तब भाषा सम्बन्धी समन्वय कैसे होगा ? परन्तु मुसलमान और उनके कुछ समर्थक हिन्दू समन्वय नहीं चाहते ; हिन्दीका आत्म समर्पण चाहते हैं। यह हिन्दीवाले कभी सह नहीं सकते। इसलिये सबसे अच्छा मार्ग है कि हिन्दी और उर्दू दोनों अपने-अपने ढङ्ग पर आगे बढ़ें। यही मौ० शिबलीकी भी राय थी।

पर राष्ट्रभाषाका क्या होगा ? जहां तक गांधीजीका प्रयत्न है वहाँ तक तो सफलताकी आशा नहीं है, क्योंकि वे अपने विशेषज्ञोंकी सम्मतिसे इस उद्योगमें लगे हैं और ये विशेष अज्ञ हैं। राष्ट्रभाषा तो हिन्दी है ही और रहेगी भी, वह किसीके यत्नसे उर्दू नहीं हो सकती। इसका कारण है और वह यह कि उर्दूका सम्बन्ध पश्चिमी युक्त प्रदेश और पूर्वी पंजाबसे ही विशेष है। पंजाबमें उर्दू लिखनेकी भाषा और पंजाबी बोलनेकी भाषा है। सिक्खोंमें लिखने पढ़ने और बोलनेकी भाषा पंजाबी ही है। वहांके मुसलमानोंकी ही लिखने और साहित्यकी भाषा उर्दू है। हिन्दुओं में हिन्दी और उर्दू दोनोंमें लिखा पढ़ीका व्यवहार चलता है। सीमा प्रदेशके कुछ पश्चिमी जिलोंमें भी पंजाबी और उर्दू चलती है। बस उर्दूका क्षेत्र इतना ही है। इसके विपरीत हिन्दी पंजाबके कुछ जिलोंकी भाषा है।

और पञ्जाबी हिन्दू और विशेषकर स्त्रियां और लड़कियां हिन्दी ही पढ़ती हैं। पञ्जाबमें मुसलमान ५१ प्रतिशत समझे जाते हैं और यदि गैर-मुस्लिम ४९ प्रतिशत रह गये, तो प्रायः आधे हिन्दी और पञ्जाबीके हिमायती समझने चाहियें।

अब युक्त प्रदेशकी अवस्था देखिये। पश्चिमके कुछ शहरोंमें ही उर्दू चलती है। देहातोंमें सर्वत्र हिन्दू-मुसलमान सब एक ही तरह की देहाती बोली बोलते हैं। यदि उर्दू राष्ट्रभाषा होती, तो देहातोंमें भी बोली जाती। हिन्दी ही देहाती हिन्दू-मुसलमान समझते हैं। शहरी मौलवियाना उर्दू बिना पढ़े कोई नहीं समझ सकता। युक्त प्रदेशमें मुसलमानोंकी संख्या १४ प्रतिशत समझी जाती है। इनमें यदि आधे शहरी समझ लिये जांय, तो देहाती मुसलमानोंके लिये उर्दू दुर्बोध ही रह जाती है। महात्मा गांधी यह नहीं चाहते कि लोग उनकी हां में हां मिलायें, इसलिये हम उन्हें बता देना चाहते हैं कि आप हिन्दुस्तानी नामसे जिस भाषाका प्रचार करना चाहते हैं, वह राष्ट्र भाषा नहीं हो सकती। और आपको जिसने यह बताया है कि वह वही है जिसे हिन्दू मुसलमान पहले बोलते थे, उसने सत्यका अपलाप किया है। हम पूछते हैं कि यदि हिन्दुस्तानी हिन्दू-मुसलमान दोनोंकी भाषा थी, तो क्यों नहीं रही ?

वास्तवमें हिन्दू-मुसलमान दोनोंकी भाषा हिन्दी थी। अन्तर इतना था कि मुसलमानी हिन्दीमें मुसलमानी-अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि शब्द अधिक थे। परन्तु पीछे मुसलमान मौलवियोंने अपनी भाषासे हिन्दी शब्द चुन-चुन कर निकाल दिये और इस तरह उर्दू हिन्दीसे अलग हो गई। यदि कोई कहे कि फिर युक्तप्रदेश में उर्दूका बोलबाला क्यों है, तो इसका उत्तर यह है कि वह अदालती भाषा है और इसीलिये इसका महत्व है। यहां तो म्युनिसिपैलिटियोंमें भी उर्दू ही चलती है। इसीलिये उर्दूकी जो स्थिति है, उसे भाषाकी दृष्टिसे नहीं, सम्प्रदाय व समाज विशेषकी दृष्टिसे महत्व मिला है।

महात्मा गांधीने दो बातें कही हैं। एक यह कि हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियां लोगोंको सीखनी होंगी दूसरी यह कि हिन्दुस्तानी वही भाषा होगी, जो साधारणतः हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं। शायद गांधीजीको किसीने नहीं बताया

और बताते तो उनकी पोल ही खुल जाती कि कोई ४५ साल पहले युक्तप्रदेशके लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर एँटनी पैट्रिक (बादको लार्ड) मैकडनेलने आज्ञा दे दी थी कि सरकारी कर्मचारी जो भाषामें लिखा-पढ़ी करते हैं, हिन्दी-उर्दू दोनों सीखें। परन्तु उर्दूवालोंने कोई परवाह नहीं की और फल यह हुआ कि समन आदि दोनों लिपियोंमें छपने पर भी उर्दूमें ही भरे जाते हैं और पुलिसके तो सभी कागज उर्दूमें छपे रहते हैं और उर्दूमें ही लिखे जाते हैं। गांधीजी इसकी क्या व्यवस्था करेंगे, यह देखना है।

जो भाषा सर्वसाधारण हिन्दू-मुसलमान समझते हैं, वह तो हिन्दी ही होगी। मुसलमानी शब्दोंका उससे बहिष्कार न किया जायगा, पर इनकी भरमार भी न होने पायेगी। यह उर्दूके हिमायतियोंको पसन्द नहीं है। ऐसी अवस्थामें समान भाषा की चर्चा ही व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि मौ० अब्दुल हक, मौ० नकवी और डा० ताराचन्दने इसे मंजूर किया है, तो इसका उत्तर यह है कि ये सभी उर्दूके पक्षपाती हैं और इस समय समान भाषाके पक्षपाती इसीलिये बन गये हैं कि इसी बहाने और नहीं तो उर्दू लिपिका ही प्रचार कर सकेंगे और लिपिके द्वारा ही वर्तमान उर्दूने भाषाका रूप प्राप्त किया है, उसीके द्वारा वह राष्ट्र-भाषा बन जायगी।

हिन्दी क्यों राष्ट्र-भाषा है और रहेगी, इस विषयमें कुछ कह कर हम यह लेख समाप्त करना चाहते हैं। एक तो हिन्दी नागराक्षरोंमें लिखी जाती है, जिनसे प्रत्येक हिन्दू थोड़ा-बहुत परिचित है और इस प्रकार हिन्दीकी लिपि स्वभावतः राष्ट्र-लिपि है। दूसरी बात यह है कि हिन्दी कोई १५ करोड़ लोगोंकी भाषा है। इसमें खड़ी बोली या रेख़्ता भी नहीं आती, बल्कि राजपूताने, बिहार और युक्तप्रदेश ही नहीं, मध्यभारतकी बोलियोंका भी समावेश हो जाता है। ब्रजका रहने वाला मगध में आकर वहांकी बोली समझ लेता है और अपनी ही बोलीमें वहांके आदमियोंको समझा देता है। सारांश उर्दूकी जड़ हवामें और हिन्दीकी हिन्दुस्तानकी मिट्टीमें है। इस हिन्दीको सीखनेमें कोई कठिनाई नहीं है। लिपि पढ़नेका कष्ट भी नहीं है। शब्दोंकी दृष्टिसे प्रादेशिक भाषाओंसे इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। उर्दूके भावमें

ऐसा कहां है ? इसीलिये हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा है और रहेगी, न हिन्दुस्तानी होगी और न उर्दू ।

राष्ट्र-भाषाके लिये यदि किसी प्रयत्नका प्रयोजन है तो आर्य-भाषाओंके एक कोष का । एक शब्द जितनी अधिक भाषाओंमें चलता होगा, उतना ही राष्ट्र-भाषाका शब्दत्व उसमें अधिक होगा । ऐसे समस्त शब्दोंसे बनी हुई राष्ट्रभाषामें सबको अपनपौका अनुभव होगा, कोई यह न समझेगा कि हम पर दूसरी भाषा लादी जा रही है । आवश्यक होने पर अन्य भाषाओंके विशेष भावद्योतक शब्द भी लिये जायँगे । इस प्रकारकी भाषा ही राष्ट्रभाषा होगी । हम आशा करते हैं कि राष्ट्र-भाषाके प्रेमी ऐसे कोषके संकलनका उद्योग करेंगे और हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानीके पचड़ेमें न पड़ेंगे । इसके लिये जो कमेटी बनायी जाय, उसमें कलकत्तेके डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, अहमदाबादके अध्यापक बेचरदास जोशी और पूनेके श्री वैशम्पायन अवश्य रखे जायँ । (हिन्दुस्तान १९ मार्च १९४५)

डा० अमरनाथ झा—

[निम्नलिखित भाषणमें डा० अमरनाथ झा ने मातृभाषाको पहले स्थान दिया है उसके पश्चात् हिन्दी अर्थात् राष्ट्रभाषाको । इसके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रांतीय भाषाओंके सम्बन्धमें भी यही सिद्धान्त लागू किया जा सकता है । अतः राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाकी समस्या रह ही नहीं जाती ।

हिन्दी और उर्दूकी व्यावहारिक बोलीके रूपमें विशेष कोई भी अन्तर नहीं है । हिन्दीकी विशेष प्रकारकी शैलियां हैं । अवश्य ही दोनोंके साहित्यमें पृष्ठभूमिका अन्तर है । अपनी-अपनी रुचिके अनुसार साहित्य अध्ययन किया जा सकता है । डा० अमरनाथ झाने संस्कृत निष्ठ हिन्दी का समर्थन किया है । इससे उनका तात्पर्य है कि प्रचलित रूपमें जिस हिन्दीका व्यवहार होता है वही राष्ट्रभाषा हो । उनका आशय यह कदापि

नहीं है कि जबर्दस्ती संस्कृतके अप्रचलित शब्द भरे जांय, कारण वे स्वयं ही इस वाध्यतामूलक प्रयोगका विरोध 'हिन्दुस्तानी' में करते हैं। उसमें अप्रचलित फ़ारसी शब्दोंको जबर्दस्ती भरनेके कारण ही वे उसे 'भद्दी उर्दू' कहते हैं।

'जनपदीय भाषाओं' अर्थात् बोलियोंका तथा भाषाओंका अन्तर स्पष्ट न होनेके कारण प्रायः व्यर्थकी समस्याओंकी सृष्टि हो जाती है। निम्न-लिखित लेखमें भी 'जनपदीय भाषा' को (अर्थात् बोली को) भाषा कहा है। बोली तथा भाषाका अन्तर आगे चलकर प्रो० ललिता प्रसाद सुकुलके लेख 'हिन्दी ही क्यों' में स्पष्ट हो जायगा।]

संस्कृतमयी हिन्दी भारतकी राष्ट्रभाषा होगी

हैदराबाद राज्यमें हिन्दी प्रचार सभा जिन कठिनाइयोंसे हिन्दी प्रचारका कार्य कर रही है उनसे मैं भलीभांति परिचित हूँ। यहांके कार्यकर्ताओं का साहस सराहनीय और कार्य प्रशंसनीय है। हैदराबादमें होनेवाले हिन्दी प्रचार के कार्यसे देशके अन्य प्रांतोंपर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हैदराबादमें हिन्दीके कार्यमें बहुत सी रुकावटें हैं और यहांके कार्यकर्ताओंको यह आशा नहीं करनी चाहिए कि ये कठिनाइयां शीघ्र ही समाप्त हो जांयगी। उनके सामने जिस प्रकारकी कठिनाइयां हैं, उनसे मिलती-जुलती ही—चाहे मात्रामें कम क्यों न हों—यहांकी प्रांतीय भाषाओंके सामने भी हैं। मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हैदराबादमें उर्दूका आधिपत्य अधिककाल तक सुरक्षित नहीं रह सकेगा। यहांकी उर्दू अरबी तथा फारसीसे इतनी लद चुकी है कि उसने अपना अस्तित्व ही खो दिया है। कोष की सहायताके बिना उसका समझना बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी असम्भव हो गया है। हैदराबादमें उर्दू जितनी जटिल और दुरूह बनी है, उतनी और कहीं नहीं। यह दुरूहता और जटिलता उर्दूके लिए हितकर सिद्ध नहीं होगी। यहां भी उसका यह नया रूप है। उर्दूका साधारण जनतासे कोई सम्पर्क नहीं रह गया है और आप लोग यह विश्वास रखें कि संसारमें कोई भी भाषा तबतक जीवित नहीं रह सकती,

जबतक कि उसका सार्वजनिक जीवनसे सम्बन्ध न हो।' प्रयाग विश्वविद्यालयके उपकुलपति श्रीअमरनाथजी झाने हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद (दक्षिण) द्वारा दिये गये अभिनन्दन पत्रका उत्तर देते हुए उपर्युक्त उद्‌गार प्रकट किये। डाक्टर झाने अपने भाषणमें राष्ट्रभाषाकी विवेचना करते हुए कहा 'वही भाषा देशकी राष्ट्रभाषा बन सकती है, जिसका सम्बन्ध इस देशसे हो और जिसका शब्द-भाण्डार उधार न लिया हो, तथा स्वाभाविक हो। डाक्टर झा ने आगे चलकर कहा—यदि इस प्रकार की कोई भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी है। 'राष्ट्रभाषा बननेके लिये हिन्दीको सच्चे अर्थों में संस्कृत-तनया होना चाहिये।' (हिन्दुस्तान)

शिकोहाबाद संयुक्त प्रांतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके छठे वार्षिक अधिवेशनके सभापति डाक्टर अमरनाथ झा एम० ए० डि० लिट, वायस चांसलर प्रयाग विश्वविद्यालयने अपने भाषणमें कहा :—

सभापतिका स्थान मुझे देकर सम्मेलनके अधिकारियोंने मेरा सम्मान किया है, मैं उनका आभारी हूं। राष्ट्रभाषाकी जो कुछ सेवा मैं कर सकूंगा, उसमें आपके सहयोगकी आवश्यकता है। आपके उद्यम, आपके उत्साह, आपकी कार्यपटुता पर राष्ट्रभाषाकी उन्नति निर्भर है। इस प्रांतमें राष्ट्रभाषाका प्रश्न कठिन नहीं है। यहांकी भाषा तो हिन्दी है ही। परन्तु यहांकी मातृ-भाषा हिन्दी है इस कारण राष्ट्रभाषा और अन्य प्रांतोंकी भाषाओंके प्रति आपका कर्तव्य उत्तरदायित्वपूर्ण है।

पहिले मातृभाषा और फिर हिन्दी—

हिन्दी-जगतमें जनपदीय भाषाओंके सम्बन्धमें बहुधा चर्चा हुआ करती हैं। भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और इसमें अनेक भाषाएँ सदासे प्रचलित हैं। इतनी भाषाओंका रहना और इन सबका हिन्दीको राष्ट्रभाषा मानना महत्त्वकी बात है। कई भाषायें संस्कृतसे अपनी तुलना करती हैं। कईमें उच्चकोटिका साहित्य है। सैकड़ों वर्षोंसे इनमें साहित्यकी रचना होती आई है। हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी नीति प्रांतीय भाषाओंके विरुद्ध नहीं है। परन्तु विवाद यों खड़ा हुआ है कि हिन्दीकी कुछ सन्निकट भाषाएँ हैं, जिनसे स्वातन्त्र्यकी आशंका है।

पूछा जाता है कि क्या बुन्देलखण्डी अवधी, राजस्थानी, व्रजभाषा हिन्दीसे भिन्न हैं और क्या इनके प्रोत्साहनसे हिन्दीकी क्षति नहीं होगी। इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक व्यक्तिका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी मातृभाषा अध्ययन करे और इसीमें उसकी प्रारम्भिक शिक्षा हो। मातृभाषा प्रारम्भिक शिक्षाका माध्यम हो, इस विचारसे सभी शिक्षक सहमत होंगे।

राष्ट्रभाषामें ही दूसरी ओर उच्च श्रेणीकी शिक्षा होनी चाहिये, परन्तु साथ ही अन्य भाषाओंमें भी साहित्य रचना होती रहे, यह वांछनीय है। उदाहरण रूपमें व्रज-साहित्य इतना सुन्दर है और व्रजभाषा इतनी मधुर है कि इस साहित्यका भविष्यमें अस्तित्व ही न रहे. इसको कौन साहित्य प्रेमी अंगीकार करेगा ? हिन्दी साहित्य सम्मेलनका कर्त्तव्य है कि वह इस साहित्य और इसी भांति और साहित्यकी भी उन्नति में सचेष्ट रहे।

हिन्दी उर्दू दोनों—

राष्ट्रभाषा हिन्दीका स्वरूप वही होगा, जिसमें समस्त भारतवर्षके निवासी सुगमतासे अपने विचारोंको व्यक्त कर सकेंगे। इस देशकी मुख्य भाषाओंमें संस्कृत शब्दोंका बाहुल्य है और संस्कृतमयी हिन्दीको ही सब प्रान्तोंके रहने वाले अपनायेंगे। रही समस्या उर्दूकी। यह समस्या तो केवल संयुक्तप्रान्त और पंजाबकी है और यहाँ भी शहरों तक ही सीमित है। देहलीमें तो सबकी बोली एक ही है।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक शिक्षक व्यक्ति हिन्दी और उर्दू दोनों पढ़ें। उर्दूका साहित्य अच्छा है, उर्दूकी भाषा अच्छी है। उर्दूका ज्ञान होना उपकारक सिद्ध होगा। उर्दू एक बहुसंख्यक समाजकी भाषा है। हिन्दी और उर्दूके ज्ञानसे दोनों भाषाओंकी वृद्धि हो सकती है, परन्तु यद्यपि प्रारम्भिक कार्यमें उर्दू इस देशकी यथार्थ भाषा थी और उर्दूके आदि कवियोंने इस देशकी संस्कृतिको सुरक्षित करनेका प्रयास किया था। यद्यपि खेदके साथ कहना पड़ता है कि कालक्रमसे उर्दू केवल फ़ारसीका एक अंग हो गई और उर्दू साहित्यमें भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृतिकी कहीं झलक नहीं आती है, फिर भी उर्दूको भी उन्नति करनेका अधिकार है और इसकी गतिको रोकना अनुचित है।

हम इसकी समृद्धि चाहते हैं. हम चाहते हैं कि यह भी फूले-फले। उर्दू से हमें द्वेष नहीं है। किसी साहित्य रसिकको किसी भाषा अथवा साहित्यसे द्वेष नहीं रह सकता।

हिन्दुस्तानी भद्दी उर्दू है—

रही बात 'हिन्दुस्तानी' की। यह कौन भाषा है और कहां की है, किसकी है? इसका साहित्य कहां है? इस भाषामें कौन लिखता है? अर्थ शास्त्र, राजनीति, विज्ञान, दर्शन इत्यादि विषयों पर ग्रन्थ किस भाषामें लिखे जाते हैं? हिन्दुस्तानीके गढ़नेका प्रयोजन क्या है? प्रचलित भाषाओंको विकृत करना कौनसी बुद्धिमत्ता है? क्या हिन्दुस्तानीमें भावुकता आ सकती है? क्या इसमें गूढ़ विषयोंको व्यक्त करनेकी क्षमता है? हिन्दुस्तानीके जो थोड़ेसे उदाहरण हम देख सके हैं, उसको तो भद्दी उर्दू कहनेमें हमको संकोच नहीं है। उर्दू के वाक्यमें हिन्दीके दो-एक शब्द रख देना, भाषा शैलीके साथ परिहास करना है। हिन्दुस्तानी आन्दोलनसे हिन्दी संसार तो असंतुष्ट है ही, उर्दू जगत भी प्रसन्न नहीं है। उचित यही है हिन्दी और उर्दू दोनोंकी गति अविरुद्ध रहे। × × ×

देवनागरीकी विशेषता—

इधर कुछ दिनोंसे हमें यह आदेश मिलने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थीको दो लिपियाँ सीखनी आवश्यक होना चाहिये। हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि। हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि कोई लिपि नहीं है। नागरी लिपि और फ़ारसी लिपि है। देशकी और प्रधान लिपियां ये हैं—बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, तामिल, तेलगू, कनाडी, मलायालम। इनमें देवनागरीकी ही प्रधानता है। फिर यदि नागरीके साथ कोई और भी लिपि सीख सकें तो अच्छा अवश्य है, परन्तु हमारी लिपि वैज्ञानिक ढंगसे इतनी शुद्ध और व्यवहारिक दृष्टिसे इतनी सरल है कि इसका त्याग हमारे लिये अनावश्यक है, अहितकर और असम्भव है। प्रत्येक प्रान्तमें नागरी और फ़ारसी दोनों लिपियोंको अनिवार्य बनाना बच्चे पर बहुत बड़ा बोझ डालना है। कुछ विद्वानोंका मत है कि रोमन लिपिका ही प्रचार होना चाहिये। मैं इससे सहमत

नहीं है। रोमनमें इतनी कमियां हैं कि हम अपनी भाषाको इस लिपिसे लिख कर अपने शब्दोंका शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकेंगे। देवनागरीकी विशिष्टता यह है कि जैसी यह लिखी जाती है वैसा ही इसका उच्चारण होता है, यह विशेषता न रोमनमें है और न फ़ारसीमें।

(दैनिक हिन्दुस्तान २६ अप्रैल, १९४६)

श्री धीरेन्द्र वर्मा—

[श्री धीरेन्द्र वर्माके निम्नलिखित लेखोंके द्वारा स्पष्ट हो जायगा कि उर्दू और हिन्दीमें क्या अन्तर है, दोनोंका जन्म किस प्रकार और किन परिस्थितियोंमें हुआ, किस प्रकार उनका विकास हुआ तथा हिन्दीका क्या तक़ाज़ा है ? हिन्दीका समर्थन करते हुए आपने उसकी मांगके प्रश्नको सांस्कृतिक बताया है प्रत्येक भाषामें एक न एक कठिनाई रहती है। किन्तु वह कठिनाई उसीके लिए होती जो उस भाषासे अपरिचित है। हिन्दीमें लिंग इत्यादिकी जटिलताका उल्लेख किया जाता है। किन्तु ऐसी जटिलताएं प्रत्येक भाषामें वर्तमान हैं। वर्माजीने इसका 'हिन्दी भाषा और नागरी लिपि' में विवेचन किया है]

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

अपने देशकी हिन्दी-उर्दू समस्या उन महत्वपूर्ण समस्याओंमेंसे एक है, जिसके निर्णय पर देशकी भावी उन्नति बहुत कुछ निर्भर है।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दीके पक्षमें कई बातें कही जा सकती हैं :—

१—शब्द भाण्डारके लिये संस्कृतकी ओर झुकनेसे हिन्दी भारतकी अन्य समस्त आधुनिक आर्य-भाषाओं, जैसे बङ्गला, मराठी, गुजराती आदिके निकट रहती है, क्योंकि ये समस्त भाषाएं भी संस्कृतसे ही अपना शब्द कोष भर रही हैं।

२—नये विचारोंको प्रकट करनेके लिए बने-बनाये प्राचीन संस्कृत शब्दोंको उठा लेनेमें सुभीता रहता है। तद्भव, देशी अथवा विदेशी शब्दोंका ढूंढना कठिन होता

है, फिर अक्सर ठीक शब्द मिलते भी नहीं। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओंके शब्द समूहको बढ़ानेके लिये संस्कृतका शब्द-समूह एक अक्षय्य तथा स्वाभाविक भण्डार है।

३—संस्कृत शब्दोंके प्रयोगसे शैलीमें प्रौढ़ता तथा गरिमा आ जाती है और भाषामें एक साहित्यिक वातावरण उत्पन्न हो जाता है। हिन्दुस्तानी शैलीमें यह बात नहीं आती। साधारण संसारी आदमी इसकी महत्ताको भले ही अनुभव न करें, किन्तु साहित्यिक पुरुष इस सम्बन्धमें उपेक्षा नहीं कर सकता।

४—उन्नीसवीं शताब्दीसे हिन्दी शैलीके सम्बन्धमें संस्कृत मिश्रित हिन्दी और हिन्दुस्तानी लिखनेके प्रयोग होते आ रहे हैं। इस प्रतियोगितामें निश्चित रूपसे संस्कृत-गर्भित शैलीकी ही जीत रही है। पिछले पचास-साठ वर्षोंमें हिन्दी शैली स्थिरसी हो गयी है। अतः फिर नये सिरेसे व्यर्थको वही पुराने प्रयोग क्यों आरम्भ किये जावें ?

५—अन्तमें भारतीय मूल साहित्यिक भाषा संस्कृतके निकट रहनेसे हमारा सम्बन्ध प्राचीन भारतीय संस्कृतिसे अधिक दृढ़ तथा अटूट बना रहता है।

ऊपर दिये हुए तर्कोंमें बहुत कुछ तथ्य हैं, किन्तु इसके विरुद्ध भी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं।

यह बिलकुल सत्य है कि शब्द भण्डारके लिये संस्कृतकी ओर झुकनेसे हिन्दी भारतकी अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओंके निकट रहती है, किन्तु अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्धके अतिरिक्त हिन्दीका एक प्रान्तीय पहलू भी है, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्रभाषाके पहलूके सामने हिन्दीके प्रान्तीय भाषाके पहलूको प्रायः भुला दिया जाता है। खड़ी बोली हिन्दीका घर संयुक्त प्रान्त है तथा संयुक्त-प्रांत, बिहार, राजस्थान, मध्य भारत और हिन्दुस्तानी मध्य प्रान्तके हिन्दुओंकी यह साहित्यिक भाषा है। इन प्रान्तोंके मुसलमानों और पंजाब तथा दिल्लीके हिन्दू और मुसलमान दोनोंकी साहित्यिक भाषा खड़ी बोली हिन्दीकी बहिन उर्दू है, जो संस्कृत-गर्भित न होकर फारसी-अरबी-मिश्रित है। अब प्रश्न यह हो जाता है कि हिन्दीको संस्कृत गर्भित करके हिन्दी-भाषी प्रदेशकी जनताके एक बड़े समूहसे तथा पड़ोसके पंजाब और दिल्ली

प्रान्तोंकी प्रायः समस्त पढ़ी लिखी जनताकी भाषासे दूर करके सुदूरवर्ती बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्रकी भाषाओंके अधिक निकट रखना अधिक हितकर होगा या हिन्दुस्तानी शैलीकी ओर झुकाव करके बंगला, गुजराती आदि भाषाओंसे दूर होकर अपने घरके लोगोंको उर्दू भाषाके अधिक निकट रखना अधिक उचित होगा। यह न भूल जाना चाहिये कि भारतीय मुसलमानी संस्कृतिका केन्द्र हिन्दी-भाषी प्रदेश ही है। आगरा, लखनऊ, संयुक्त प्रांतमें ही हैं, यहां ही मुसलमानी विशाल साम्राज्य बने बिगड़े हैं और उनके खंडहर अबतक विलुप्त नहीं हो पाये हैं। अतः हिन्दीको जितना अधिक उर्दूसे मिलने जुलनेका अवसर मिलता हैं उतना गुजराती, बंगला आदिको नहीं मिलता। इन अन्य भारतीय आर्य-भाषाओंके आगे इस तरहकी समस्या आती ही नहीं, अतः हिन्दीकी इस समस्याको सुलझानेमें इन भाषाओंकी परिस्थिति विशेष सहायक नहीं होगी।

फिर हिन्दी-उर्दू समस्या केवल प्रांतीय समस्या ही नहीं है। यह एक भारतीय पहलू भी रखती है। यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी संस्कृत-गर्भित हुई तो यह सच है कि गुजराती, बंगाली, मराठी, तथा मद्रासी भाइयोंको ऐसी हिन्दीके समझनेमें सुभीता होगा, किन्तु सात-आठ करोड़ मुसलमान भाइयोंके प्रतिनिधियोंके लिये तो ऐसी हिन्दी संस्कृतके बराबर हो जायगी। उनकी उर्दूके निकट तो हिन्दुस्तानी हिन्दी ही रह सकेगी। फिर यह वर्ग ऐसा नहीं जिसे संस्कृत शब्द-समूहको सिखला सकना आसान हो। उर्दू धीरे-धीरे समस्त भारतीय मुसलमानोंकी साहित्यिक भाषा होती जा रही है। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आदि सुदूरवर्ती प्रान्तोंकी मुसलमान जनता धर्ममें इस्लाम धर्मको मानते हुए भी, भाषाकी दृष्टिसे अपने-अपने प्रान्तोंकी भाषा पढ़ती लिखती थी, किन्तु अब प्रायः हरएक प्रांतके मुसलमानोंकी प्रवृत्ति अपनी प्रान्तीय भाषाको छोड़कर उर्दूको अपनानेकी ओर हो रही है। इस प्रवृत्तिसे हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि और उर्दूके बीचमें भेदकी नीति और भी अधिक ऊँची तथा दृढ़ होती जा रही है।

यह हिन्दी-उर्दूकी द्विभाषा-समस्या हिन्दी-भाषी प्रदेशों, विशेषतया संयुक्तप्रांतके लिये बड़ी विकट समस्या है। निकट भविष्यमें जब भारतकी प्रांतीय भाषाओंमें

प्राइमरी स्कूलोंसे लेकर यूनिवर्सिटी तककी पढ़ाई होगी, उस समय यूनिवर्सिटीके अध्यापक किस भाषामें अपने मुसलमान और हिन्दू विद्यार्थियोंको इतिहास, तर्कशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि विषयों पर व्याख्यान दिया करेंगे ? हमारे प्रान्तमें हिन्दू और मुसलमानोंकी समस्त शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ बिलकुल अलग हों, यह भी तो बड़ी विचित्र बात होगी। प्रान्तीय सरकार अपना कारबार भले ही हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओंमें करती रहे, किन्तु प्रान्तीय कौंसिलमें किस भाषामें प्रस्ताव रखे जाया करेंगे और किस भाषामें उन पर वाद-विवाद होगा ? किस लिपि और भाषामें समस्त सरकारी और गैरसरकारी दफ्तरोंमें लिखा-पढ़ी हुआ करेगी ? वास्तवमें परिस्थिति बड़ी उलझनकी होगी।

मुसलमानी दौर-दौरेके कारण कुछ दिनों पहले उर्दू राजभाषा थी। राज-काजसे सम्बन्ध रखने वाले हिन्दू भी उर्दू सीखते थे। उस समय संस्कृत पंडितोंकी और नागरी स्त्रियों तथा तिजारत पेशे वालोंकी भाषा समझी जाती थी। राजनीतिक परिवर्तनोंके साथ-साथ उर्दूका यह विशेष पद नष्ट हो गया। तथा पढ़े-लिखे हिन्दुओंकी नई पीढ़ियोंमें खड़ी बोली हिन्दीका पठन-पाठन बढ़ने लगा। इस समय पश्चिमी संयुक्तप्रांतके कुछ हिस्सों तथा लखनऊके इर्द गिर्द कुछ खानदानोंको छोड़ कर संयुक्तप्रांतकी शेष समस्त पढ़ी-लिखी हिन्दू जनताकी तथा पड़ोसके प्रांतों की हिन्दू जनताकी भी साहित्यिक भाषा हिन्दी हो गयी है। यद्यपि इस भूमि-भागमें समस्त पढ़े-लिखे मुसलमान भाइयों तथा बहुत तेजीसे घटते हुए पुराने प्रभावों से प्रभावित कुछ हिन्दू घरानोंकी साहित्यिक भाषा अब भी उर्दू बनी हुई है। ऐसी परिस्थितिमें भाषा-सम्बन्धी कठिनाईका होना स्वाभाविक है।

अपने प्रान्तकी मुसलमान भाइयोंकी साहित्यिक भाषा—उर्दूके निकट रहनेके अतिरिक्त हिन्दीकी हिन्दुस्तानीकी ओर झुकाव रखनेके पक्षमें एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि ऐसा करनेसे हिन्दी सर्वसाधारणकी पहुँचके अन्दर रहेगी। संयुक्त-प्रांतके गाँवों, कस्बों तथा शहरोंकी साधारण जनता संस्कृत-गर्भित भाषाको उतनी आसानीसे नहीं समझ सकती, जितनी आसानीसे वह प्रचलित तद्भव तथा विदेशी शब्दोंसे युक्त सरल हिन्दीको समझ सकती है। साधारण जनता फ़ारसी-मिश्रित

उर्दूको भी नहीं समझ सकती। हिन्दी और उर्दूमेंसे जो भाषा भी जनता तक अपनी पहुंच चाहती है, उसे अपनेको सरल बनाये रखना चाहिये। इस तर्कमें बहुत तथ्य है, किन्तु यह बात केवल समाचार पत्रोंमें, उपन्यासों तथा साधारण नाटकों आदिकी भाषाके सम्बन्धमें लागू हो सकती है। जब कभी गम्भीर विषयों पर कलम उठानी पड़ेगी, तभी फ़ारसी या संस्कृतका सहारा लेना अनिवार्य हो जायगा। जनताके हितकी दृष्टिसे इसमें विशेष अड़चन भी नहीं, क्योंकि यह ग्रंथ-समूह सर्वसाधारणके लिये नहीं होता है और न साधारण जनता तक उसकी पहुंच करानेकी आवश्यकता ही पड़ती है। हिन्दीको जनताकी पहुंचके अन्दर रखनेमें हिन्दीका ही हित है। किन्तु इससे हिन्दी-उर्दू समस्या हल नहीं होती।

बहुत दिनों तक गम्भीरतापूर्वक विचार करनेके बाद मैं इस निश्चित निर्णय पर पहुंचा हूँ कि हिन्दी और उर्दू साहित्यिक भाषाओंको भविष्यमें मिला कर अब एक भाषा नहीं किया जा सकता। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, बोल-चाल या साधारण साहित्यकी हिन्दी उर्दूको जनताकी पहुँचकी दृष्टिसे सरल बनाये रखनेमें इन्हीं भाषाओं का हित है। ऐसी सरल हिन्दी और उर्दूका एक दूसरेसे अधिक निकट रहना स्वाभाविक है, किन्तु हिन्दी और उर्दूमें दिन-दिन ऊँचीसे ऊँची श्रेणीका कार्य होना है, अतः ऐसे ऊँचे पायेकी साहित्यिक हिन्दी और उर्दूका एक दूसरेसे, आजकी अपेक्षा भी अधिक दूर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

मुसलमान भाइयोंसे यह आशा करना कि वे प्रांतकी अधिकांश पढ़ी-लिखी जनताकी भाषा—हिन्दीको सीख सकेंगे, दुराशा-मात्र है। हिन्दी, उर्दूकी मिडिल परीक्षाओंसे लेकर हिन्दी एम० ए० की परीक्षाओं तक मिडिल और हिन्दी एम० ए० के मुसलमान विद्यार्थियोंकी संख्या देख कर भविष्यकी प्रगतिका पता स्पष्ट चल सकता है। रहीम और जायसी आदिका नाम लेकर मौखिक सहानुभूति दिखलाना दूसरी बात है। यह सच है कि उर्दू पढ़ने वाले हिन्दू विद्यार्थियोंकी संख्या अभी भी पर्याप्त है, किन्तु यह दिन-दिन घट रही है। वर्तमानकालको परिवर्तित परिस्थितिमें हिन्दुओंसे यह भी आशा नहीं की जा सकती कि वे पहलेकी तरह बहुत दिनों तक उर्दूको अपनाये रहेंगे। नीचेकी कक्षाओंमें नागरी और उर्दू लिपि तथा एक दो

दूसरी भाषाकी किताबें प्रत्येक हिन्दी या उर्दू जानने वालेको पढ़ा देनेसे भी साहित्यिक हिन्दी या उर्दूके भेदकी समस्या हल नहीं होती।

मेरी अपनी दृढ़ धारणा यह हो गयी है कि देवनागरी लिपि तथा हिन्दी भारतीय लिपि तथा भाषा हैं, अतः संयुक्तप्रांत आदि भू-भागोंमें रहने वाले प्रत्येक व्यक्तिको, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, अंग्रेज हो या यहूदी, पारसी हो मदरासी देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषाको अपनी राष्ट्रीय लिपि और भाषा समझ कर सीखना चाहिये। मुसलमान भाई यदि चाहें तो अपनी संस्कृति और धर्मको सुरक्षित रखनेके लिये फ़ारसी लिपि और भाषाको भी अपने बच्चोंको सिखा सकते हैं। इसकी उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। जब तक वे इसके लिये राजी न हों, तब तक यही एक उपाय है कि हिन्दी-भाषी प्रदेशोंके ८५ फी सदी हिन्दू, हिन्दी और देवनागरी लिपिको अपनावें और १५ फी सदी मुसलमान भाई उर्दूको अपनाये रहें। भविष्य आप ही इस सम्बन्धमें फैसला कर देगा। जो हो मैं प्रत्येक पढ़े-लिखे हिन्दू बालकको उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपिका अनिवार्य रूपसे सिखलाया जाना या उर्दूके निकट जानेके उद्देश्यसे साहित्यिक हिन्दीकी प्रौढ़ शैलीको नष्ट कर उसे हिन्दुस्तानी बनाना, अस्वाभाविक तथा अनावश्यक समझता हूँ। विशेषतया जब इससे साहित्यिक हिन्दी और उर्दूके भेदको दूर करनेमें कोई भी सहायता नहीं मिलती।

(साप्ताहिक 'विश्वमित्र' १९३६)

हिन्दी और उर्दूकी लड़ाई

(उर्दू और हिन्दीमें क्या अन्तर है, दोनोंका जन्म किस प्रकार और किन परिस्थितियोंमें हुआ, किस प्रकार उनका विकास हुआ तथा हिन्दीका क्या तकाज़ा है, इन विषयोंपर लेखकने बड़े अच्छे विचार प्रकट किये हैं। हिन्दीकी हिमायत करते हुए लेखकने उसकी मांगके प्रश्नको सांस्कृतिक बताया है। लेखकके विचार हिन्दी-साहित्यिकोंके पढ़ने, मनन करने और अमल करने योग्य हैं।)

बिहार, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, दिल्ली तथा अजमेरकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है। इसके अलावा हिन्दी बोलनेवाले राजपूताना एजेन्सी तथा मध्य भारत एजेन्सी

प्रभृति देशी राज्योंमें फैले हुए हैं। तात्पर्य यह है कि हिन्दी भाष-भाषी प्राचीन मध्य देशमें सिन्ध और गुजरातकी सीमा जैसलमेरसे बंगालकी सीमा भागलपुर तक तथा पंजाबकी सीमा हरद्वारसे मद्रासकी सीमा बस्तर तक बसे हुए हैं। इतने बड़े भूभागके लोगोंकी समस्यायें बहुमुखी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ये समस्यायें हैं—शासन सम्बन्धी, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा भाषा सम्बन्धी। इन पंक्तियोंमें मैंने हिन्दी उर्दूके जो कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीके रूपमें हैं, झगड़ेके सम्बन्धमें विचार करना चाहा है।

उर्दू का जन्म—

झगड़ेके मूलको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उस परिस्थितिका अवलोकन करें, जिसमें उर्दूकी उत्पत्ति हुई थी। जैसा कि सर्वोपर विदित है कि उर्दू हिन्दीका एक रूप है, जिसमें फ़ारसी तथा अरबीके शब्द रहते हैं तथा कभी-कभी उसीके व्याकरणका भी निर्वाह होता है। इसके अलावा इसका साहित्य ईरान, मध्य एशिया तथा अरबकी संस्कृतिसे प्रेरित होता है। हालांकि प्रारम्भिक विदेशी आगन्तुक नाना प्रकारकी यथा अरबी, पश्तो, तुर्की तथ मंगोलीय भाषाओंका व्यवहार करते थे, फिर भी भारतके मुस्लिम राजाओंकी कोर्ट भाषा फारसी थी। फिर उत्तर भारतके लोगोंसे अपना सम्बन्ध बढ़ानेके लिये उन्हें दिल्लीकी चालू हिन्दीको अपनाना पड़ा। उदाहरणार्थ "हमं मुसन्निफीनमें सबसे बड़ा नुक्स यह है कि हम लोग कारईनके जज़बातका अन्दाज़ नहीं कर सकते" का प्रचार उस परिस्थितिमें ठीक इसी प्रकार हुआ जैसा कि आज अंग्रेजी वातावरणमें "हम रायटर्समें सबसे बड़ा डिफेक्ट यह है कि हम लोग रीडर्सकी फीलिंगसको रियलाइज़ नहीं कर सकते" का हिन्दीके वाक्य अरबी फारसी लिपिमें जो साधारणतः उर्दू ही कहाती है, लिखे जाते हैं। राजनीतिक कारणोंसे यह बोलचालकी भाषा कुछ महत्वपूर्ण बन गयी और उन मुसलमानोंने जो मुसलमान बने थे, उसे अपनाया। उनके लिये फ़ारसीके बाद यही सर्वश्रेष्ठ भाषा थी, कारण, फारसी कठिन मालूम पड़ती थी। व्यवहारिक आवश्यकताके लिये उन हिन्दुओंने भी जो नौकरीकी तलाशमें थे, इसे अपनाया। संक्षेपमें उर्दू भाषाकी उत्पत्ति इसी प्रकार हुई।

अन्य भाषाएँ —

इस अर्ध सरकारी बोलचालकी भाषाके साथ-साथ अन्य भाषायें भी जिनमें मारवाड़ी, ब्रज, अवधी तथा मैथिली मुख्य हैं, साहित्यिक तथा धार्मिक आवश्यकता-पूर्तिके लिये बढ़ीं। इनमेंसे प्रत्येकके सदियों तक सुन्दर दिन रहे। हिन्दीकी सच्ची राष्ट्रीय संस्कृतिका विकास इन बोलचालकी भाषाओंमें हुआ, जिनमें धर्मकी परवाह किये बिना रसखान (ब्रज) तथा जायसी (अवधी) ने रचनायें कीं। जबतक मुस्लिम सल्तनत रही, खड़ी बोली उर्दू सरकारी तथा अर्ध सरकारी क्षेत्रको छोड़ साधारणतः विदेशी भाषा समझी जाती थी। किन्तु मुस्लिम सल्तनतके पतनके बाद यह भावना दूर होती गयी। १९ वीं सदीमें खड़ी बोली साहित्यिक रूपमें विदेशी पर्दा यथा विदेशी शब्द, विदेशी लिपि, विदेशी साहित्यिक आदर्श होकर आयी, जिसका स्वरूप आज हम ऊपर लिखित क्षेत्रोंमें देख चुके हैं। फलतः हम *खड़ी बोली हिन्दी और खड़ी बोली उर्दूकी तुलनात्मक स्थिति साफ-साफ* देख सकते हैं।

उर्दू और सरकार—

वर्तमान अवस्थामें उर्दूकी स्थितिमें एक भारी परिवर्तन हो गया है। पहले उर्दूको सरकारी सहायता प्राप्त थी तथा अन्य बोलचालकी हिन्दी भाषा उसकी बराबरी में कुछ भी न थी। किन्तु उर्दूको यह महत्त्व केवल भाषाके नाते प्राप्त है साहित्यके नाते नहीं। सर हैरी हेग जब लखनऊमें थे तो उनके कोर्टमें न कोई उर्दू कवि था और न हिन्दी ही। और न लार्ड विलिंगटन किसी मुशायरेमें या किसी कवि-सम्मेलनहीमें गये। यदि जाते भी तो कुछ समझ ही नहीं पाते। यह ठीक है कि उर्दूको सरकारी सहायता प्राप्त नहीं है फिर उर्दू साहित्यके पृष्ठपोषक कुछ मुसलमान नगरोंमें तथा कुछ १९ वीं सदीकी संस्कृतिकी गोदमें पले लोग हैं। इस दूसरी श्रेणीके उदाहरण कायस्थ तथा काश्मीरी हैं। किन्तु उनकी संख्या तथा शक्ति तेजीसे क्षीण हो रही है। हालां कि हिन्दी संयुक्त प्रान्तमें कोर्टकी भाषा स्वीकृत हो चुकी है, फिर भी उर्दूकी परम्परा जारी है। यही कारण है कि संयुक्त प्रान्तमें कोर्टसे सम्बन्ध रखनेवालोंको उर्दू भाषा और लिपि जाननी पड़ती है।

संस्कृतका प्रश्न—

किन्तु उर्दू तथा हिन्दीकी प्रधान भिन्नता केवल शब्द तथा लिपिकी नहीं है। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, हिन्दी देवनागरी लिपिके साथ हिन्दी जनताकी राष्ट्रभाषा है और उर्दू भाषा और उर्दू लिपिमें विदेशी संस्कृतिका प्रभुत्व है। फलतः हिन्दी तथा उर्दूके झगड़ेका असली कारण सांस्कृतिक है। फलतः इस समस्याको सुलझाना शब्द और लिपि पर नहीं, प्रत्युत इन दोनोंकी संस्कृति पर निर्भर है। अतएव हिन्दी जनताके समक्ष यह प्रश्न है कि वह राष्ट्रीय भाषा तथा लिपिको अपनावे या विदेशियों द्वारा सजायी तथा निर्मित भाषा और लिपिको ? इस प्रश्न पर सम्यक् अनुसंधान वांछनीय है। हिन्दी जनताकी राष्ट्रभाषा हिन्दी होना भावुकता पर नहीं प्रत्युत ठोस तर्क और ज्ञानपर निर्भर है। हिन्दीको अपनानेसे हिन्दी जनता एक ओर तो अपनी पुरानी साहित्यिक लिपि तथा संस्कृतिके जो संस्कृत, पाली तथा प्राकृतमें सुरक्षित है, सम्पर्कमें आ जाती है तथा दूसरी ओर भारतकी अन्य भाषाओं बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया तथा तामिल, तेलगू, कनाड़ी मलयालम और सिंहालीके सम्पर्कमें जिन्हें संस्कृत, पाली तथा प्राकृतसे बहुत प्रेरणा मिली है। फलतः हिन्दी भाषा और लिपिको छोड़कर उर्दू भाषा और लिपि अपनानेका नतीजा यह होगा कि हिन्दू जनता केवल प्राचीन संस्कृतसे ही वंचित नहीं हो जायगी, प्रत्युत आधुनिक भारत से भी।

कृत्रिम भाषा –

हिन्दुस्तानीकी बात तो और भी घटिया है। हिन्दुस्तानीसे मतलब उससे है जो स्वभावसे ही किसी भी उच्च साहित्यिक या वैज्ञानिक आवश्यकताके लिये अपर्याप्त है। उस दिन हिन्दुस्तानी एकाडेमीके वार्षिकोत्सवके सभापतिकी हैसियतसे बाबू सच्चिदानन्द-सिनहाने हिन्दुस्तानीकी वकालत की थी, किन्तु उनका भाषण अंग्रेजीमें था। ऐसी कृत्रिम भाषासे कुछ लेख या कुछ कहानियाँ भले ही लिखी जा सकती हों। इसके अलावा कुछ बातचीत भी कर सकते एवं कुछ प्राइमर भी तैयार कर सकते हों ; किन्तु इससे क्या ? असली बात तो यह है कि डायर्की शासनके समान ही इस कामन लैंग्वेजके सिद्धान्तने लोभसे अधिक हानि पहुंचायी है। इससे विद्यार्थी न तो ठिकानेसे

हिन्दी ही जान सकते हैं और न उर्दू ही। फलतः प्रान्तोंकी समस्याएं अछूती रह जातीं हैं। तुलनात्मक दृष्टिसे पहलेका प्रथम या द्वितीय रूप इससे कहीं ज्यादा अच्छा था। तब विद्यार्थी दोनों भाषाओंकी सच्चे रूपमें योग्यता प्राप्त किया करते थे, एककी प्रारम्भिक अवस्थामें तथा दूसरेकी उच्च अवस्थामें और साथ ही इस आशाके साथ कि आगे चल सच्ची राह पकड़ ली जायगी।

असली बात—

कुछ ऐसे लोग हैं जो सांस्कृतिक तथा शासन सम्बन्धी बातोंको साम्प्रदायिक चश्मोंसे देखते हैं। ऐसा सुना जाता है कि चूंकि मुसलमान उर्दू छोड़नेके लिये तैयार नहीं है, अतएव हिन्दी प्रांतोंकी समस्याएं कैसे सुलझें? इस तर्क में कोई जान मालूम नहीं होती। पहली बात तो यह है कि उर्दूके छोड़नेका प्रश्न नहीं है, वरन् राष्ट्रभाषा हिन्दीका अनुसरण करनेका है। इसके अलावा यह कहना कि हिन्दी क्षेत्रमें रहनेवाले मुसलमान उर्दू बोलते तथा कोई भी गैर-मुसलमान उर्दू नहीं बोलता तथ्यहीन है। संयुक्त प्रान्तके रहनेवाले १४ प्रतिशत मुसलमानोंमें तथा अन्य प्रान्त यथा बिहार या राजस्थानके अधिकांश देहातोंमें रहनेवाले वहांकी स्थानीय भाषामें यथा ब्रज, अवध, बुन्देली प्रभृति भाषाएं बोलते हैं, अतएव उर्दूके सच्चे भक्त कहनेवाले वे हैं जो शहरोंके निवासी हैं। उनकी संख्या बड़ी नगण्य है—जो सारी जनसंख्यामें सैकड़ा प्रति पांच हैं। जब ९५ प्रतिशत हिन्दोंने अपना निश्चय कर लिया है तब बचे हुए ५ को जल्दी या देरसे पीछे-पीछे आना ही पड़ेगा।

इन सब तर्कोंके बाद हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसका एकमात्र उपाय यह है कि हिन्दी जनतामें राष्ट्रीय विचारके ऐसे लोग हों जो धर्म जाति तथा वर्गकी भिन्नतासे अलग हो आगे बढ़ें। जिस प्रकार प्रत्येक बंगाली चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो या कायस्थ, बौद्ध हो या सनातनी बङ्गालीको या प्रत्येक फ्रेंच चाहे वह क्रिस्तान, यहूदी, अङ्ग्रेज या जर्मन हो फ्रेंचको राष्ट्रीय भाषा समझता है, उसी प्रकार प्रत्येक हिन्दी जनता हिन्दीको राष्ट्रीय भाषा समझे। मैं समझता हूं कि लोग मेरी बातका कुछ और अर्थ न लगायेंगे कारण मैं सुन्दर उर्दू साहित्यके अध्ययन, भाषा और लिपिके खिलाफ नहीं हूं मेरा मतलब केवल हिन्दीका

प्रान्तीय भाषाके झगड़ेके साधन हैं। इस सिलसिलेमें बता देना चाहता हूं कि यूरोपीय भाषा विज्ञान विशारद भी उर्दूको किसी प्रान्तकी मातृभाषा स्वीकार नहीं करते। उर्दूके अध्ययनका प्रबन्ध निम्न श्रेणीसे उच्च श्रेणी तक रहना चाहिये एवं जो इससे प्रेम रखते हैं उन्हें इसके पढ़नेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इस प्रकार मेरे कथनका तात्पर्य यह है कि भारतके प्रत्येक प्रांतकी भाषा वहांकी राष्ट्रीय भाषा और लिपि हो। हिन्दी प्रांतोंमें हिन्दी और देवनागरी हो, बङ्गालमें बङ्गाली तथा गुजरातमें गुजराती आदि। उर्दू साहित्यकी आधुनिक निधिके अध्ययनका यही सच्चा तरीका है और होना चाहिये।

(साप्ताहिक लोकमान्य फरवरी १९३६)

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि

(हिन्दी कैसी हो, राष्ट्र भाषाकी लिपि कौनसी हो, इन विषयों पर इस लेखमें विचार किया गया है।)

अभी हालमें हिन्दी भाषा एवं लिपिके सम्बन्धमें जनताके मस्तिष्कमें अनेकों समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं। समाचारपत्रोंने इन समस्याओंका महत्व और भी बढ़ा दिया है। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि हिन्दी भाषा केवल प्रांतीय महत्व ही नहीं रखती वरन् शेष भारतमें भी इसका अन्तर-प्रांतीय महत्व है। जब किसी गुजरातीको बंगालीसे या बंगालीको गुजरातीसे बोलना होता है तो वह प्रायः हिन्दी भाषाका ही आश्रय लेते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि हिन्दी भारतकी गैर सरकारी मातृ-भाषा है और राष्ट्रीय महासभाने तो इसे सरकारी तौर पर अन्तरप्रांतीय भाषा स्वीकार कर ही लिया है। हिन्दीका इतना महत्व-पूर्ण स्थान होते हुए भी इसमें कुछ कठिनाइयां आ गयी हैं। उदाहरणके लिए मान लीजिये कि एक बंगालीको हिन्दी सीखनी है। अब इसके लिये उसे लिङ्ग भेद समझनेमें बड़ी कठिनाई होगी, क्योंकि बंगला भाषामें हिन्दीकी तरह लिङ्ग भेदका ज़बर्दस्त गोलमाल नहीं है। कुछ समय पूर्वकी बात है कि हमें किसी पत्रमें पढ़नेको मिला था जिसमें शान्ति-निकेतनके एक प्रोफेसरने लिखा था कि हिन्दी अपने विशेषणों एवं क्रियाओंमें व्याकरण सम्बन्धी परिवर्तनोंको छोड़ दे, तभी यह बंगालियों द्वारा राष्ट्र

भाष स्वीकृत की जा सकती है। बादको कलकत्ता यूनिवर्सिटीके एक प्रोफेसरने इसका समर्थन भी किया था। उनके कहनेका तात्पर्य यह था कि जिनको हिन्दी सही बोलना आवे उन्हें भी 'हाथी जाती है' और 'लोमड़ी बोला' कहना चाहिये। यदि ऐसी सूझ पर विचार किया जाय तो हिन्दीका भविष्य बताना कठिन हो जाय। बंगालियोंकी कठिनता दूसरे प्रकारकी होगी। तेलगू और पंजाबियोंकी कठिनता दूसरे किस्मकी होगी। यदि भारतकी अन्य भाषाओंके बोलनेकी सुविधाके अनुसार इसमें परिवर्तन किया जाय, तो हिन्दी हिन्दी रह ही नहीं सकती।

वास्तवमें यह सूझ अनोखी है। हिन्दी भाषाकी तरह फ्रेंचमें भी ऐसे ही लिङ्गका झमेला है। अन्य यूरोपियनोंको फ्रेंच सीखनेमें बड़ी कठिनाई होती है, किन्तु अन्य भाषा भाषियोंने उसमें परिवर्त्तनकी कोई प्रार्थना नहीं की। अंग्रेजी भाषाके हिज्जे और व्याकरणमें भी ऐसी ही बाधाएं हैं, किन्तु शायद भारतमें किसीने आपत्ति नहीं उठायी है। जापान और ईरान वगैरह देशोंने भी इसका विरोध नहीं किया, गोकि वे अपनी व्यापार सम्बन्धी बातोंकी जानकारीके लिए अंग्रेजीका ज्ञान आवश्यक समझते हैं।

यह जान लेना चाहिये कि अन्तर प्रान्तीय प्रयोगमें हिन्दीको लानेका कारण इसकी सर्वप्रियता एवं सुगमता ही है। × × ×

× × विशेष अर्थके शब्दोंकी समस्यामें व्यर्थ ही लेखक-गण, छात्र एवं शिक्षित व्यक्ति उलझे हैं। भारतके अन्य प्रांतोंके साथ ही हिन्दी भाषियोंको भी खास-प्रयोगके शब्दोंको संस्कृत या प्राकृतके आधार पर बना लेना चाहिए। यूरोपकी भाषाओंमें विशेष प्रयोगके शब्द प्राचीन भाषाओंके ही आधार पर बनाये जाते हैं। इस सिद्धान्त पर हिन्दीके विशेष पारिभाषिक शब्द (टेक्निकल) गुजराती, बङ्गाली, मराठी, तामिल या तेलगूके समान होंगे, और यदि फारसी या अरबीके आधार पर वे शब्द बनाये जायं, तो भारतके शेष प्रान्तोंसे एकदम भिन्न हो जायेंगे। इसे भूलना नहीं चाहिए कि उर्दू भारतकी एक दर्जन भाषाओंमेंसे एक है। इन सब समस्याओंमें प्रधान प्रश्न हिन्दी भाषियोंके सामने यह उपस्थित होता है कि वे १० का साथ देंगे अथवा १ का। निम्न श्रेणीकी शिक्षण संस्थाओंमें 'जजीरा' और 'द्वीप' के स्थान पर

आइलैंड (टापू) कहना हिन्दी और उर्दू दोनोंके लिए घातक है एवं हमारी संस्कृति पर कुल्हाड़ी चलाना है ।

हम साइन्स (विज्ञान) में व्यवहृत होने वाले शब्दोंके निर्णयके विषयमें विचार कर सकते हैं । इस सिलसिलेमें मुझे एक घटनाकी याद आती है जब कि मैं नान-किनमें एक चीनी प्रोफेसरके साथ भ्रमण कर रहा था । मैंने पूछा कि चीनके साइन्स सम्बन्धी शब्द किस भाषामें है । उसने बतलाया कि नीचेकी श्रेणीमें ग्रेजुएट डिग्री-तक तो तमाम शब्द चीनी भाषामें बने हैं, किन्तु अनुसन्धान एवं विशेष योग्यतामें काम करनेवालोंके लिये स्वतन्त्रता हैं । वे अङ्गरेजी शब्दोंका भी व्यवहार कर लेते हैं । हमारे देशमें भी इसी ढंग पर यह समस्या हल हो सकती है ।

देवनागरी या रोमन लिपि ?—

हिन्दी भाषा विषयक विवादोंके पश्चात् हम देवनागरी लिपिकी समस्या पर आते हैं । देवनागरी लिपिमें भी कठिनताके कारण वे ही लोग अधिकांशमें हैं जो अपनी भाषामें विभिन्न लिपियोंका प्रयोग करते हैं । देवनागरीके स्थान पर उर्दू लिपि रखनेके विचार अब लोगोंके दिमागसे उठ गये, क्योंकि इसमें बड़ी त्रुटियां हैं । किन्तु अब अधिकांश लोगोंके अंग्रेजी पढ़ने लिखनेके कारण नागरीके साथ रोमन लिपिका सवाल आता है, कारण कि ये पढ़े लिखे लोग बालपनसे ही रोमन लिपिके अभ्यस्त हो जाते हैं । कुछ समय पूर्व मैं पेरिस केफमें अपने एक बंगाली मित्रसे इस प्रश्न पर बहस कर रहा था । अन्तमें उसने अपना दिल खोलकर कहा कि यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि हिन्दी भारतकी राष्ट्रभाषा हो जायगी । कारण कि कुछ लम्बी अवधि और बीतने पर अँगरेजीका त्याग कर देना सम्भव है । इस हालतमें एक नई लिपिका बोझ ऊपर क्यों लेना चाहिये । बंगालियोंको रोमन लिपि शुरूसे ही मालूम है, इसीलिये वे इस पर जोर देते हैं । हिन्दी भाषाकी तरह नागरी लिपि भी हिन्दी भाषियोंकी राष्ट्रीय लिपि है । इसका इतिहास २५०० वर्षका पुराना है । उर्दूके सिवा भारतकी अन्य लिपियाँ इससे मिलती जुलती हैं । अतः हिन्दी भाषियोंको विदेशी लिपिका स्थान देना असम्भव है । × × ×

(साप्ताहिक 'लोकमान्य' मार्च १९३६)

डा० श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी—

[निम्नलिखित भाषणोंके उद्धृत अंशोंसे यह स्पष्ट हो जायगा कि डा० श्री सुनीतिकुमार चटर्जीने केवल भारतमें ही नहीं, वरन् संसारके विभिन्न भागोंमें भी हिन्दीकी व्यापकताके कारण हिन्दीको राष्ट्रभाषाके योग्य माना है। आप यद्यपि रोमनलिपिके पृष्ठपोषक हैं, किन्तु फिर भी देवनागरी की उपयोगिताको अस्वीकार नहीं करते—"देवनागरीके सहारे हम प्रांतीय भाषाओंके संबंधको घनिष्ठ बना सकते हैं" (करांचीमें प्रदत्त भाषण पृ० २६)। आपकेसे अधिकारी विद्वानोंका राष्ट्रभाषा संबंधी सुझाव निस्सन्देह मूल्यवान है।]

× × ×

"मैं हिन्दीका प्रेमी हूं और आजकलके भारतके राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवनमें हिन्दीके महत्वको भली-भांति मैं समझता हूं। × × ×

× × × मध्यदेशसे—पूर्व पंजाब, पश्चिम संयुक्तप्रदेश तथा बुन्देलखंड प्रांतोंसे—साहित्यिक भाषाके रूपमें पश्चिम पंजाबसे बंगाल तक हिमालयसे विन्ध्या तक इसका फैलाव हो गया है ; केवल इस विशाल भूखंडमें भी यह सीमित नहीं रही ; गुजरात, सिन्ध, काश्मीर, नेपाल, बंगाल, आसाम, उड़ीसामें, महाराष्ट्रमें और द्राविड़ भाषी आंध्र, कर्णाट, तामिलनाड़ और केरलमें, इसका प्रसार बढ़ता जाता है ; समग्र भारतीय जणगण जिसमें इसे अपना लें, इसलिये भीतरसे प्रेरणा और बाहरसे प्रचार भी हो रहा है। × × ×

× × × भारतीय राष्ट्रको इस समय विध्वस्त और संपूर्ण रूपमें विनष्ट कर देनेकी अपचेष्टा चल रही है। भारतीय एकताका एक मुख्य साधन हिन्दी ही बन चुकी है, इसलिये भारतीय राष्ट्रके विरोधी हिन्दीके विरोधमें अपनी पूरी शक्तिका प्रयोग कर रहे हैं। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दीकी स्वाभाविक-गतिमें रुकावट डालनेवाली कुछ नई कठिनाइयां दिखाई देती हैं। इनमें सबसे हानिकर यह है कि हमलोगोंमें आदर्श-विपर्यय आ गया है। भारतके कुछ मुसलमान, × × × उनकी

ओरसे और हमारी तरफसे उन्हें खुश रखनेकी नीतिके कारण, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे हिन्दी पर अब सख्त हमला हो रहा है —हिन्दी संस्कृति पर प्रबल आघात हो रहा है। राष्ट्रभाषाके क्षेत्रमें भी प्रश्न वही है—हिन्दू-मुसलमानका प्रश्न। उर्दू अर्थात् मुसलमानी हिन्दी समुदाय विशेषमें निबद्ध हिन्दी, विदेशी शब्दोंसे और विदेशी भावोंसे भरपूर हिन्दी भारतके बहुसंख्यक जनोंकी शुद्ध हिन्दी, भारतके जातीय भावसे अनुप्राणित हिन्दीको कहांतक रोकेगी, अंगरेज सरकार तथा हमारे कांग्रेसी शासनके पूरे समर्थनसे कहाँ तक इसे रोक सकती है, यही हिन्दीके सामने आज सबसे कठिन समस्या है। इसी समस्याको हल करनेके लिये Courage of Despair अर्थात् नैराश्य जनित दुस्साहसका आश्रय लेकर, महात्मा गांधीने देवनागरी तथा अरबी इन दोनों लिपियोंमें साथ साथ लिखी जानेवाली "हिन्दुस्तानी" को हिन्दीके स्थान पर बिठा देनेकी सलाह दी है। परन्तु इससे भी यह बात तय हो नहीं सकी, समस्या और भी जटिल बन रही है। × × ×

× × × एक राज्य या एक राष्ट्रीयताके प्रतीक-स्वरूप एक भाषाको माने बिना काम नहीं चल सकता; और यह भाषा देश या राष्ट्र ही की कोई भाषा होनी चाहिये। × × × कुछ ऐसे सज्जन हैं, जिनके विचारमें अब जैसे कि अंगरेजी भारत के शिक्षितोंकी प्रमुख भाषा बन रही है, उसे वैसे ही रखना ठीक होगा। इनकी राय यह है कि भारतमें सदाके लिये अंगरेजीको ही अन्तः प्रादेशिक भाषा रक्खा जाय। परन्तु ये सज्जन देश की अनपढ़ जनता पर अपनी कृपा-दृष्टि नहीं डालते। भारतमें एक प्रतिशतसे ज्यादा अंगरेजीदाँ नहीं हैं। किसी भारतीय भाषाको अपनानेमें भारतकी अशिक्षित प्रजाको उतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी कि अंगरेजी ऐसी विदेशी भाषाके सीखने में। उत्तर भारतके आर्यभाषियोंके लिये यह तो एक खास बात है कि बगैर ज्यादा तकलीफ उठाये हुए, जीवनकी और मामूली अभिज्ञताओंकी तरह ही काम-चलाऊ हिन्दीको यह ज्योंका त्यों सीख लेते हैं—आर्यभाषियोंके लिये हिन्दी सीखना कुछ बड़ी बात नहीं होती। दक्षिणके द्राविड़भाषी लोगोंके लिये हिन्दी सीखना अपेक्षाकृत कठिन होता है, यह सत्य है। पर द्राविड़ लोग भी सरल व्याकरणकी चलू हिन्दी निहायत आसानीसे सीख लेते हैं, जब इन्हें अंग्रेजी

के मोहसे छुटकारा मिलता है और हिन्दीवालोंके सम्पर्कमें ये आते हैं। द्राविड़ भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंका प्रकृति-मूलक या गठन-मूलक मेलजोल विद्यमान है जो कि अंगरेजी और द्राविड़ भाषाओंके बीच नहीं है। राजनीतिक कारणोंसे अंगरेजी सीखनेकी आदत यदि बदल दी जाय, तो भाषातात्विक दृष्टिसे द्राविड़वालोंके लिये हिन्दी या और कोई भारतीय आर्यभाषा सीखना सहल ही होगा।

अस्तु, भारतकी एक-राष्ट्रीयता तथा भारतवासियोंमें राष्ट्र-भाषाके रूपमें किसी भारतीय भाषाकी आवश्यकता—इन दोनों विषयों पर अधिकतया बोलनेकी जरूरत नहीं है। अब जितनी भारतीय जीवित भाषाएँ हैं, उनमें हिन्दी ही को अन्तःप्रांतिक या राष्ट्र-भाषाकी यह मर्यादा मिल चुकी है, इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं है। विभिन्न प्रदेशोंसे आये हुए दो भारतवासी जब इकट्ठे होते हैं, यदि वे अंगरेजी-शिक्षित अथवा संस्कृतज्ञ पंडित नहीं होते, तो ज्यादा सम्भावना यही होती है कि वे हिन्दी ही में बात करते हैं—वह हिन्दी शुद्ध हो, चाहे मुसलमानी ढंगकी हो, चाहे टूटी-फूटी कलकतिया या बम्बइया या दक्खिनी बाजारू हिन्दी हो। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और लाहौरमें बनी हुई हिन्दुस्तानी या हिन्दी फिल्में भारतवर्षके सैकड़ों शहरों और कस्बोंमें दिखाई जाती हैं, और हजारों महाराष्ट्र, बंगाली, उड़िया, नेपाली और तेलुगु और कनाडी और कभी-कभी तमिल लोग भी इन्हें बड़े चावके साथ देखनेको और इनके गाने आदि सुननेको जाते हैं। हिन्दी फिल्म भारतके बाहर लङ्काद्वीप, मौरिशस, दक्षिण और पूर्वी अफ्रिका, मलाया और फीजी, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद आदि दूर देशोंमें जहां भारतीय लोग बसे हैं, बड़ी लोकप्रिय होती हैं। भारतके बे-घरबारके साधु सन्त और फकीर लोग, जो कि तीर्थसे तीर्थान्तर घूमते हैं और सारे भारतवर्षकी यात्रा करते फिरते हैं, हिन्दीका ही व्यवहार करते हैं। इन सब बातोंसे हिन्दीकी प्रतिष्ठा सर्वत्र दीख पड़ती है—यथा समग्र उत्तर भारतमें, तथा दक्षिणके बड़े बड़े शहरोंमें और प्रधान तीर्थ-क्षेत्रोंमें।

न केवल भारतवर्षमें हिन्दीका प्रसार इतना है—भारतके बाहर यदि किसी भारतीय भाषाकी सार्वजनीन बोधगम्यता है तो हिन्दी ही की है। बर्मामें जाइये—वहाँ बंगाली बिहारी, हिन्दुस्तानी, पंजाबी, सिंधी, मारवाड़ी, गुजराती, महाराष्ट्रीय,

उड़िया, नेपाली तथा तमिल, मालयाली और तेलुगु बोलने वाले मिलेंगे। पड़ोसके प्रांत होनेके कारण कभी-कभी कुछ बर्मियोंमें बङ्गलासे परिचय दिखाई देता है ; पर ज्यादातर हिन्दी ही को न केवल भारतीयोंमें बल्कि बर्मियोंमें भी चालू देखियेगा। रंगूनमें एक बर्मी मोटर-ड्राइवरसे मैंने बंगलामें कुछ कहा, जवाबमें वह बोला—'जो 'कला' बात सब 'कला' लोग बोलता है, वही बोलो'', अर्थात् हिन्दीमें बोलो! (बर्मी लोग विदेशियोंको, खास करके भारतीयोंको, 'कला' कहते हैं।) विभिन्न जातिकी जहाज़ कम्पनियोंके जहाज़ोंमें देखिये ; जहां खलासी और मल्लाहोंमें भारतके विभिन्न प्रांतोंके आदमी हैं और साथ-साथ पठान, मलाई, चीनी, अरब, सोमाली इत्यादि एशिया तथा अफ्रिकाके बहुतेरे लोग एकत्र होते हैं, ऐसे संयोगमें यदि भारतीय लोग संख्यामें प्रबल हों तो और सब भाषा छोड़ हिन्दी ही अधिकतर व्यवहृत होगी। प्रवासी भारतीय जहां-जहां ज्यादातर बसे हैं, जैसे ब्रिटिश मलायामें, फिजीमें, मौरिशसमें, पूर्व और दक्षिण अफ्रिकामें, त्रिनिदादमें, ब्रिटिश गायनामें, वहां हिन्दी ही का बोलबाला है ; कहीं-कहीं तमिल-नाडुके अधिक होनेके कारण तमिल भाषा भी कुछ सुनाई देती है, पर इनमें भी हिन्दी बोलनेकी प्रवृत्ति काफी दिखाई देती है। भारतके बाहरके देशोंमें हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, यह सुन कर भारतवासियोंको हर्ष होगा। कुछ प्रांतीय भाषाओंके पत्र निकलते थे और अभी निकलते हैं, पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वहां भारतीय प्रवासी अपनी एकताके विषयमें जाग्रत होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों इनमें हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और हिन्दीका पठन-पाठन बढ़ता जा रहा है। अङ्गरेजी जैसी प्रभावशाली विदेशी भाषाके सामने आत्म-रक्षाके लिये हिन्दी ही से इन्हें मदद मिल रही है। स्वामी भवानीदयालजी संन्यासीने इस दिशामें प्रशंसनीय काम किया है। उन्हींकी प्रेरणासे आज दक्षिण और पूर्वी अफ्रिका तथा फिजी आदिमें हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और शिक्षण-संस्थाएँ चल रही हैं।

× × × ×

× × × एक मूल भाषा थी "हिन्दी" या 'हिन्दवी'' या "भाषा" नामकी, जिसके कई रूप-भेद थे, जिनमें एक मुख्य साहित्यिक रूपका नाम था "व्रजभाषा" या "ग्वालियरी"। ईस्वी १५ वीं शतीसे इसमें दिल्ली-मेरठकी बोलीका मिश्रण होने

लगा, जैसा सन्त कबीरके ग्रन्थोंमें हम देखते हैं। इस मिश्रित बोलीके साथ फिर कुछ पंजाबीका मिसाल हुआ। सिक्ख सम्प्रदायके माननीय गुरुओंके द्वारा रचित पदोंकी भाषा यही है जो कि श्री गुरु-ग्रन्थमें ज्यादातर मिलती है। पंजाबीसे मिश्रित यह हिन्दी बोली दक्षिणमें उत्तर हिन्दुस्तानके पछांह और पजाबसे आये हुए मुसलमानोंमें स्थापित हुई और वहां उनके हाथ इससे साहित्यिक दखनी बनी, जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। केवल ईस्वी १८ वीं शतीमें इस हिन्दी बोलीके समूचे संस्कृत और अधिकसे अधिक हिन्दी शब्दोंको निकालकर उनके स्थान पर अरबी और फ़ारसी शब्द लाकर और उसे अरबी लिपिमें लिखकर एक नई साम्प्रदायिक भाषा बनी, जिसका सत्य परिचय "मुसलमानी-हिन्दी" इस नाम ही से हो सकता है और जो ईस्वी १८ वीं शतीके द्वीतीयार्द्धसे 'उर्दू' कहलायी। मुगल राज्य, और उसके स्थान पर अपनेको क़ायम किये हुए अङ्गरेज सरकारके ज़रिएसे यह उर्दू अदालतोंमें और सरकारी कामोंमें प्रतिष्ठित हो गयी और और दखनीसे प्राप्त हुई साहित्यिक दृष्टिसे उत्पन्न इसका नवीन साहित्य भी बनने लगा। अदालतोंके ज़रिएसे उर्दूकी चाल अस्वाभाविक रूपसे बढ़ गयी। यह अस्वाभाविकता ईस्वी १९ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे घटने लगी; संख्या-बहुल हिन्दू जनसाधारण अपनी संस्कृतिका ज्ञान बढ़ाने लगे और इससे संस्कृतको अपना न्याय्य स्थान कुछ मिल गया। १५० वर्षोंकी चेष्टासे—विशेष करके विगत पचास वर्षोंके प्रयत्नसे राष्ट्रीय भावसे पूरी हुई शुद्ध हिन्दीकी जो अभिव्यञ्जनामयी शैली बन चुकी है, वह हिन्दी संसारकी एक अनमोल सम्पत्ति है। राष्ट्रीय एकेके नामसे मुसलमानोंके कुछ कट्टर लीडरोंको खुश रखनेके कारण अब वह नष्ट हो जानेवाली है। रेडियो, सरकारी विज्ञापन, बहुत सी फिल्में, कांग्रेसके कुछ सदस्योंके भाषण, कहीं-कहीं स्कूल-पाठ्य पुस्तकें तथा "हरिजन-सेवक" जैसी पत्रिकाकी खिचड़ी भाषाकी कृत्रिम अनुवाद-शैली—इन सभोंमें, इस मर्यादापूर्ण भाव-गम्भीर, शक्तिशाली शुद्ध हिन्दीकी भाषा-शैली पर आक्रमण हो रहा है। हिन्दुस्तानीके नामसे हिन्दीका सत्यनाश करो—परन्तु उर्दू ज्यों की त्यों बनी रहे और फलती-फूलती रहे। कोई भी मुसलमान खालिस उर्दूको छोड़ इस हिन्दी-मिश्रित उर्दूमें कुछ लिखता नहीं; और कांग्रेसके प्रति श्रद्धाके कारण हिन्दू लेखक जो कुछ

लिखता है, वह केवल अनुवादके रूपमें एक कृत्रिम शैलीकी भाषामें कुछ लिखनेका Tourdue Force अर्थात् 'करतब' ही मात्र होता है। कांग्रेसके साथ सहानुभूतिके कारण सब कोई इस शैलीको मान लेते हैं, "हिन्दुस्तानी", "हिन्दुस्तानी" पुकारते हैं; पर जिसे हम "कांग्रेसी-हिन्दी" कह सकते हैं, उसके बाहर कहीं भी इसका प्रयोग नहीं दीखता। काशी विश्वविद्यालयने शुद्ध हिन्दी ही को मान लिया है, पर लखनऊमें "हिन्दुस्तानी" के नामसे अलग-अलग हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और तीन लिपियां (देवनागरी, अरबी और रोमन) स्वीकृत हो गयी हैं। × × × ×

× × × × हमारा अन्तःप्रान्तिय काम-काज सब राष्ट्रभाषा हिन्दी ही में हो सकता है: इस निखिल भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दीकी लिपि (जब तक रोमन न हो) केवल देवनागरी ही रहेगी, और पंजाब संयुक्त-प्रदेश, सिंध आदि प्रान्तोंके लोगोंके सुभीतेके लिए यह राष्ट्रभाषा ऐच्छिक रूपसे उर्दू-लिपिमें भी लिखी जा सकेगी। प्रादेशिक शिक्षा, प्रादेशिक काम-काज सब प्रांतिक भाषाओंमें होगा। विदेशी राष्ट्रोंसे भारत सरकारके नामसे पत्रादि विनिमयके लिये आन्तर्जातिक भाषा फ्रान्सिसी या अंग्रेजीके साथ देवनागरीमें लिखी हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही का उपयोग होगा। भारतीय सेना-विभागमें, नौ-विभागमें, अन्तःप्रान्तिक डाक और तार विभागों में, नागरी हिन्दी ही चलेगी। मुसलमानोंके लिये प्रान्त विशेषमें उर्दू-लिपिका इन्तज़ाम भी रहेगा। अब कुछ कालके लिये उच्च शिक्षामें अंग्रेजीको रखे बिना काम नहीं चलेगा। पर सब प्रदेशोंमें उच्च कक्षाओंके छात्रोंके लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी को अवश्य रखना पड़ेगा; और वज़न ठीक रखनेके लिये, हिन्दी प्रान्तके छात्रोंके लिए और किसी प्रधान भारतीय भाषाको छात्रोंकी इच्छा या सुविधाके मुताबिक अनिवार्य रखना ही होगा। × × × ×

× × × इस खंड, छिन्न तथा विक्षिप्त भारतके लिये हिन्दी एक बड़ा महत्वपूर्ण संयोग-सूत्र है। काली घटाके अन्तरालमें, घने अन्धेरेमें मार्ग-दिखानेवाली यह एक बिजलीकी रेखा है। विभिन्नता रहते हुए भी समग्र भारत जड़से एक और अखंड है, भाषा और संस्कृतिके क्षेत्रमें इस सत्यका प्रतीक हिन्दी ही है। "संगच्छध्वं संवदध्वम्"—आधुनिक भारतके जीवनमें इस मंत्रको सार्थक करनेका

साधन हिन्दी ही है। समग्र भूमण्डलकी तीसरी भाषा ; चालीस करोड़ मानवोंकी— विश्वकी मानव-सन्तानके पंचमांशकी—होनहार राष्ट्रभाषा ; ऋषि-ग्रीक और निषाद-द्राविड़-किरात-आर्योंकी मिलित चेष्टाके फल-स्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृति-वाहिनी संस्कृत भाषासे संग्रथित, आधुनिक भारतकी प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा ; जिसके गलेमें अरब और ईरानके शब्द-भंडारोंसे लिये हुए मणि-हार हमने लटकाया है, और जिसकी शक्ति और सौंदर्यको हमने बढ़ाया है ; ऐसी भाषा पर हम क्यों न गर्व करें, और इस अनमोल देनके लिये क्यों न हम ईश्वरकी स्तुति करें ! × × ×

कुछ बंगाली हिन्दी लेखक प्रकट हुए। बंगालियोंके लिये हिन्दी सीखना कुछ नई बात नहीं थी। तुर्क लोगोंके आनेके पहिले ही से हिन्दीकी पूर्व-रूप शौरसेनी अपभ्रंश बंगालमें भी चालू थी, यहांकि प्राचीन बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मी कवि लोग, न केवल अपनी मातृभाषा पुरानी बंगलामें, पर शौरसेनी या पछांही अपभ्रंशमें भी कविता बनाते थे। ईस्वी सोलहवीं तथा सतरहवीं शतीमें हिन्दी साहित्यका विशेष प्रभाव बंगला साहित्य पर पड़ा ; कुछ बंगलाके मुसलमान कवियोंने हिन्दीके कई नामी ग्रन्थोंका बंगला अनुवाद किया, जिनमें कवि आलाओल द्वारा कृत मालिक मुहम्मद जायसीकी "पद्मावत" का अनुवाद लक्षणीय है ; सतरहवीं शतीमें हिन्दी "भक्तमाल" का भी बंगला अनुवाद हो गया। अठारहवीं शतीके सर्वश्रेष्ठ बंगाली कवि भारतचन्द्र राय गुणाकर फारसी, संस्कृत और हिन्दी अच्छी तरहसे जानते थे, और इन्होंने कुछ हिन्दी कविताएँ भी लिखी थीं, जो इनकी रचनाओंके संग्रहमें मिलती हैं। अंगरेज अमलके बाद बंगालियोंमें हिन्दीकी चर्चाकी कमी नहीं हुई। ताराचन्द मित्रने हिन्दी "बेताल पचीसी" का संशोधित संस्करण ईस्वी १८०५ सन् में निकाला था। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हिन्दीके अच्छे विद्वान् थे, नव-स्थापित कलकत्ता विश्व-विद्यालयमें हिन्दीके परीक्षक भी होते थे। "बेताल पचीसी" का बंगला अनुवाद जो इन्होंने किया था, अब बंगला गद्यका एक श्रेष्ठ निदर्शक समझा जाता है। समग्र भारतके राष्ट्रीय जीवनमें हिन्दीके स्थानके विषय पर बंगालके नेता लोग विचार करने लगे थे, आजसे कोई सत्तर सालसे पहिले। १८७५ ई० में श्री केशवचन्द्रसेनने बंगला संवाद-पत्र सुलभ समाचारमें इसकी सूचना दी थी।

एसे हिन्दीको और भी बढ़ाया अहिन्दी प्रान्तके प्रमुख चिन्ता-नेताओंने ; यह हर्षकी बात थी कि ऐसे अन्तर्वेद तथा संयुक्त-प्रदेश, मध्य-भारत और बिहार प्रान्तोंके बाहरके लोगोंने हिन्दीका समादर किया। महर्षि दयानन्द स्वयं गुजरात प्रान्तके थे ; पंजाब तथा उत्तर भारतके हिन्दुओंमें सांस्कृतिक-जागृति और साथ ही साथ हिन्दीकी प्रतिष्ठाके लिये उन्होंने जो कुछ किया था, वह भी आधुनिक युगके भारतके इतिहासका विषयीभूत हो गया है। गुजरातके और एक सुपुत्र भारतके युगनेता तथा युगावतार महात्मा गांधीने अपनी दिव्यदृष्टिसे दक्षिण अफ्रीकामें रहते समयसे हिन्दीके माहात्म्यको उपलब्ध कर लिया था, और भारतीय जीवनमें हिन्दीका योग्य स्थान बनानेके लिये इनका काम सबसे कार्यकर और व्यापक हुआ। यह हमारे लिये खेदकी बात है कि इस वक्त उनकी दृष्टि भाषा-विषयक दूसरे आदर्शों पर पड़ी है ; परन्तु हमारा विश्वास है कि जिस अमर तरुको इतने वर्षों तक उन्होंने अपने ध्यान और कर्मके पानीसे बढ़ाया, वह मरनेका नहीं—राष्ट्रीय भावसे भरी हुई संस्कृतके अक्षय शब्द-भण्डारकी उत्तराधिकारी, इस्लामी तथा आधुनिक संस्कृतियोंके उपयोगी विदेशी शब्दोंसे शक्तिशाली हिन्दी भाषा, भारतके तिरंगे झण्डेके साथ अपना सिर ऊँचा कर रहेगी। (डा० श्री सुनीतिकुमार चटर्जी अखिल भारत हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके ३४ वें अधिवेशनमें सभापतिके पदसे प्रदत्त भाषणसे उद्धृत) करांची १९४३।

अपने गुणोंसे हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी

मैं राष्ट्र-भाषा हिन्दीका विद्वान् नहीं हूँ—मुझे शुद्ध रूपसे हिन्दी बोलना भी नहीं आता। जो हिन्दी मैं बोल लेता हूँ, वह कलकत्तेकी टूटी-फूटी बाजारू हिन्दी है, जिसे बिना हिन्दीका व्याकरण और पुस्तक पढ़े हुए मैंने बचपनमें बिना श्रमसे ही द्वितीय मातृभाषाके रूपमें सीखा था। मैं अपनेको केवल "हिन्दी-प्रेमी" कह सकता हूँ। हिन्दी पर यह प्रेम, व्यवहार और विचार—इन दोनों कारणोंसे मेरे मनमें उत्पन्न हुआ है। रोजाना जीवनमें मैंने देखा कि कलकत्तेमें और कलकत्तेके बाहर भारतके प्रायः सब ही प्रान्तोंमें बगैर हिन्दीके काम नहीं चलता, यदि अंग्रेजी या बंगला जो नहीं जानता है, ऐसे आदमीके साथ बर्ताव करनेकी आवश्यकता हो।

व्यावहारिक जीवनमें जो भाषा जितनी महत्वपूर्ण है, उसपर आकृष्ट होना उसके सम्बन्ध उच्च भाव पोषण करना, उसे अपनानेकी कोशिश करना, उसे सचमुच एकमात्र आन्तर्प्रादेशिक भाषा समझकर निखिल भारतकी एकताका निशान या प्रतीक समझ कर, आखिर उससे प्रेम और उस पर अभिमान लाना स्वाभाविक होता है। फिर, हिन्दी साहित्यके गौरव, वैचित्र्य तथा सांस्कृतिक महत्त्वका विचार करनेसे, और भारतीय भाषाओंमें हिन्दीके स्थान, भारतकी आर्य भाषाके आन्तर्प्रादेशिक रूपोंके सिलसिलेमें हिन्दी कैसे आई, इन सब साहित्यिक, ऐतिहासिक और भाषा-तात्त्विक विचार और शोधसे, यह प्रेम और अभिमान गहरेसे-गहरा होता जाता है। ऐतिहासिक कारणोंसे और अपने विशिष्ट गुणोंसे हिन्दीने भारतकी राष्ट्रभाषाकी पदवीको प्राप्त किया है। उत्तरी भारतके लिये हिन्दीकी सार्वजनीनताके बारेमें कुछ सन्देह नहीं है। दक्षिणी भारत स्मरणातीत कालसे उत्तरी भारतका अनुगामी है, अतः किसी न किसी उत्तरी भाषाको मान लेना दक्षिणके लिये स्वाभाविक होगा। आधुनिक उत्तरी भाषाओंमें केवल हिन्दी ही को दक्षिणके लोगोंने मान लिया है, अतएव हिन्दी न केवल उत्तर-भारतकी आन्तःप्रादेशिक भाषा बनी है, पर यह दक्षिणके लिये भी आन्तःप्रादेशिक बननेके योग्य है और बन रही है।

आर्य-भाषा --

भारतके विभिन्न प्रदेशोंके लोगोंमें पार्थक्य बहुत है—भाषा, रहन-सहन, बाह्य-स्वरूप, आभ्यन्तर चिन्ता प्रणाली इत्यादि जीवनकी प्रकाशक सब बातोंमें, यह हम मानते हैं। भौगोलिक तथा ऐतिहासिक वातावरण, आर्य और अनार्य जातिके लोगोंकी बहुलता अथवा अल्पता, विदेशी जाति और संस्कृतिसे अधिक अथवा अल्प मिश्रण—इन पार्थक्योंके कारण हैं। पर, सब प्रकारके पार्थक्योंके अन्तरालमें एक बड़ा भारी ऐक्य विद्यमान है, जो कि भाषा, जाति और धर्मको अतिक्रम कर, नेपालसे कन्या-कुमारी तक और पेशावरसे डिब्रूगढ़ तक समग्र भारतीय जनतामें एक अभिन्न योग-सूत्र स्वरूप है। पहले हो से भारत की आर्य भाषा इस भारत-धर्मका माध्यम या प्रकाश-भूमि बनी। वैदिक, लौकिक, संस्कृति, पाली और अन्य प्रकारकी प्राकृत, अपभ्रंश, उनके बाद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ—बंगला और असमिया, मैथिली, हिन्दी

अर्थात् मध्यदेशकी बोलियां—जैसे अवधी, ब्रजभाषा इत्यादि, पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया—भारत-धर्मका वाहन होकर सदी-ब-सदी भारत-क्षेत्रमें प्रकट हुई हैं। दक्षिणकी कुछ द्राविड़ भाषाएँ भी, जैसे तामिल, मलयालम, कानाडी, तेलुगु, इस काम में उत्तर-भारतकी संस्कृति और आधुनिक भाषाओंसे शरीक हुई। उत्तर-भारतके जिस भू-खण्डमें भारत-धर्म सबसे पहले मूर्त और पुष्ट हुआ था, आर्यावर्तके हृदय और केन्द्र स्वरूप वह भू-खण्ड जो कि प्राचीन कालमें ब्रह्मावर्त, मध्य देश, ब्रह्मर्षि देश और अन्तर्वेद कहलाता था, उसीकी शिष्ट भाषा अब हिन्दीके रूपमें दिखाई देती है। यहांकी भाषा केन्द्रीय भाषा होनेके कारण महर्षि पाणिनिके समयके पूर्वसे, निखिल भारतके लिये शिष्ट-भाषा बनी थी। इस धारणाके वश श्रीदयानन्दजीने हिन्दीको संस्कृतिका नवीन प्रतिभूके रूपमें मान लिया था और हिन्दीका नाम दिया था—"आर्य-भाषा"। उत्तर भारतके राजपूत-साम्राज्यके समयसे मध्यदेशका राजनैतिक प्रभाव समग्र आर्यावर्त या उत्तर-भारत पर पड़ा, इससे यहांकी भाषा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश, जिन्हें हम वर्तमान हिन्दीके प्राचीन रूप कह सकते हैं, उन शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंशकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी। इसके पीछे दिल्लीकी मुसलमान सल्तनतकी शक्तिने ब्रह्मावर्त अर्थात् पूर्व पंजाबके और मध्यदेश अर्थात् पछाँहकी भाषा 'हिन्दवी', 'हिन्दी' और 'हिन्दोस्तानी' या (हिन्दुस्तानी) को नयी तौरसे तमाम भारतवर्षमें फैलानेमें सहायता की। भारतकी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकताकी बुनियादको सुदृढ़ करनेमें ब्रह्मावर्त और मध्यदेशकी भाषाने जितना काम किया, उतना और किसी प्रान्तकी भाषाने नहीं किया। बंगला, असामिया, उड़िया, मराठी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, पार्वतीया,—यह सब बहनें हैं, तामिल, मालयाली, कनाड़ी, तेलुगु, ये भी संस्कृतकी पालित पुत्रियां होनेके कारण आर्य-भाषाओंकी बहनें बनी हैं। इनमेंसे किसी एकको औरोंसे छोटी या बड़ी नहीं समझना चाहिये, उद्भव से और अपनी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित शक्तिसे, यह सब बराबरी रखती हैं, यह सब समान हैं—ऐसा मानना ठीक होगा। परन्तु, क्योंकि हिन्दीको सबसे अधिक लोग समझ लेते हैं और चाहे इसके टूटे-फूटे बाजारू रूपोंमें, चाहे पछाँहके मुहावरेके मुताबिक इसके शुद्ध हिन्दी रूपमें, या इसके मुसलमानी रूप उर्दूमें, क्योंकि सबसे

अधिक संख्यक लोग इसे बोल सकते हैं और क्यों कि उत्तर-भारतके विभिन्न प्रांतों की भाषा और साहित्यकी धाराएं नदियोंकी तरह कई सदियोंसे हिन्दीके सागरमें समाती हैं, इसलिये हिन्दीका आधुनिक भारतकी भाषाओंमें 'समानोंमें प्रथम' और 'आधुनिक भारतकी प्रमुख बोली' मानना पड़ेगा। ऐसी बोली भारतके विभिन्न प्रान्तोंके जनगणको एकता-सूत्रमें गूंथनेके लिये सबसे काम वाली हो सकती है। हमारा आदर्श तो यही है कि अखण्ड भारतवर्षमें एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक बोली हो ; सबकी मातृभाषा या घरकी बोली एक हो बोली न हो सके, इसका खेद नहीं, यदि सबकी मिलने-जुलनेकी बोली एक हो जाय। यह समभाषित्व, समराष्ट्रीयत्वका सबसे बड़ा निशान या निदर्शन और सबसे शक्तिशाली बन्धन है। इसका प्रोत्साहन या वृद्धि भारतकी भावी महाजातिके संगठनमें एक मुख्य काम है।

(विश्वमित्र १ अगस्त १९४७)

श्री ललिता प्रसाद सुकुल—

[श्री प्रो० ललिता प्रसाद सुकुलके लेखोंके द्वारा हिन्दी सम्बन्धी प्रायः सभी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दीके पक्ष तथा विपक्षके प्रायः सभी मत इसमें प्राप्त होंगे। हिन्दी राष्ट्रभाषाकी अधिकारिणी क्यों है इसका भी विवेचन किया गया है। डा० ताराचन्दके विरोधका तार्किक उत्तर 'भाषाके डिक्टेटर' किया गया है। भाषा और बोलीका अन्तर 'हिन्दी ही क्यों' शीर्षक लेखमें स्पष्ट प्रकट हो जाता है। 'यह बदनाम हिन्दुस्तानी' नामक लेखके द्वारा हिन्दीके पर्यायवाची 'हिन्दुस्तानी' के रहस्यका उद्घाटन किया गया है। अहिन्दी भाषीजनोंको 'The place of Hindi in our Nation building' के द्वारा हिन्दी साहित्य सम्बन्धी शंकाओंका उत्तर मिल जायगा।]

The place of Hindi in our Nation Building.

THEY say in this age power rests upon organisation. This is what we actually see in the east as well as in the west that the organisation of the various resources of a country into a solid nation is indeed the real acquirement of great power.

But does it happen like a freak of nature or it needs and presupposes certain preparations to effect this huge task? This really depends upon the various needs and capacities of the various people. And it is just possible that all the ways of organising the one nation may not be the same as that of the other; yet inspite of all dissimilarities there does exist a common need which is felt every where in matters of such organisations. One of such imperative needs is the need of a national language. To-day if organized power is the end of a nation, its language is the requisite means to attain it. Because it has its main stay at the widest spread of education which—be it of any kind—always needs a language for it. So also without mutual inter-change of ideas which again needs a common language, no organisation is possible. Leaving apart the question of literature and culture as Dr. Tagore said the other day "we do need one common language to carry on inter-provincial trade and country-wide political propaganda." Surely no sane person can afford to doubt it. But sometimes people do not seem to be quite definite as to which should be the common language for our country. In this respect the builders of our Indian nation and a very

large majority of its people have already made up their minds, and their decision is in no way partial: nor is it based on any inequitable and unjust claims of a language which is not fully equipped to its task. As a matter of fact only that language can claim this rare honour, which is spoken by the very large majority of its people, which is potent enough to convey even the highest thoughts to the farthest masses with their due dignity and which is so simple as may be learnt by the people without much difficulty.

There was a time when practically all the important vernaculars of India had stepped into the arena of competition to be recognized as the national language for India. When one claimed this honour on its merit of being very vigorous the other had to put forth its claims on being exceptionally soft and musical. The third claimed to have produced the greatest man of the world; and the fourth boasted of having the most powerful political agitator. And besides they had all their notions of untraced antiquity. But gradually the times changed and the truth came to light. In matters of antiquity and general utility all had to acknowledge the superior claims of their elder sister Hindi.

Even to-day sometimes we hear the voice that disclaims the rights of Hindi; it is the language of the Hindus, and as such unacceptable to the Mahomedans, who on their part are looking to the day when they shall see 'Urdu' recognized as the national language. One cannot really

help feeling pain and surprise at it. Those who propose this, they do not seem to think for a moment that if Hindi is the language of the Hindus, whom does this language 'Urdu' belong to? Although it is not possible for me to trace here the history of such a language as Urdu, yet I feel it necessary to discuss some of the very important aspects of it. Truly speaking the difference of one language from the other does not merely consist in its difference of vocabulary: rather it depends more on the difference of their grammatical structure. If we study Urdu from this point of view it does not take us long to see that it is in no way closer to Arabic or Persian except in matters of vocabulary. Its grammatical structure was moulded absolutely into the caste of Hindi Khariboli from its very inception. Sometimes we see people making some vain attempts of remoulding it into the uncommon ways of Persian. But such attempts make the language merely unnatural and clumsy. Urdu reached its highest pitch at the hands of Irsha, Dagh, Meer and Ghalib. Their style, though it had a copious flow of Arabic and Persian expressions and words in it, yet it enjoyed a peculiar naturalness and homely charm. Because in their writings they were bringing it nearer to the language of the people which was in its own turn being enormously enriched by adopting new words and phrases of deeper meanings. Their language differed from Hindi in no other way except in vocabullary and we can very well call it the Hindi as used by the Mahomedans and in fact it was nothing else but Hindi. On account of political bitterness, we have lost the

balance of our viewpoint, but the task of making a nation and organising it is much too vast and wide to allow a narrow and prejudicial perspective. Even the present occasion compels us to think over these matters with a clearer and more generous point of view.

The languages of the different parts of our country have always differed from one another : but every page of our history will bear it out that with all their differences, the language of the 'Brahmawart' which has ever been the centre of Aryan culture and civilisation, had always been the most effective and of the widest influence. In the age of Prakrit and Apabhramsha if 'Shaur seni' had its day, during the Mughal rule again—Persian the language of the rulers had its spring time to flourish in this part, and then to get itself transformed into Khariboli Hindi—the speech of this very area. Even to-day Hindi the language of this part of the country is the most popular and effective.

A thousand years hence Hindi took its first shape in that part of our country, which has ever been proud of being the nursery of the Aryan culture at its highest pitch : and where the Aryan flowed aloft their banners of immortal glory. Once if it instilled the feeling of pious devotion through the pen of Sur, Tulsi and Mira, of course it did not fail in the efforts of Chand, Jagnik, Bhushan and Lall to wake up the fast sleeping nation. If there was Khusaru to tickle us from time to time we also find Kabir, Malook and Dadu to show us the light of learning and knowledge : and Rahim, Girdhar and Tosh to fill our lives with new

and invaluable experiences. At one moment we are amused at the simple folk sagacity of 'Ghagh' and 'Bhaddari,' then at another we rise to the feeling of admiration to look at the marvollous love paintings of Deva, Bihari and Raskhan. So much of variety painted with such a skill in one language does indeed speak of its wonderful possibilities and potentialities. That language which can display so much of vigour, so much of tender softness and so much of sobriety in it : that which is capable of expressing an ordinary every-day thought as well as a grave sentiment with its equal dexterity is indeed a language to be reckoned as most effective and powerful for all times.

To consider the national recognition as a mere emblem of honour will be a mistake. Because such a recognition always presupposes the capacity of a great service. As has been said above Hindi is the language of that vast multitude of people which has spread itself from the Punjab to Bihar and up to Mahakoshal, Malwa, Central Provinces and Central India in the South. Even in the other provinces, where different languages are spoken people of these parts have gone there to settle in large numbers. Thus automatically Hindi has found its entrance there. It is also a remarkable fact that people of non-Hindi-speaking provinces adopt Hindi much more easily than any other language. Probably because Hindi being the language of the Brahmawart is the nearest to the Sanskrit ; and hence automatically it comes very much nearer to the various vernaculars of India inasmuch as they bear a very close

affinity to Sanskrit. Moreover Hindi is gifted with an innate adaptability with which it assimilates in it any other dialect or speech without much difficulty. This tendency of Hindi has ever added to its inherent richness. Even from the ancient times it has kept its policy quite liberal in matters of give-and-take. Not only that it has inherited the rich vocabulary of Sanskrit but also it has not failed to accept foreign words and phrases most freely and copiously. Any phrase or any idiom of any homogeneous language if it was worth taking was freely adopted by Hindi as its own and for all times. It is probably for this reason that even a person from the non-Hindi-speaking area does not feel much difficulty in understanding Hindi or for the matter of that in expressing himself in Hindi in which he invariably finds a number of words and pharases of his own language present. The greatest proof of the exceptional popularity of Hindi we find in the South where people speak non-Indo-Aryan languages. Those of us, who are familiar with the spread of Hindi movement in the South, they know that within nearly ten years fifteen lacs of Madrasees have learnt Hindi ; and they are most anxious to recognize Hindi as the national language of India.

To-day the population of those who understand Hindi is 75·8 per cent. and of those who actually speak it is 68·6 per cent. Apart from the question of a very high percentage of the speakers of a language the other test of its greatness is the quality of its literature. From this point of view I shall make an effort to show that Hindi

literature, from its very inception has been awaiting the formation of our great nation : and in its own way it has been strengthening the various section of our nation to fulfill its strong organization. Although we do not aim at repeating the entire history of Hindi literature, yet to suppress some of the most relevant and significant contributions of Hindi towards it will be an unpardonable omission. Those early efforts we might call the first steps towards that great movement.

Those of us who have studiod the various Rasos of Hindi literature they will bear the testimony as to how much they are full of the vigorous appeal to unite against the foreign invaders. At places they are chequered with the most touching appeals of love and devotion for their motherland and their hige sense of patriotism seems to be touching the highest water mark. Innumerable references of true bravery, marvellous self-abnigation and noble wrath are to be found in them. Perhaps no scholar dare say that there was no scope for love of motherland nor for the love of nation in the Hindi literature : nor would he be able to say that the patriotic note in Hindi literature is merely a novelty of the modern age. To express such a view is to expose one's own ignorance. Not only in the early Raso literature alone but also as late as in the seventeenth century Hindi produced poets, who even in that dark age had the potentiality and the courage to sing songs of freedom and national organization to wake up an almost dead nation to an extraordinary heroism. It is indeed

needless to measure the great share of Lal and Bhushan in the immortal glories of Maharaj Chatra Sal and Shivaji. Their efforts we might call the second step towards national organiztion.

Leaving aside this aspect now if we scrutinize the mental organisation of our nation we cannot measure the invaluable services rendered in this direction by Kabir, Tulsi, Sur, Nanak, Raidas Sahjo, Vidyapati, Brinda, Giridhar, Dadu and Swami Dayanand In that age of religious distress when practically the whole nation was plunged into the terror and anxiety of the very survial, who else than these saints could restore peace and confidence in these innumerable vexed minds? could there be any other force to hold up so many millions together to this age by teaching them to practise self-restraint and creating a harmonized reconciliation of joy and suffering? Even to-day Ram Charitra Manas—the pitch of high perfection in literature—shows the path of peace and righteousness to the uncountable afflicted souls: and the Bijak of Kabir is showing the seed of love, truth and devotion into the hearts of a vast nation: and the 'Ashtchap school' is having its permanent imprint on the nation by flowing the genial current of pure and celestial love in this vast land. Has any other nation ever the good fortune of being inspired by any more potent and pious forces of self-restraint, love, and devotion than these? It is possible to hear of a higher literary standard of some other country. But it shall have to be remembered that

in those places the makers of the literature were merely the literary people and they were of indubitable learning and literary insight. But India was exceptionally destined to have its literature created by those who were of course great masters of literary attainments ; but over and above that they were much greater sages and scholars of unquestionable celebrity. Every bit of the golden age of the Hindi literature is studded with such jewels as were brought out from the purest corner of the human hearts which were ever gifted with the celestial beauty, noble sentiment and divine tenderness. This is why the effect of this literature is so perpetual and far reaching. It being of such an antiquity even to-day it is as new as ever, because they say truth never grows old.

As a matter of fact every literature grows with its own ideals. But under all such differences there is always present an internal harmony which we call the touchstone of the world literature, because that enables us to touch all great literature on it. Suffice it to say that it is mainly based on such common learning of human heart as is universal in nature irrespectively of an individual, a country or a people. But it is firmly connected with the humanity at large. If we put our literature to such an acid test it will justly evince an appeal much too wider to be limited to the Indian heart alone. It is tender enough to touch the heart of the universe. I shall not have to go far to prove this claim. I shall only mention the name of that small book which the world generally knows by the

name of 'Hundred Poems of Kabir.' It will not be out of place here to mention that in this small book Poet Tagore has not been able to collect 'the all' of Kabir : nor even 'the best of his thoughts ;' yet the rare honour that has been bestowed on it by the Americans and the Europeans alike is enough to prove the truth of the above claim. The main causes of the extraordinary appeal chested up in Hindi literature have already been mentioned above and I need not repeat them.

But we are always confronted with the problem how the whole nation can take an equal advantage of this most precious heritage of its literature. The other day a great supporter of our national language had said that 'though we do need a common language for our national organization, yet we should not cease to create literature through our different provincial vernaculars.' In supporting his argument he had cited the case of Europe where the writers are said to have produced no high class literature as long as they tried to utilise the medium of Latin. But as soon as they replaced Latin by their own local vernaculars the level of their productions went up very high. This may be true of European literature, where the various languages did not bear the same affinities to Latin as do our present Indian vernaculars to Hindi. The cases being essentially different the above principle will not be applicable in our country. The other great difficulty would be that the genious of our people would in that case flourish in their local provincial languages, and shall not be

shared by the nation at large. Mere dependence upon translations will at the very outest take away all chances of first-hand meeting: and thereby the very force of a national language practically comes to nothing. This cannot be considered very desirable.

Some are of opinion that the Grammar of Hindi should be further simplified and systematised. But I cannot agree with them to a great extent. On the other hand I feel no living and current language can be successfully bound down by the rigid rules of Grammar. Of course I do not mean by this to remove all grammar from Hindi language. All what I mean is to have the grammatical rules so elastic as to allow sufficient scope for the natural growth of our language: so that it may also advance along with our thought and culture. Elasticity is the one virtue of the grammar of a living language; we would do well to revise Hindi grammar from this point of view, and be bold enough to weed out all such rules from it as are likely to hamper its progress and growth.

The second important question that arrests our immediate attention is that of the script. In the spread of education this problem is as important as that of a common language. Just as a nation needs one common language so does it also need a common script. It is some consolation indeed that our thinkers have taken up this problem in right earnest. But sometimes we come across some wiseacres who try to follow a very preverse course Citing the instance of Turkey and posing the high sense of inter-

nationalism they try to substantiate the claims of the Roman script to be adopted as the national script for India. It were such people in the past who had vainly seen the dreams of making English the common language for India. If Turkey has adopted the Roman script probably because they had no option : as is well known Turkey had no script of its own. They changed their Arabic script with the Roman, because the latter was found unquestionably the more scientific and useful than the former. But India fortunately does not stand in any such need. Devanagri, the time honoured script of India, is by far the richest in sound and in its innate scientific nature.

In its consistent simplicity and unmistakable character it is undoubtedly superior and incomparable to the Roman or for the matter of it with any other script of the modern languages. One of the greatest merits of the Roman script is considered to be the smaller number of its alphabets. But if the supporters of Roman look at this question a bit more dispassionately, they would come to the conclusion that Devanagri has practically the same number of alphabates as the Roman only if we separate the 'Sanjuktaksharas' (संयुक्ताक्षर) from it. The joint sounds being the essential feature of the Indian languages, they shall have to be provided for by any script adopted for the purpose. This leaves no superiority of lesser number of alphabets in the Roman either. Now comes the question of printing in which the Roman is supposed to provide greater facilities. But through the efforts of Mr. Govil, who has at last

invented an efficient Devanagri Linotype—our script has not failed to show its great possibilities and brilliant promise. As compared with the past strenuous efforts of the Roman printing our efforts are very recent. With this rate of progress we can safely hope to see the day when even for printing Devanagri alphabets may prove more suitable. To reject the script merely on the ground that it is not prevalent in the western countries, does not seem to be a sound logic, because we have to look to the facilities of our own people first. How many of us are destined to visit Europe oa to come in direct contact with the western people ? Surely the number of such people will always be much too insignificant to justify the adoption of the Roman script even at the cost of plunging such a vast nation into the very probable uncertainty of ever-receiving the light of knowledge. Then again arises a pertinent question whether mere adoption of the western script will make all of us fit to master all the multifarious languages of the European countries ? Such a supercilious preponderance of script over any language passes of a sane imagination.

The other remarkable merit of Devanagri script is that like Hindi language this also bears a very close affinity to the other scripts of India, In all of them practically there is no difference of sound. The main difference lies in the forms and shapes of the letters. But the broader similarities of these with the Devanagri, always make it easier to pick up. Thus we see that even the credit of preserving the

ancient Aryan letters also fell to the sweet lot of Hindi. This was another valuable service of the Nation and we shall indeed welome the day when the whole nation will readily accept this old richly gifted Devanagri script for their common use; and make a clear advance in the progress of self-organization the dreams of which Hindi had seen a thousand years ago.

In such a short space I have tried te give a mere glimpse of the significant instances of national service done by Hindi since the time immemorial. It has more than proved its immense utility in respect of linguistic qualities—high literary standard and scientific script : and it was only to meet that the nation should have adopted it as its common medium of expression. With its modern progressive tendencies it has fully established that even in the future it shall not fail nor falter to keep pace with the tremendous advancement of national culture and its enormous contributions to the literature of the world. (This address was delivered in Hindi at the annual function of Himachal Hindi Bhawan at Darjeeling on June 8. 1934.)

हिन्दी ही क्यों ?

उत्साह और उन्मादमें उतना ही भेद है, जितना तर्क और कठमुल्लेपनमें। पहला जितना हितकर होता है, दूसरा उतना ही हानिकर। लेकिन मनुष्यकी इन दोनों प्रवृत्तियोंके प्रमाण सदासे ही मिलते रहे हैं। शान्ति और निर्माणके सात्विक क्षणोंमें तर्क और उत्साह प्रबल रहते हैं; किन्तु अशान्ति और घोर विनाशके समयमें यदि उन्माद या कठमुल्लापन ही जोर पकड़ता दीख पड़े, तो क्या

आश्चर्य है? हिन्दी-भाषा और उसकी बोलियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला आजका यह बेसिर-पैरका आन्दोलन इसका एक खासा नमूना है। प्रारम्भ तो इसका शायद किसी बैठे-ठालेके मनबहलावसे ही हुआ था; लेकिन 'वृष्णियोंके मेलेमें झाड़ूवाले परिहास'की तरह इसने तो विनाशकी उग्र लपटें ही पैदा कर दी हैं। बड़े-बड़े आचार्यों और महारथियोंको भी इस खिलवाड़का विषाक्त धुआँ दृष्टिहीन सा किये डाल रहा है। सारी बहस कुछ इस उतावलेपनसे की जा रही है कि विवेक-बुद्धिका उसमें कहीं पता ही नहीं चलता। इस असामयिक और अकारण विप्लवके कर्ण-धारोंमें ऐसे मनीषी विद्वानोंकी भी कमी नहीं दीख पड़ती, जिन्हें 'भाषा' और 'बोली' में क्या अन्तर है तथा इनका क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, इसका भी ज्ञान नहीं। आए दिन ऐसे लेख पढ़नेको मिलते हैं, जिनमें यही पता नहीं चलता कि लेखक किसे और कब भाषा कह बैठते हैं और किसे बोली? उनके लिये 'भाषा', 'बोली' और 'जुबान' उनकी आवश्यकताके अनुसार अर्थ दिया करती हैं।

इस साधारण-से प्रश्नको लेकर भाषा-विज्ञानके तत्त्वोंकी लम्बी-चौड़ी विवेचना करनेका इस लेखमें न तो स्थान है और न आवश्यकता ही। सिद्धान्त-रूपसे इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'भाषा' अधिक व्यापक संज्ञा है, जिससे समान रूपवाली विविध बोलियोंके समूहका ज्ञान होता है—यानी प्रत्येक 'भाषा' का संगठन समान रूपवाली बोलियों तथा उपबोलियोंको लेकर ही होता है। समान-रूपताके प्रधानतः तीन आधार होते हैं—शब्द भण्डार, शब्द-ग्रन्थन तथा शब्दोच्चारण। जिन बोलियोंमें इन तीनों अंगोंकी उचित समानता दीख पड़ती है, वे एक समूहके रूपमें संगठित हो जाती हैं। इसी समूहको भाषाकी संज्ञा दी जाती है। परन्तु 'भाषा'की परिधिमें प्रविष्ट होनेसे बोलियोंकी निजी विशेषतायें लुप्त नहीं हो जातीं और न उनका महत्व ही घट जाता है। पारस्परिक निकटता तथा अनेक अन्य प्रभावोंके कारण उनमें निरन्तर परिवर्त्तन भी होते ही रहते हैं, जिसे क्रमागत विकाश कहा जाता है। यही नैसर्गिक नियम है; अन्यथा 'प्राकृत' या 'अपभ्रंश'का ही युग चला करता और आधुनिक बोलियों तथा भाषाओंका तो जन्म भी शायद न होता। यही भाषा-विज्ञानका मूल तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। अब इसके अनुसार किस 'बड़े

अंगरेज की राय' का खण्डन होता है या किस 'महापण्डित' या 'भाषाविज्ञानाचार्य' के मतका भण्डाफोड़ होता है, इसके संकोचके लिये गुंजाइश नहीं।

उपर्युक्त कसौटी पर कसते ही देखनेमें देर न लगेगी कि राजस्थानी, बुन्देली, बघेली या उर्दू आदि (उसके छद्मवेशमें अरबी या फ़ारसी नहीं) हिन्दी-भाषाकी परिधिमें आ जाती हैं या नहीं ? इन विविध बोलियोंकी साधारण-सी जाँचसे पता चल जायगा कि सबका शब्द-भंडार या शब्द-ग्रन्थन प्रायः एक-सा ही है। दस-पाँच लौकिक या देशज संज्ञाओं या इनी-गिनी क्रियाओंको छोड़कर संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रियाका सारा कोष एक ही है। विशेषण या क्रिया-विशेषणोंकी भी यही दशा है। कारक-चिह्नों तथा प्रयोगोंमें पूर्वी और पश्चिमी बोलियोंमें अन्तर अधिक स्पष्ट है ; किन्तु समानता भी कम नहीं, क्योंकि इस भेदका आधार कोई नितान्त विदेशी प्रभाव तो है नहीं। इसका प्रधान कारण है विकास-क्रमका अन्तर ही। युगोंकी पारस्परिक घनिष्ठताने इनमें एक स्वाभाविक सामंजस्य भी स्थापित कर दिया है, जिससे हिन्दी-भाषाके विस्तृत क्षेत्रके निवासी अपनी-अपनी बोलियाँ बोलते हुए भी एक ही भाषा-कुटुम्बके अंग बने चले आ रहे हैं। तुलनात्मक रूपसे उपर्युक्त तीनों आधारोंमें उच्चारण-भेद ही सबसे अधिक स्पष्ट है। इसका कारण प्रधानतः व्यक्तिगत योग्यताओं पर निर्भर करता है। लेकिन केवल इतनेसे ही 'भाषा' और 'बोलीका' का सम्बन्ध तो विच्छिन्न नहीं हो सकता। यह बात इतनी स्पष्ट है कि अनेक उदाहरणोंकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती ; किन्तु फिर भी एक उदाहरण हम यहाँ देते हैं। एक क्रियाशील राष्ट्र-सेवी सज्जनने, जो राजपूतानेके निवासी तथा अपनी बोलीके परम पंडित, प्रबल समर्थक एवं प्रेमी हैं अपना लेख अपनी बोलीमें ही लिखना पसन्द किया है। उस महत्त्वपूर्ण लेखका आरम्भ इस प्रकार होता है—"आ बात तो दूसरा जगा दियोड़ा आंकड़ों सूं समझमें आय सके है के राजस्थानी बोली बोलवावाला गुजराती वगेरेसूं बहोत ज्यादा तादादमें है। फेर कांइ सबब है के मारवाड़ीमें अखबार नहीं, किताबां नहीं और पोशालोंकी पढ़ाई भी धीरे-धीरे खतम होती दीखे है। जवाब है एक और वो ओ के मारवाड़ी कौमने अपने प्रणोंको प्रेम नहीं।" (रा० सा० स० बुलेटिन नं० ३, पृ० १०)

हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रके किसी भी कोनेका अपढ़ व्यक्ति राजस्थानीकी उपर्युक्त उद्धरणको समझनेमें भूल न कर सकेगा। अब यदि यही अंश 'साहित्यिक हिन्दी' में लिख दिया जाय, तो उसका रूप होगा—"यह बात तो दूसरी जगह दिये आँकड़ों से समझमें आ सकती है कि राजस्थानी बोलने वाले गुजराती वगैरासे बहुत ज्यादा तादादमें हैं। फिर क्या सबब है कि मारवाड़ीमें अखबार नहीं, किताबें नहीं और पाठशालाओं (पौशालों) की पढ़ाई भी धीरे-धीरे खत्म होती दीखती है। जवाब है एक—और वह है यह कि मारवाड़ी क़ौममें अपनेपनका प्रेम नहीं।" दोनों उद्धरणोंको देख कर समझनेमें देर न लगेगी कि हिन्दीका साहित्यिक रूप तथाकथित राजस्थानी 'भाषा' (?) का ही परिमार्जित रूप है। या यह कहना भी उतना ही सही होगा कि राजस्थानी वाला 'साहित्यिक हिन्दी' का 'प्राकृत' रूप है। विचार करने पर यही पारस्परिक सम्बन्ध हिन्दीके साहित्यक रूपका उसकी किसी भी अन्य बोलीके साथ दीख पड़ेगा। इतने पर भी ऐसे बुद्धि-विचक्षण देखे जाते हैं, जिन्हें पूछनेमें संकोच नहीं होता कि 'तब तो हिन्दीमें सब बोलियाँ ही बोलियाँ हैं, फिर हिन्दी भाषा क्या है ?' उनके लिये उत्तर यही है कि शरीरमें नाक, कान, हाथ, पाँव इत्यादि सब अंग और अवयव ही तो हैं; फिर मनुष्य कहाँ और क्या चीज़ है ?

अभी हाल ही में 'देशदूत' के होलिकांकमें पं० अमरनाथ झा ने हिन्दीकी तीन समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न किया है। लेकिन सुलझानेके इस प्रयत्नमें और कई काल्पनिक समस्याएँ सामने आ गई हैं। भूलना न होगा कि यह लेख हिन्दीके एक प्रेमी, उसके परम सेवक तथा अन्यतम बल-स्तम्भका है। वे कहते हैं—"हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, उन्हें विशेष सतर्क रहना चाहिये कि कहीं उनके दुराग्रह और हठसे राष्ट्रभाषा हिन्दीको क्षति न हो और राष्ट्रभाषाके प्रति अन्य जनपद-वासियोंमें उदासीनताका भाव न आ जाये। हिन्दीका हित इसमें ही है कि इसके प्रचारमें सबका सहयोग प्राप्त हो। यदि किसी जनपद-निवासीके मनमें यह धारणा उत्पन्न हो गई कि उसकी मातृभाषाकी अवहेलना हो रही है अथवा उसकी उन्नति और विकासमें बाधा डाली जा रही है, तो इससे राष्ट्रभाषाकी ही क्षति होगी, क्योंकि कोई भी अपनी मातृभाषाका निरादर नहीं होने देगा। और फिर भी ऐसी मातृभाषा

जिसमें सैकड़ों वर्षोंसे साहित्य वर्त्तमान है, जिसके बोलने और लिखनेवालों (?) की संख्या करोड़से भी अधिक है और जिसकी लिपि भी भिन्न है। सच तो यह है कि हिन्दी-भाषियोंको प्रसन्न होना चाहिये कि अन्य जनपदीय भाषा-भाषी भी हिन्दीको राष्ट्रभाषाके उच्च पद पर सुशोभित करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।"

कहना न होगा कि उपर्युक्त अंशमें संकेतोंसे जरूरतसे ज्यादा काम लिया गया है। चेतावनी भी अनावश्यक रूपसे कड़ी दी गई है। 'भाषा' शब्दका प्रयोग यहाँ भी कुछ भ्रमात्मक ही है—कदाचित् 'बोली' के अर्थमें ही उसका प्रयोग हुआ है। खैर, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो इससे दो प्रश्न स्पष्ट उठ खड़े होते हैं—[१] हिन्दी (उसके साहित्यिक रूप) का विकास या परोक्ष रूपसे अन्य बोलियोंके विकासमें किसी तरह घातक सिद्ध हो रहा है ? [२] हिन्दी-भाषाका राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन होना उसकी योग्यता और उपयोगिताका फल है या उसके प्रति पक्षपात या दयाका ? बात यदि यहीं तक सीमित रहती, तब भी बुरा न होता; किन्तु मातृभाषाओंके 'अपमान', 'बाधा' और 'निरादर' की निर्मूल आशंकाका बारम्बार संकेत हिन्दी पर अनुचित एवं अप्रासंगिक आक्षेप है। यह समझमें न आया कि 'विकास-बाधा' की उनकी आशंका किसी बोली-विशेषके विकासके सम्बन्धमें है, या बोलीके साहित्यके विकासके सम्बन्धमें, या दोनोंके ? यदि उनका अभिप्राय बोलीके विकाससे है, तो यहाँ यह प्रश्न अनुचित न होगा कि ऐसी किस कार्य प्रणालीकी ओर वे उँगली उठा सकते हैं, जिससे किसी भी बोलीके—चाहे वह हिन्दी-भाषाके क्षेत्रकी हो, चाहे बाहरकी—विकासको साहित्यिक हिन्दीके प्रचार-प्रसारसे बाधा पहुँची हो ?

किसी बोली-विशेषमें—जिसकी ओर उनका संकेत है—आधुनिक साहित्य-रचना न होनेके कारण यदि वे आशंकित हो उठे हैं कि धीरे-धीरे कहीं वह बोली लुप्त न हो जाय, या इसी परिस्थितिको उस बोली-विशेषके 'विकास-बाधा' का कारण समझते हैं, तो उनसे यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि उनकी यह आशंका या धारणा बिल्कुल निर्मूल है। साहित्यका बोलीके लिये महत्त्व होते हुए भी अनुभव यही बताता है कि कोई भी बोली अपने जीवनके लिये साहित्यकी मोहताज नहीं। मैथिली बोलीको ही लिजिये। साहित्य उसका कई सौ वर्ष पुराना अवश्य है;

लेकिन क्या कोई कह सकेगा कि यदि वह साहित्य उसमें न होता, तो मैथिलीका आज अस्तित्व ही न होता ? वहाँकी जन-संख्याकी शिक्षा और अशिक्षाका अनुपात सिद्ध कर देता है कि मिथिलामें मैथिली साहित्यके पढ़ने वाले गिने-चुने शिक्षितोंके बाहुबलके सहारे नहीं, बल्कि पढ़ी या बेपढ़ी सारी जन-संख्याके सहारे ही जीवित रहती चली आई है। तब शायद उनकी दूसरी आशंका यह हो कि साहित्य-सृजनके बिना उसके रूपमें स्थिरता न आ सकेगी। यह आशंका या स्थिरता देखनेकी अभिलाषा तो और भी अनहोनी-सी चीज़ है, क्योंकि किसी भी बोलीका निरन्तर परिवर्तन—जिसे भाषा-विज्ञान विकास कहता है—नैसर्गिक नियम है। साहित्य रचा जाय या न रचा जाय, विकास-जन्य परिवर्त्तन तो होंगे ही।

चारों ओरसे उग्र रूपमें उठनेवाली 'बोली-संसार' की यह बेसुरी आवाज़ प्रत्येक बोलीका भाषा कहलानेका नया शौक इस बातका संकेत है कि किसी अज्ञात कारससे लोगोंको 'बोली' संज्ञा कुछ हीनतापूर्वक-सी जान पड़ने लगी है ऊपर बताये गए भाषा और बोलीके पारस्परिक सम्बन्धके अनुसार तो यह नया जोश कुछ उस अज्ञानी बालकके उत्साह-सा लगता है, जो 'पुर और 'देश'का भेद न जाननेके कारण हठ करने लगे कि वह अपने नगर 'कानपुर' या 'नागपुर' को भारतवर्षकी ही तरह 'कानवर्ष' या 'नागपुर'को भारतवर्षकी ही तरह 'कानवर्ष' या 'नागवर्ष' कहेगा विविध बोलियोंके भाषा कहलानेके इस नये उत्साहका प्रत्यक्ष कारण यह है कि हिन्दी के 'साहित्यक रूप'से घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी वे अपनेको उसका आधार नहीं पातीं। इससे उन्हें निराशा होती है और उन्हें अपनी हीनता या उपेक्षाकी आशंका होती है; किन्तु यह कोरी भ्रान्तिसे अधिक कुछ नहीं है, क्योंकि विचारपूर्ण विवेचन स्पष्ट बता देगी कि हिन्दीके क्षेत्रकी कोई भी बोली अपने मूल रूपमें 'साहित्यिक हिन्दी' नहीं मान ली गई है। उत्तर-पश्चिमके कुछ जिले (बिजनौर, मेरठ, अम्बाला इत्यादि) की बोलीका—जो खड़ीबोली कहलाती है—मूल ढाँचा ही साहित्यिक हिन्दी के लिए ले लिया गया है। किन्तु परिष्कारकी खराईमें ढालकर वह इतना अधिक माँज डाला गया है कि अब हिन्दीकी कोई भी बोली उसमें अपना प्रतिबिम्ब सा देख सकती है। मँजते-मँजते साहित्यिक हिन्दीका यह रूप इतना अधिक निखर

चला आ रहा है कि बघेली, बुन्देली, राजस्थानी या मैथिलीकी कौन कहे, शायद वह दिन भी आ ही आयगा, जब बँगला और गुजरातीको भी उसीमें अपना प्रतिबिम्ब साफ़ दिखाई पड़ने लगेगा। तेजीसे ढलनेवाला इन भाषाओंका आधुनिक साहित्यिक रूप उपर्युक्त भविष्यवाणीका ज्वलन्त प्रमाण है। बँगला या गुजरातीके साहित्यिक रूपको भी साहित्यिक हिन्दीका रूप दे देना प्रायः वैसा ही सरल होता जा रहा है, जैसा कि ऊपर राजस्थानीका उदाहरण देकर दिखाया जा चुका है।

यदि देशका राष्ट्रीय भविष्य उज्ज्वल है, तो वह युग दूर नहीं, जब भारतीय नवयुवक सम्पन्नता एवं स्वच्छन्दताके वातावरणमें प्रान्तीयताके ओछे गर्वसे ऊपर उठ जायँगे। उस समय आश्चर्य नहीं, यदि देशकी अन्य बोलियाँ पूर्वकालीन प्राकृतोंकी भाँति अपने-अपने क्षेत्रमें फूलती-फलती रहें और परिष्कृत रूपमें हिन्दीकी साहित्यिक सम्पदा भारतके स्वर्ण-युगकी 'संस्कृत'की भाँति देशमें सर्वत्र सुलभ रहे।

साधारण बोलचाल (अर्थात् प्राकृत) तथा साहित्यिक (अर्थात् संस्कृत) रूपोंमें भेद संसारकी प्रत्येक भाषामें ही अनादि कालसे चला आ रहा है। शिक्षा, संस्कृति एवं सभ्यताकी आवश्यकताओंके कारण भाषा-क्षेत्रका यह प्रयोग एक अनिवार्य क्रिया है। कदाचित् यह चेतावनी भी असंगत न होगी कि किसी स्थान-विशेषकी कोई बोली यदि किसी प्रकार स्वतन्त्र सत्ताका रूप धारण भी कर ले और चाहे कि अपने साहित्यका सृजन करके पूर्ण स्वाधीन हो जाय, तो उसे भी अपना एक 'परिष्कृत रूप' धारण करना ही पड़ेगा और विशुद्ध एकरूपताका दावा व्यर्थ हो जायगा। बिना यथेष्ट परिष्कारके कोई भी बोली साहित्य-सृजनका माध्यम नहीं हो सकती। ब्रजभाषा ही कई सौ वर्षों तक हिन्दी-क्षेत्रके विस्तृत जन-समुदायके मानसिक एवं साहित्यिक खजानेकी कुंजी बनी रही। सूर, तुलसी, नन्ददास और न-जाने कितने प्रतिभावान साहित्य-स्रष्टाओं द्वारा अमूल्य एवं अलौकिक रत्नोंकी सृष्टि इसीमें हुई; लेकिन क्या कोई भी विद्वान् यह कहनेका साहस करेगा कि साहित्यकी यह ब्रजभाषा ठीक वही थी, जो बोलचालकी थी? जब यह द्विरूपता भाषा-क्षेत्रका नित्य धर्म एवं नियम है, तो आजकी हिन्दीके प्रति ही यह शिकायत क्यों? भाषाके 'साहित्य रूप' के समर्थनका यह अभिप्राय नहीं कि उसके प्राकृतिक रूपमें साहित्य-सृजन नहीं हो सकता या नहीं

हुआ है। वह अवश्य होता रहा है, आज भी हो रहा है और भविष्यमें भी होगा। परन्तु इसपर विचार करते समय भावोन्मेषकी अपेक्षा गम्भीर चिन्तनकी अधिक आवश्यकता है।

यहाँ 'साहित्य' शब्द अथवा उसकी सामग्रीके तात्विक विवेचनकी आवश्यकता नहीं; लेकिन इस सम्बन्धमें भी दो मत नहीं हो सकते कि शुद्ध 'रसात्मक' या 'कलात्मक' रचनाएँ ही साहित्यकी सारी पूँजी नहीं, वरन् उसका एक बहुत बड़ा भाग व्यावहारिक ज्ञानको लेकर रचा जाता है, जिसे बौद्धिक साहित्य कहते हैं। या यों कहना चाहिए कि 'रसात्मक' साहित्य यदि 'दिल' की चीज़ है, तो 'व्यावहारिक' या 'बौद्धिक' साहित्य दिमाग़की। इन दोनोंके साध्य, साधन तथा लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। भारतके प्राचीनतम साहित्यका इतिहास इसका साक्षी है कि विविध प्राकृतोंमें जितना भी साहित्य रचा गया, वह 'रसात्मक' या 'कलात्मक' ही था (और प्राकृतोंमें कहीं-कहीं तो इस कोटिका साहित्य बेजोड़ हो उठा है); लेकिन 'दिमाग़ी' या 'बौद्धिक' साहित्यके लिए संस्कृतकी ही शरण लेनी पड़ती थी। हिन्दीके युगका भी प्राचीन या मध्यकालीन सारा साहित्य प्रायः रसात्मक, पद्यमय और विविध बोलियोंमें ही है। हाँ, ज्यों-ज्यों ब्रजभाषा मँजती गई, पद्य-साहित्यके माध्यमके लिये वह अधिक उपयुक्त होती गई और सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी-क्षेत्रके मानसिक योग-दानका साधन भी बनी रही। परन्तु भूलना न होगा कि सैकड़ों वर्षोंका यह साहित्य मुख्यांशमें 'रसात्मक' या 'कलात्मक' ही है, अन्य विषयोंकी चीजें इनी-गिनी ही होंगी। यह बात केवल ब्रजभाषा-साहित्यके लिये ही नहीं, वरन् उन सारी बोलियोंके लिये भी सत्य है, जिनमें प्राचीन साहित्यकी स्थिति मानी जाती है। मैथिली भी इसका अपवाद नहीं।

परन्तु ब्रजभाषाके उस विराट युगमें भी अन्य बोलियोंमें लोग गाते, हँसते और रोते ही थे तथा चुहलबाज़ी और ठठोली भी करते थे। क्यों न करते, जब कि सच्चा रोना, सच्चा गाना और सच्चा हँसना दिलकी बोलीमें ही सम्भव होता है और घरेलू वातावरणमें ही बन पड़ता है। कृत्रिम जीवन इनके अनुकूल नहीं। लेकिन यह भी तो कम सत्य नहीं कि आजका यह युग दिलकी अपेक्षा दिमाग़की सत्ताका

अधिक क़ाग्ल है । 'दिमागी इश्क़, दिमागी कूवत, दिमागी वर्जिश इत्यादिकी इस दिमागी दुनियामें दिलके लिये जगह ही कहाँ है और अगर है भी तो कितनी ?' इसीलिये इसे गद्यका युग कहते हैं । हिन्दीके कर्णधारोंको इस आनेवाले युगकी सूचना मिल चुकी थी और उन्हें यह देखते देर न लगी कि गद्य-साहित्यके लिये ब्रजभाषा या अन्य किसी बोलीकी अपेक्षा खड़ीबोलीका ढाँचा ही अधिक कामका होगा, और उन्होंने उसे बेखटके ले लिया तथा माँजकर अपने कामका बना लिया । नवयुगका यह दिमागी या बौद्धिक साहित्य अपनी अभिव्यक्तिके लिये प्रवाहपूर्ण, समर्थ एवं व्यापक अर्थोंवाली शब्दावलीकी अपेक्षा करता है, जिसका निर्माण काल, विनिमय, संघर्ष तथा पुष्ट परम्पराके साथ हुआ करता है । यह एक लम्बी साधना है । इसके लिये खरी स्वाभाविकताका मोह छोड़ना पड़ता है, कृत्रिमता-पाशके आवश्यक बन्धन सहर्ष स्वीकार करने पड़ते हैं, भावोंका नित्य नवीन रूपोंके साँचेमें ढलकर हँसते-हँसते अंग-भंग करवा देना पड़ता है ; तब कहीं 'साहित्यिक रूप' का वरदान मिलता है । यह व्यापार बहुत सस्ता नहीं और न कम कष्टसाध्य ही है ।

मैथिलीमें कदाचित् आधुनिक साहित्यकी अनुपजका कारण औरोंको समझ कर उन्हें उसकी उन्नति या विकासका बाधक समझना झा साहबका अनुचित भ्रम है । किसी बोली या भाषाकी साहित्य-सृष्टि किसी व्यक्ति या संस्थाकी इच्छा या अनिच्छापर निर्भर नहीं हुआ करती, वरन् वह तो उसकी निजी योग्यता एवं सामयिक प्रेरणाके अनुसार ही हुआ करती है । उसका प्राचीन साहित्य, जिसका उल्लेख बार-बार किया जाता है, प्रधानतः रसात्मक ही था और उस कोटिका साहित्य आज भी रचा ही जाता होगा तथा भविष्यमें भी रचा जायगा । उसकी अपनी कहावतों एवं पहेलियोंकी सृष्टि होती रही है और सदा होती रहेगी । परन्तु जिसे दिमागी या बौद्धिक साहित्य कहा गया है, उसका सृजन सभी बोलियोंमें देखनेकी आशा सदिच्छासे अधिक और कुछ नहीं है, क्योंकि इस समय सारी भारतीय भाषाओंमें हिन्दी ही सबसे अधिक प्रगतिशील तथा युग-प्रवाहके साथ चलनेवाली मानी जाती है । आधुनिक संसारके बौद्धिक योगदानका जितना अंश हिन्दीके कोषमें आ चुका है, उतना अभीतक अन्य किसी भी भारतीय भाषाको प्राप्त नहीं हुआ । किन्तु इतने

पर भी आए दिन हमारे विद्वान एवं आचार्य यही कहते सुने जाते हैं कि संसारके साहित्यका तो प्रश्न ही क्या, अङ्गरेजीके मुकाबलेमें भी हिन्दी-साहित्य अभी बहुत पिछड़ा हुआ है और उपयुक्त भाषाकी त्रुटि इस पिछड़ेपनका मुख्य कारण है। यही आड़ लेकर देशकी शिक्षाके कर्णधार उसे शिक्षाका माध्यम स्वीकार करनेमें भी आनाकानी करते हैं। इतने समय, परिश्रम और प्रयासके बाद प्रस्तुत किये गये हिन्दीके साहित्यिक रूपमें भी जब अभी इतनी न्यूनता है, तब अन्य बोलियोंको इसके बराबर लानेमें कितना श्रम लगेगा और उसके बाद भी किस हदतक सफलता मिल सकेगी, इसकी कल्पना कर लेना भी बुरा न होगा। यदि अन्य बोलियाँ भी बौद्धिक साहित्य-रचनाके क्षेत्रमें अपनी तकदीर लड़ाना चाहती हैं, तो लड़ावें ; परन्तु ऊपर कही गई सारी परिस्थिति पर जरा ठंढे दिलसे विचार कर लेनेके बाद, क्योंकि राष्ट्रकी शक्ति यदि व्यर्थ एवं निष्फल प्रयोगोंमें व्ययकी जायगी, तो वह उसका न केवल दुरुपयोग ही होगा, बल्कि हानिकर भी।

दूसरा प्रश्न जो झा साहबने उठाया है, वह स्पष्ट रूपमें यह है कि हिन्दीका राष्ट्रभाषा-पदपर आसीन किया जाना उसकी व्यापक सेवा-शक्तिका फल है या किसी पक्षपात-भावनासे प्रेरित होकर उसके साथ यह दया की गई है ? इसपर विचार करने से पहले यह जानना होगा कि देशको राष्ट्रभाषाकी आवश्यकता ही क्यों पड़ी और फिर उस राष्ट्रभाषाका पद जिस किसीको सौंपा गया, वह किन आधारों पर और क्यों ? क्या यह सत्य नहीं है कि देशको राष्ट्रीयताके सूत्रमें बांधनेके लिये यह जरूरी समझा गया कि सभ्य जीवनके प्रत्येक आवश्यक व्यापार-संचालन के लिये, पारस्परिक विचार-विनिमय तथा प्रत्येक प्रकारके संगठनके लिये देशको एक आम भाषाकी आवश्यकता है। इसके चुनावमें प्रधानतः दो बातोंका विचार आवश्यक था। एक-तो बोलने और समझने वालोंकी संख्या तथा दूसरी उसकी विचार-वाहनकी योग्यता—नैसर्गिक सरलता और व्यापकता। संख्याका प्रश्न इसलिये था कि अधिक जन-संख्या वाली भाषा यदि चुनी जायगी, तो उसके सीखने वालोंकी संख्या कम होगी और इस तरह प्रचार एवं संगठनका कार्य सरल हो जायगा और तुरत प्रारम्भ हो सकेगा। उसकी विचार-वाहिनी शक्ति, सरलता और व्यापकताको देखना इसलिये आवश्यक था कि

किसी राष्ट्रके निर्माण, उसके संगठन तथा संचालनमें भाषाका बहुत बड़ा महत्व रहता है। तरह-तरहके जीवन-व्यापारोंका सम्पादन उसीके द्वारा होता है। यदि माध्यम निर्बल होगा, तो काम ही कैसे चल सकता है? सरलताकी आवश्यकता इसलिये थी कि शिक्षणका कार्य आसानी तथा शीघ्रतासे हो सके। प्रायः ये सभी गुण हिन्दीमें पाये गए और इसीलिये राष्ट्रभाषा-विषयक सेवाएँ उससे माँगी गईं। यथाशक्ति वह उस सेवामें रत है और निरन्तर अपने-आपको उसके योग्य बनाती हुई वह उसके अधिकाधिक उपयुक्त होनेका अपना विकास करती ही जा रही है। अतः यहां दया अथवा गर्वका प्रश्न ही कहाँ उठता है?

निरर्थक भ्रम या प्रमादवश ही यदि कोई जन-समूह हिन्दीसे विमुख हो जायगा या उसे न सीखना चाहेगा, तो उससे म्रा साहबको शंका होती है 'राष्ट्रभाषाकी क्षतिकी'। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, भ्रम या प्रमादके कारण यदि कोई हिन्दी न सीखेगा, तो क्षति अपनी ही करेगा, क्योंकि उसे संगठित और समुन्नत राष्ट्रके विविध लाभोंसे वंचित रह जाना पड़ेगा और उसका पूर्ण अंग भी न बन पायगा। इसमें राष्ट्र-भाषा हिन्दीकी कौनसी क्षति होगी? अ-हिन्दी-भाषी जब हिन्दी सीखें, तो उनकी धारणा क्यों होनी चाहिये कि वे हिन्दी पर या हिन्दी बोलने वालों पर कोई अहसान कर रहे हैं? उचित और विवेकपूर्ण सम्बन्ध तो होना चाहिये कि अ-हिन्दी-भाषी राष्ट्र-संगठनके लिये हिन्दी सीखें और हिन्दी-भाषी राष्ट्र-सेवाकी भावनासे उनका स्वागत करें। सच तो यह है कि राष्ट्र-भाषाके पद पर आसीन होनेमें गुरुता अधिक है और गर्वकी सामग्री बहुत कम।

जब स्थिति इतनी स्पष्ट है, तो फिर बोलियों और जनपदोंको लेकर यह तुमुल आन्दोलन क्यों? वास्तवमें इसके पीछे तीन प्रकारकी मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं। एक प्रमुख दल तो ऐसे व्यक्तियोंका है, जिनके जीवनका पेशा ही 'लीडरी' है। यह लोग बिना किसी आन्दोलनके रह नहीं सकते। दूसरा दल ऐसोंका है, जिनका भ्रम है कि हिन्दीको राष्ट्रभाषाका महत्त्वपूर्ण पद केवल उसकी जन-संख्याके आधारपर मिल गया है। वे सोचते हैं बोलियोंकी स्वाधीन सत्ता क़ायम होते ही यह सामूहिक जन-संख्या विभाजित होकर अपने-आप कम हो जायगी और तब बोलने-

वालोंकी संख्याके आधारपर शायद किसी प्रान्तीय भाषाको राष्ट्रभाषा बनानेका मौक मिल जाय और भाग्य खुल जायँ ! किन्तु यह दुराशा व्यर्थ है, क्योंकि सभी प्रांतीय भाषाएँ बोलियोंके समूहपर ही निर्भर हैं, अतः उस प्रकारका विभाजन तो वहाँ भ हो जायगा। इसके अतिरिक्त खाली राष्ट्रभाषाका सेहरा पहननेसे ही तो कुछ होगा ? उनमें वह योग्यता, वह व्यापकता तथा वह सेवापटुता कहाँसे आयगी, जो एक लम्बी परम्पराके बाद हिन्दीमें आई है। तीसरा दल कुछ उन भोलेभाले व्यक्तियोंका है, जिनमें ज्ञान और विवेककी अपेक्षा जोश अधिक है, जिसके कारण छोटी-से-छोटी वास्तविक या काल्पनिक आशंका भी उन्हें विचलित कर देती है, औ वे दौड़ पड़ते हैं। अन्यथा इस दिशामें न तो किसी आन्दोलनकी गुंजाइश है, असमय विप्लवकी आवश्यकता ही। हमें आशा है, देशवासी अपनी विवेक-बुद्धि काम लेंगे और जल्दबाज़ीमें अपने पाँवोंपर ही कुल्हाड़ा न चला बैठेंगे।

(विशाल भारत, अप्रैल १९४४

भाषाके डिक्टेटर

ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि और तर्कशक्ति इसलिए दी कि वह सत्यका अधिक अधिक अन्वेषण कर सके और असत्यके अन्धकारसे सत्यके प्रकाशमें आ सके। परन्तु उसकी अपार सृष्टिमें कुछ ऐसे अन्धकार-प्रेमी जीव भी निरन्तर देखे जाते हैं, जिन्हें प्रकाशसे सरासर घृणा है। उनकी एक विशेषता यह और है कि वे औरोंको भी प्रकाशमें देखना पसन्द नहीं करते। इसका एक ज्वलन्त प्रमाण डा० ताराचन्दका वह चिट्ठा है, जो उन्होंने हिन्दीकी अपनी ज्ञानहीनताको छिपानेके लिए 'विश्ववाणी' अक्तूबर, १९४४ में प्रस्तुत किया था। आपकी सबसे बड़ी खोजका पहला नमूना यह है ...'उसका (उर्दूका) साहित्य हिन्दीके साहित्यसे बहुत पुराना है।' और ठीक इसीके बादके वाक्यमें आप कहते हैं—'उर्दू हिंदू-मुसलमानोंके मेल-जोलसे बनी है।' यह समझमें नहीं आता कि डाक्टर साहबकी पहली उक्ति ठीक है या दूसरी यदि उर्दू हिन्दू-मुसलमानोंके मेल-जोलसे बनी है, तब तो इसका अस्तित्व १५ वीं शताब्दीसे पहले सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि इसके पहले तो —जैसा वि

उर्दू साहित्यके इतिहासकार बाबूराम सक्सेना तथा बाबू ब्रजरत्नदास और अन्य कई मुसलमान लेखकोंने भी कहा—सामाजिक अथवा राजनीतिक परिस्थितिमें इतनी शान्तिका वातावरण स्थापित ही नहीं हुआ था कि हिन्दू और मुसलमानोंके पारस्परिक मेल-जोलकी वह स्थिति पैदा होती, जिसके द्वारा दोनोंमें सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो सकते। उर्दूके सर्वप्रथम कवि मुहम्मदकुली कुतुबशाहका समय भी १५५० के लगभग माना जाता है; लेकिन हिन्दी साहित्यका काल तो ग्यारहवीं शताब्दी माना गया है। 'रासो'-साहित्य तथा 'नूरक-चन्दा'की प्रेम-कहानी उपर्युक्त कथनके प्रमाण हैं।

डाक्टर साहबकी भाषा-विषयक परिभाषा भी कम मौलिक नहीं है। आप कहते हैं—'भाषा यानी अदबकी ज़बान।' तब प्रश्न उठता है कि जो आपके 'अदब' के दायरेके बाहर हैं, वे या तो शायद गूंगे हैं या उनका भाव-प्रकाशन भाषा द्वारा न होकर शायद इशारेके सहारे ही होता होगा। अपनी इसी मौलिक परिभाषाके अनुसार डा० ताराचन्द साहब १९ वीं सदी से पहले हिन्दीका 'नाम और निशान' भी नहीं पाते। अपनी इस नई खोजके समर्थनमें डा० साहबने जो कुछ लिखा है, वह कुछ इस ढंगसे है, मानो डा० साहबकी अपनी ही खोज हो। किन्तु यदि कुछ अधिक ईमानदारीसे काम लेकर डा० साहब कह देते कि यह जूठन उन्हें सर जार्ज ग्रियर्सनकी मेज परसे प्राप्त हुई है, तो वे इस अज्ञानके टीकेसे बच जाते। 'दि मॉडर्न वर्नाक्यूलर आव हिन्दुस्तान'की भूमिकाके २२ वें पृष्ठ पर सर जार्ज ग्रियर्सनने लिखा था —"१९ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें अंग्रेजों द्वारा हिन्दी भाषाका आविष्कार हुआ और सर्वप्रथम १८०३में गिलक्राइस्टकी अध्यक्षतामें काम करनेवाले लल्लूजीलालने उसमें गद्य-रचना की। इसीके आधारपर डा० ताराचन्द साहबने अपने मौलिक ज्ञानका श्रेय अर्जन करनेकी चेष्टा की है। परन्तु स्वयं ग्रियर्सन साहबको उपर्युक्त कथनके बाद ही अपनी भूलका पता चल गया, और १९१८ के 'बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियण्टल स्टडीज़'में उन्होंने लिखा था—"× × × अथवा उच्च हिन्दीका वर्तमान रूप उत्तरी दोआबकी उसी फारसी-विहीन भाषाका परिवर्तित रूप है, जिसका फोर्ट विलियम कालेजके अध्यापकोंने प्रयोग किया था। इसी विचारका समर्थन करते

हुए बरान्निकोबमें भी कहा है—"खड़ी बोली स्थानीय बोलियोंमेंसे एकके आधार पर बनी स्वतन्त्र भाषा है। अतः डा० साहबने यदि उस पुरानी जूठनसे ही अपनेको सन्तुष्ट न कर इस बादके कथन पर भी ध्यान दिया होता, तो शायद मौलिकताकी इस फजीहतसे बच जाते, क्योंकि हिन्दी (खड़ी बोली)—जिससे उनका तात्पर्य है, उसका वैज्ञानिक आधार—बिजनौर इत्यादिके आस-पासकी बोली है, जिसका समय तथा जिसके विकासका क्रम ग्राहम बेलीके अनुसार लगभग उतना ही प्राचीन ठहरता है, जितना हिन्दी-भाषाकी किसी अन्य बोलीका (Urdu the name of a language, JRAS, 1930.) अतः हिन्दीको १९ वीं शताब्दीकी उपज बताना मौलिकताकी पराकाष्ठा है। उसपर भी तुर्रा यह है कि यह निष्कर्ष डाक्टर साहबने 'ठंडे दिलसे गौर' करनेके बाद निकला है।

पंजाब, पश्चिमोत्तर सरहदी प्रान्त, सिन्ध और काश्मीरमें उर्दूकी अनिवार्य शिक्षा के विरुद्ध जो आन्दोलन किया गया है, उसकी आलोचना करते हुए आपने दक्षिण-भारतमें हिन्दी-प्रचारकी नैतिकताको अन्यायपूर्ण ठहरानेकी चेष्टा की है। अपनी इस अकाट्य दलील पर डा० साहबका हृदय हर्षोन्मादसे एक क्षणके लिए विह्वल हो गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु डाक्टर साहब यह भूल गये कि प्रश्न राष्ट्र-भाषाका है, हिन्दी, उर्दू या अन्य किसी भाषाका नहीं। दक्षिण-भारतमें हिन्दी या हिन्दुस्तानीका प्रचार राष्ट्रभावनाकी दृष्टिसे तथा वहांके निवासियोंकी इच्छाके अनुसार किया गया था और आज भी किया जाता है। परन्तु पंजाब या सिन्ध या पश्चिमोत्तरप्रान्तमें उर्दूके प्रचारके पीछे राष्ट्रभाषासे किसी पवित्र सिद्धान्तका बल नहीं था। ठीक कसौटी तो यह होती कि वे दक्षिण-भारतीयोंसे ही यह पूछनेका साहस करते कि राष्ट्रभाषाके नाते वे उर्दू पढ़ना चाहते हैं या हिन्दी? इसीके उत्तरसे शायद डाक्टर साहबको 'आंखमें रोड़ा या किंकरी' ठीक-ठीक सूझने लगती।

डाक्टर साहबकी भाषा-विज्ञानकी 'निगाह' भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। अपनी इस निगाहसे आप 'हिन्दी, उर्दू और संस्कृतके सम्बन्ध पर' गौर करने चले, तो तुरत आ गये अक्षर-विज्ञान पर और बहस करने लगे 'धुनियों' (ध्वनियों नहीं) पर। शायद इसी तरहकी—बौद्धिक कलाबाजियोंसे प्रेरित लोगोंके लिये ही कबीरने कहा

है—'आये थे हरिभजनको, ओटन लगे कपास !' भाषा-विज्ञान और अक्षर-विज्ञानके उनके ज्ञानकी आलोचना करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस सम्बन्धमें 'सरस्वती' (भाग ४६ संख्या ५ पृष्ठ २२१ से २२४) में प्रयाग-विश्वविद्यालय के श्री श्यामनारायणने बड़ी योग्यतापूर्वक डा० ताराचन्दकी आंखें खोलनेकी चेष्टा की है। पर अपने प्रयासमें वे कहां तक सफल होंगे, यह कहना कठिन है ; क्योंकि सोतेको जगाया जा सकता है, लेकिन जागतेको कोई कैसे जगा सकता है ? आप बार-बार यह कहते नहीं थकते कि अनेक प्रकारसे (व्याकरण इत्यादिकी दृष्टिसे) हिन्दी संस्कृतकी अपेक्षा उर्दूके बहुत निकट है। लेकिन क्या यह भी बताना होगा कि उर्दू अपने अविकृत रूपमें आखिर हिन्दीकी 'महफिली शैली' के अतिरिक्त और है ही क्या ? डा० ताराचन्दका कहना यह है कि '१५ वीं सदीसे १८ वीं सदीके आखिर तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमान शिष्टोंकी भाषा थी।' कुछ अंशोंमें सत्य भी होता, यदि वे 'उर्दू ही' न कहकर 'उर्दू भी' कहने की शिष्टता दिखाते। जिस उर्दूसे डाक्टर ताराचन्द साहबका अभिप्राय है, वह पंजाब और संयुक्त प्रान्तके शहरों और देहाती रईसों के दीवानखानोंको छोड़कर शायद ही कहीं सुनाई पड़ती रही हो। और वहां भी हिन्दुओं द्वारा इसका व्यवहार जिस मनोवृत्ति के कारण होता रहा है या आज भी होता है, वह अभी हाल ही में कहे गये महात्मा गांधीके वाक्योंमें सजीव हो उठी है। सरहदी गांधी खान अब्दुलगफ्फार खां पिछले दिनों जब महात्माजीके साथ ठहरे हुए थे, तब महात्माजीने उर्दूकी आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा था—'मुझे ही देखो, अब अपने दोस्तके साथ, जिनकी भाषा सरासर उर्दू है, क्या मैं संस्कृतपूर्ण हिन्दी में बातचीत करूँगा ?' यह भावना थी महात्माजीके सहज सौहार्दकी। डा० साहब तो संयुक्त प्रान्तके निवासी हैं। वहांके निवासियों की यह जन्मजात परम्परा रही है कि वे आगन्तुककी सुविधा-असुविधाके ख्यालसे कभी निश्चिन्त नहीं होते। उनकी यह सतत चेष्टा रहती है कि आगन्तुक का स्वागत एवं सत्कार जहांतक सम्भव हो, उसीकी भाषा में तथा उसीके सदाचारके नियमोंके द्वारा करें। इसका प्रमाण यदि देखना हो तो दूर न जाना होगा। संयुक्त-प्रांतके हिन्दी-भाषा-भाषी निवासी जब कभी किसी अन्य भाषा-भाषीसे

मिलते हैं, तो उनकी सतत चेष्टा यही रहती है कि वे यथा-शक्ति उसीकी भाषा में या उससे मिलती-जुलती किसी दूसरी भाषामें उससे बातें करें। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि उनके पास अपनी कोई भाषा ही नहीं, या विचारों एवं भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये वे अन्य भाषाओंके मुहताज हैं। उनके इस सौजन्य या शिष्टतासे यदि किसीको कुतर्कों की प्रेरणा मिलती है, तो वह उसके विकृत मस्तिष्कका ही परिणाम कहा जायगा।

हिन्दुस्तानीकी परिभाषा देते हुए आप कहते हैं—'हिन्दी-उर्दूके बीचकी ज़बानका नाम हिन्दुस्तानी है।' यों तो उपर्युक्त परिभाषा अर्थ हीन-सी जान पड़ती है, क्योंकि जैसा आधुनिक कालके हिन्दी-भाषाके पंडितों (बेली, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, सुनीति बाबू आदि) ने माना है कि उर्दू हिन्दीकी एक शैली मात्र है। अतः उर्दू और हिन्दीको भाषाकी दो सीमाएं मानना भ्रमसे खाली नहीं। उपर्युक्त परिभाषाकी टीका करते हुए डा० ताराचन्द स्वयं कहते हैं कि....'लिखावटका ढंग चलाएँ, जिसमें अमातफ़ी न हो, जो ज्यादासे ज्यादा हिन्दुस्तानीयोंको समझमें आ जाय और जिसमें अपनी असली धुनिधारा और ग्रामरके नियमोंके मुताबिक लफ्जोंका इस्तेमाल हो।' इस टीकापर दृष्टि डाली जाय, तो 'धुनिधारा' (ध्वनियोंका सम्बन्ध तो उच्चारणसे है। अतः धुनिधारा' प्रयोग कवित्वकी कलाबाजीके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं) से संकेत है कि उच्चारण-प्रणालीकी ओर और 'ग्रामरके नियमों' से भाषाके ढांचेकी ओर। 'ज्यादासे ज्यादा हिन्दुस्तानीके सममझने'की दुहाई देकर परामर्श किया गया है भाषाको सरल बनानेका। यह सत्परामर्श सुनते-सुनते हिन्दीवाले तो कमसे कम ऊब ही चुके होंगे। इन कोरे उपदेशकोंसे यह कहना अनुचित न होगा कि 'सरल और कठिन' यह दोनों सापेक्षिक शब्द (relative terms) हैं। इनका दायित्व केवल लेखक पर ही नहीं, पाठककी योग्यतासे भी गहरा सम्बन्ध रखता है। कितनी ही सरल भाषा क्यों न लिखी जाय, शब्द चाहे जितने सीधे-सादे क्यों न हों, भाव कितने ही स्पष्ट क्यों न हों ; किन्तु यदि पाठक महोदय भाषा-ज्ञानसे कोरे हैं, प्रयुक्त शब्द उनकी संकीर्ण ज्ञान-परिधिके बाहरकी चीज़ हैं, तो सरलसे सरल भाषा तथा स्पष्ट-से-स्पष्ट भाव भी उनके लिए कठिन ही

प्रतीत होंगे। आज कलके सरल भाषाके हमारे ये उपदेशक प्रायः उपर्युक्त कोटिके ही व्यक्ति हैं। जितनी हिन्दी उन्होंने सीखी है, अथवा जितना संकीर्ण उनका हिन्दी-शब्द-भंडार है, उस हिसाबसे तो हिन्दीका कोई लेखक शायद ही कोई ऐसी चीज लिख सके, जो सरल कही जा सके। ऐसे व्यक्तियोंमें मानसिक आलस्य इतना अधिक होता है कि वे स्वयं अपने शब्द-भण्डारको बढ़ानेकी अपेक्षा इसी उलझनमें रहते हैं कि प्रत्येक लेखक केवल उतने ही शब्दोंमें सब कुछ लिखनेकी चेष्टा क्यों नहीं करता, जो इनके ज्ञान-कोषकी निधि हैं? इनका सरलता अथवा कठिनताका मापदण्ड अपना निजी ज्ञान अथवा अज्ञान ही हुआ करता है। इस कोटिके व्यक्ति कुछ ऐसे ही होते हैं, जो भारतकी दीन दशापर दुखी होकर आँसू बहाते हुए बात-बातपर कहा करते हैं कि भारतको अपने सुधारके लिये आवश्यकता है एक डिक्टेटरकी। किन्तु वह डिक्टेटर नहीं हो सकते—महात्मा गांधी, जवाहरलाल, यह या वह ; वरन् सच्चा डिक्टेटर तो बैठा है आपके सामने।

'विशाल-भारत' से

(विश्वबन्धु २३ जुलाई १९४५)

हमारी भाषा और लिपिकी समस्या

सहसा सवाल उठता है कि हमारी भाषा और लिपिका प्रश्न आज इतना उग्र क्यों हो उठा है? पग-पगपर आदरणीय महात्माजीका नाम इस द्वन्द्वके साथ जुड़ा देखकर तो आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती। भारतकी एकता आज खतरेमें हो सकती है ; परन्तु वह युगोंसे अक्षुण्ण थी, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। इतने बड़े देशके विशाल जन-समूहको युगोंतक यदि संस्कृत भाषाने एक सूत्रमें बांधकर रखा था, तो उसके बाद अन्य देशी भाषाओंने भी अपनी-अपनी सीमाओंमें अपने उत्तर-दायित्वका समुचित निर्वाह किया था। उत्तर और दक्षिणकी भाषाओंमें 'कुल-भेद' होते हुए भी संस्कृतके परम्परागत प्रभावने उन्हें एक दूसरेसे बहुत पृथक नहीं होने दिया था। सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकताके कारण आजसे सदियों पहले भी भारतीयोंका अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध कम घनिष्ठ न था। उस समय भी पारस्परिक

व्यवहारके लिए मध्य-उत्तर-भारतकी प्रचलित भाषा ही काममें लायी जाती थी। इसका प्रमाण आजसे लगभग ४०० वर्ष प्राचीन कागज-पत्रोंसे चल सकता है, जो आज भी जगन्नाथपुरी तथा रामेश्वरके कुछ पण्डोंके पास सुरक्षित हैं। यदि उस समय धार्मिक, व्यावसायिक कारणोंसे हमें अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये एक चालू भाषाकी आवश्यकता पड़ी थी, तो आज प्रधानतः राष्ट्रीय सन्देशके प्रचार एवं विस्तारके लिये देशव्यापिनी साधारण भाषाकी आवश्यकता आ पड़ी है। भेद इतना ही है कि आजका वातावरण राजनीति, कूटनीति इत्यादि विविध मत-मतान्तरोंके विषाक्त वायुमण्डलसे दूषित है। किन्तु उस समयके लोगोंकी भावना अधिक पवित्र थी। प्रत्येक वस्तुका ग्रहण अथवा त्याग उसकी न्यायोचित उपयोगिता अथवा अनुपयोगितापर निर्भर हुआ करता था।

भाषा बनाम धर्म—

आजकी भाषा-विषयक समस्या साम्प्रदायिक पक्षपातोंके कारण और अधिक जटिल हो उठी है। आज प्रायः धर्म और संस्कृतिकी आड़ लेकर ही भाषाके प्रश्नपर विचार किया जाता है। भारतवर्ष सदासे धर्म-प्राण देश रहा है। प्राचीन संस्कृतिकी प्रतिष्ठा यहांके जीवनकी विशेषता रही है। देशके अन्य नेता धर्मके प्रश्नसे उदासीन रह सकते हैं ; परन्तु श्रद्धेय महात्माजीके जीवनमें यह सदासे ही प्रमुख रहा है। भाषा और लिपि ही क्या, शायद राष्ट्रीय उद्योगके किसी पगपर भी उन्होंने धार्मिक चेतनाको गौण नहीं होने दिया। इस दृष्टिकोणकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु धर्मके साथ उर्दू या हिन्दीको अनिवार्य रूपसे जोड़ना कहांतक न्याय-संगत है, यह प्रश्न विचारणीय है।

सैकड़ों वर्षोंसे भारतके एक बड़े जनसमुदायकी विचार धारा हिन्दीमें ही प्रवाहित हुई है। मध्य युगकी सूर, तुलसी और कबीर जैसे महात्माओंकी वाणी धार्मिक उपदेश ही है तथा उनकी पूजा भी उसी प्रकार होती है, फिर भी हिन्दुओंकी धार्मिक भाषाका पद आज भी देववाणी संस्कृतके द्वारा ही सुशोभित है। सभी पुण्य कार्योंके अवसरपर मन्त्रोच्चारण संस्कृतमें ही होता है। इसी प्रकार मुसलमानोंके धार्मिक ग्रन्थ भी सब अनिवार्य रूपसे अरबीमें ही हैं और उनके सभी धार्मिक कृत्योंका

प्रतिपादन अरबीके ही माध्यमसे होता है। कुछ ही वर्षों पहले अरबीमें लिखे गये कुरआनका उर्दूमें तर्जुमा करना भी कुफ्रसे कम न था। हिन्दीमें तो संस्कृतका प्राचीन साहित्य—क्या धार्मिक और क्या अन्य—प्रायः सभी आ चुका है; किन्तु उर्दू तो आज भी इस्लामके क्षेत्रमें पूर्ण प्रवेश नहीं पा सकी है। काव्य-प्रधान उर्दूका साहित्य विचार-परम्परा, काव्य-प्रणाली, एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमिके लिये अरबी की अपेक्षा फारसीका अधिक ऋणी है। आजके कुछ अनुवादोंको छोड़कर प्रायः सारा उर्दू-साहित्य दर्शन अथवा अध्यात्मकी अपेक्षा बुद्धिवादसे ही प्रेरित है। किन्तु धर्मका मूल तो तर्क नहीं, विश्वास है। अतः उर्दू भाषा या साहित्यके दामनमें धर्मको या इस्लामी संस्कृतिको बांधना या हिन्दीके साथ हिन्दू धर्मका गंठबन्धन करना उचित नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म एवं संस्कृतिकी सात्विक भावना तो सुरक्षित रहनी ही चाहिये। न केवल हिन्दू या मुसलमानों ही के लिये, वरन अन्य सम्प्रदायोंके लिये भी इसी नीतिका अनुसरण होना चाहिये। राष्ट्रके नवनिर्माणमें अनिवार्य शिक्षाका नियम तो होगा ही। उपर्युक्त उद्देश्यकी वास्तविक पूर्तिके लिये यह आवश्यक होगा कि प्रारम्भिक शिक्षा-क्रममें ही हिन्दू बालकोंके लिये प्राथमिक संस्कृत, मुसलमान बच्चोंके लिये प्राथमिक फारसी या अरबी उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायोंके बच्चोंके लिये उनके धर्म-ग्रन्थोंकी भाषाका प्राथमिक ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय। ऐसा करनेसे आगे चलकर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार वे बालक इस ओर बढ़ सकेंगे; क्योंकि धार्मिक अथवा सांस्कृतिक संस्कारोंका बीजारोपण तो हो ही चुकेगा। इस प्रस्तावमें शायद किसीको दकियानूसीपनकी बू आये; परन्तु ऐसोंके लिये तो शायद धर्मकी चर्चा भी दकियानूसीपनसे खाली नहीं। यदि बच्चोंमें धार्मिक प्रवृत्ति रखनी वांछनीय है, तब तो उपर्युक्त प्रस्तावके अतिरिक्त और कोई व्यावहारिक निरापद मार्ग नहीं, क्योंकि इस प्रकार राष्ट्रके बच्चोंमें विविध धर्मों एवं संस्कृतियोंके संस्कार तो जाग्रत होंगे ही, साथ-ही-साथ विविध मूल-भाषाओंका परिचय उनके आधुनिक भाषा-ज्ञानकी नींवको भी अधिक सुदृढ़ करेगा। इस तरह आपसके अनावश्यक संशय भी दूर हो जायंगे।

राष्ट्रभाषाका स्वरूप—

आजसे बीस साल पहले राष्ट्रीय संगठनके लिये राष्ट्रभाषाकी उपयोगिताके विचारसे कांग्रेसके द्वारा हिन्दीको राष्ट्रभाषा माना गया था। इसके प्रचार तथा प्रसारमें महात्माजीका बहुत बड़ा योग रहा है। शायद कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह न कह सकेगा कि भाषाके इस चुनावके पीछे किसी प्रकारके छल अथवा पक्षपातका लेश भी न था; क्योंकि इसके प्रधान पृष्ठपोषक थे महात्माजी, जिनकी मातृभाषा थी गुजराती। अत: हिन्दीके प्रति उनके पक्षपात या अनुचित मोहका तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु ज्यों-ज्यों स्वाधीनताके युद्धमें गरमाहट आने लगी तथा स्वतन्त्रताके मन्दिरका शिखर—दूरसे ही सही—देख पड़ने लगा, त्यों-त्यों कितने ही निठल्ले खून लगा कर शहीद बनने वाले व्यक्ति भी कांग्रेसके पड़ावके इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगे। लड़ाकू पंक्तियोंमें जाना तो जेलके खतरेसे खाली नहीं था, इसीलिये तथा-कथित रचनात्मक कार्यक्रमकी ओटमें अपना उल्लू सीधा करना और भाषा-जैसे लग-भग निर्विवाद मसलों पर तफ़रेबाज़ी करना ही इन लोगोंका पेशा हो गया। ऐसे ही हिन्दीसे अनभिज्ञ और उर्दूसे कोरे कुछ व्यक्तियोंने लगभग १५-१६ वर्ष पूर्व कहींकी ईंट और कहींके रोड़ेसे हिन्दुस्तानी भाषा बनानेके लिये एक संस्था गढ़ कर अपनी 'मस्तिष्क-कुव्वत' का परिचय दिया था। सच पूछा जाय तो आजकी इसी नामकी दुरंगी भाषाके विधाता इसी संस्थाके कर्णधार हैं। उन्होंने इसीलिये ऐसा नहीं किया कि राष्ट्रीय शिक्षाके क्षेत्रमें उनका भाषा-विषयक यह कोई विचारपूर्ण प्रयोग था; वरन् इसलिये कि यही एक मसला और यही एक भाषा उनके पल्ले पड़ी थी और महात्माजीके शब्दोंमें 'दिमागी तौर पर ये बहुत सुस्त' शायद थे ही, 'लेकिन अंगरेजीके बोझने इनकी मानसिक शक्तिको बहुत पंगु बना दिया था।' नये सिरेसे यह या वह भाषा सीखना तो इनके लिये सम्भव नहीं था, अतः इन्होंने सरलताका सस्ता नारा लगा कर और भाषाके 'स्टैंडर्डाइज़ेशन' का झण्डा उठा कर ही अपने अव-सरवाद और अज्ञानको 'स्टैंडर्डाइज़' करनेका बीड़ा उठाया। 'ध्वनि' जैसे शब्दको जबर्दस्ती धुनि कहना या 'संस्कृत' से 'संस्कीरतीयत' प्रयोगोंका चालू करना उपर्युक्त कथनके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

आये दिन उपदेश सुने जाते हैं कि हिन्दी-लेखकोंको भाषा सरल लिखनी चाहिये। लेकिन इन उपदेशकोंसे कोई पूछे कि कठिन किन्तु सार्थक भाषा लिखना क्या ऐसा आसान काम है कि निष्प्रयास ही कोई भी कठिन भाषा लिख सकता है और सरल लिखनेके लिये प्रयास करनेकी जरूरत है ? कठिन और अर्थ-बहुल भाषा लिखनेके लिये चाहिए अपार शब्द-भण्डार और गम्भीर विचार विवेचनकी शक्ति। यह दोनों वास्तवमें कितनोंके पास होते हैं ? योंही कोई अण्ड-बण्ड बके तो बात दूसरी है; किन्तु सार्थक तथा सारयुक्त कुछ भी कहना हो, तो स्वाभाविक मार्ग ही अधिक सीधा हुआ करता है। इसमें प्रयासपूर्ण दुरूहताका प्रश्न ही कहां उठता है ? सच बात तो यह है कि हिन्दीके लेखकोंको सरलताका आये दिन उपदेश देने वाले ये व्यक्ति हिन्दीके साधारण ज्ञानसे भी हीन होते हैं, अतः हिन्दीकी प्रत्येक कृति उन्हें कठिन ही जान पड़ती है। इसका इलाज ही क्या ?

पिछली २६ फरवरीको हिन्दुस्तानी प्रचार-सभाका उद्घाटन करते समय महात्माजीने भाषाके नवीन नामकरण (हिन्दीके बदले हिन्दुस्तानी) की उपयुक्तता पर भी प्रकाश डाला था। इस परिवर्तनके मूलमें भी साम्प्रदायिक समझौतेकी नीति ही काम कर रही है। यों तो हिन्दीके ही समान हमारी भाषाका हिन्दुस्तानी नाम भी कई सौ वर्ष पुराना है। अरबके सम्बन्धके लेखोंसे यह ज्ञात होता है कि वहां वाले भारतको 'हिन्द' तथा यहांकी उत्तर-भारतीय भाषाओंको 'हिन्दी' भी कहते थे। परन्तु तुर्कोंने 'हिन्दुस्तान' शब्दका अधिक प्रयोग किया है। कुछ दिनों पहले तक तो अनेक हिन्दीके भाषा-तत्ववेत्ता भी समझा करते थे कि ग्रियर्सनने ही शायद युक्त-प्रान्तकी उत्तर-पश्चिमकी बोलीके लिये 'हिन्दुस्तानी' शब्दका प्रयोग किया था। किन्तु आगे चल कर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने एक प्राचीन व्याकरणके आधार पर सिद्ध किया कि उर्दू-मिश्रित उत्तर-भारतीय भाषाके लिये 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग पोर्चुगीजोंने किया था। किन्तु इससे भी पहले सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें बाबरने अपने जीवन-चरित्रमें 'हिन्दुस्तानी' शब्दका प्रयोग देशके चालू भाषाके अर्थमें किया था। उस समय तो उर्दूका जन्म भी नहीं हुआ था। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन समयमें

भी प्रचलित हिन्दीके ही लिये 'हिन्दुस्तानी' नामका प्रयोग होता था और उसमें फ़ारसी या अरबी या अन्य विदेशी शब्दोंकी मिलावटकी शर्त नहीं थी।

उपर्युक्त अवसर पर ही गांधीजीने कहा था—"बहुत अर्सा नहीं हुआ, उत्तर-भारतके लोगोंकी भाषा एक ही थी। वह उर्दू और देवनागरी लिपियोंमें लिखी जाती थी।···ग्रामीण जनता बड़े-बड़े शब्दोंको, चाहे वे फ़ारसीसे लिये गये हों चाहे संस्कृत से, परवाह नहीं करती।···वह (ग्रामीण जनता) जो भाषा बोलती है, केवल वही भारतकी राष्ट्रभाषा हो सकती है और हरएक हिन्दुस्तानीका कर्तव्य है कि वह उसे सीखे।" महात्माजीके इस कथनसे काफी हलचल मची। लोगोंने सन्देह प्रकट किया कि 'समूचे या केवल उत्तर-भारतकी ही सारी ग्रामीण जनता' कोई एक भाषा नहीं बोलती और न ग्रामीणोंकी भाषा या भाषाएँ इतनी समुन्नत हैं कि उनके आधार पर राष्ट्रभाषा बनायी जा सके। पर यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय, तो ये आशंकाएँ अपने आप मिट जाती हैं। साधारण व्यवहारमें 'भाषा' और 'बोली' शब्दोंका प्रयोग कुछ अनियमित-सा ही किया जाता है। अधिकांश तो इसके भेदको ठीक-ठीक जानते भी नहीं। यदि यह भेद स्पष्ट कर दिया जाय, तो गांधीजीके उपर्युक्त कथनकी आधी सत्यता अपने आप प्रमाणित हो जाती है। यदि सिद्धान्त रूपसे देखा जाय, तो भाषा अधिक व्यापक संज्ञा है, जिससे समान रूप वाली विविध बोलियोंके समूहका ज्ञान होता है—अर्थात् प्रत्येक भाषाका संगठन समान-रूपवाली कई बोलियों तथा उपबोलियोंको लेकर ही होता है। समान-रूपताके प्रधानतः तीन आधार होते हैं—शब्द-भण्डार, शब्द-ग्रन्थन तथा उच्चारण। जिन बोलियोंमें इन तीनों अंगोंकी उचित समानता दीख पड़ती है, वे स्वभावतया एक समूहके रूपमें संगठित हो जाती हैं। इसी समूहको भाषाकी संज्ञा दी जाती है।

इस दृष्टिकोणसे समझनेमें देर न लगेगी कि उत्तर-भारतकी ग्रामीण जनता सचमुच एक ही भाषा-सूत्रमें बंधी हुई है। बोलियाँ विविध एवं विभिन्न अवश्य हैं, किन्तु सामूहिक रूपसे एक ही भाषाके सूत्रसे गुंथी हुई हैं। यही कारण है कि व्रजमण्डल या, राजपूतानेका निवासी अवधीके क्षेत्रमें जाकर भी अपनी बात कहनेमें

या दूसरेको समझनेमें विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करता। भले ही वह अवधी बोलीमें बोल न सके, या अवधीवाला ब्रजमण्डलकी बोलीमें बोलनेमें असमर्थ हो; परन्तु उनका पारस्परिक विचारोंका आदान-प्रदान सुगमतासे हो जाता है। इसी व्यावहारिक सत्यके आधार पर हिन्दीको भाषा कहा जाता है, क्योंकि उसमें अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, बाघेली, बुन्देली इत्यादि कितनी ही बोलियाँ सम्मिलित हैं। उर्दू भी उसीके अन्तर्गत एक बोली ही है, क्योंकि उसका अपना कोई पृथक बोली-समूह नहीं है। इसीसे उसे हिन्दीकी एक शैली एवं बोली कहा गया है और फिर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 'बोली' और 'भाषा' का पारस्परिक अटूट सम्बन्ध है। भाषासे किसी विशिष्ट आदर और बोलीसे निरादरकी सूचनाकी आशका करना अनावश्यक भ्रम है। हिन्दी और उर्दूके इसी सम्बन्धके आधार पर तो राष्ट्र-भाषाकी भित्ति खड़ी है। शब्द-भण्डार, शब्द-ग्रन्थन एवं उच्चारणकी समता इस आधारका बड़ा बल है।

अब प्रश्न आता है इन विविध बोलियोंकी अनुन्नत अवस्थाका। यह शंका भी निराधार है; क्योंकि आज तो राष्ट्रको एक साधारण भाषाकी आवश्यकता है। प्रधानतः अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमयके लिये, राष्ट्र-सन्देशके प्रचार और प्रसारके लिये। विविध प्रान्तीय भाषाओंके पृथक अस्तित्वको न छूनेकी नीतिका अभिप्राय ही यह था। उच्चकोटिके साहित्यकी रचना मनुष्य अपनी मातृभाषामें ही कर सकता है; अतः उस ओर सबको समान अवसर मिलना ही चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रभाषासे तात्पर्य एक प्रकारकी 'सरकारी भाषा' से ही है। निःसन्देह ऐसी भाषाका सफल संगठन प्रचलित बोलियोंके आधारपर ही हो सकता है। लेकिन इस प्रकारसे संगठित हमारे राष्ट्रकी 'सरकारी भाषा' की रूपरेखा भी निश्चित तो होनी ही चाहिये। अब तक इस ओर जितने प्रयास हुए हैं, उनके द्वारा कदाचित् विषमताकी खाई ही अधिक चौड़ी हुई है। सुना जाता है कि सेवाग्रामका विश्वास तो कुछ यह हो गया है कि हिन्दी-साहित्य-सेवी तथा उर्दूके विद्वान एक साथ बैठकर किसी निर्णयपर पहुंच ही नहीं सकते। ऐसे आक्षेप यदि किये जाते हैं, तो सर्वथा अनुचित हैं। हां, दो समानान्तर रेखाओंको मिलानेमें ही यदि विद्वानोंकी परख है,

तब तो दूसरी बात है। अच्छा तो यह हो कि हिन्दी और उर्दू के योग्य विद्वानोंकी दो पृथक समितियोंका सङ्गठन किया जाय तथा उनसे निम्नलिखित रूपसे शब्द-चयन कराया जाय—

समस्त	प्रचलित	क्रियापद
,,	,,	सर्वनाम
,,	,,	विभक्ति-चिह्न
,,	,,	अव्यय
,,	,,	शारीरिक अंग-प्रत्यंगोंके नाम
,,	,,	घरेलू तथा साधारण भारतीय जीवनमें काम आनेवाली वस्तुओं एवं जानवरों आदिके नाम।

इन छः विभागोंमें दिये गये जितने शब्द भी दोनों समितियां दें, उन्हें लेकर एक कोष संकलित कर लिया जाय और ये सभी शब्द राष्ट्रकी 'सरकारी भाषा' के लिए मान्य समझे जायं। उच्च साहित्य निर्माणमें लेखक अथवा कलाकार किन शब्दोंका प्रयोग करें या उनकी भाषाका मापदण्ड क्या हो, इस विषयमें राष्ट्रकी ओरसे किसी विशेष नीतिके निर्धारणकी न आवश्यकता है और न उसके पीछे न्यायका बल ही है, क्योंकि सच्ची कला अपना रूप स्वयं स्थिर करती है। बन्धन अथवा आदेश या तो इस दिशामें निरर्थक सिद्ध होते हैं या फिर कला कुण्ठित होकर दब जाती है।

लिपिकी समस्या—

अब प्रश्न है लिपिका। जातीय शिक्षामें लिपिका प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं है, और विशेषकर जब कि इसके साथ भी धर्म और संस्कृतिका अस्तित्व जुड़ा हो। इस ओर खरी कसौटी तो वैज्ञानिकताकी ही होनी चाहिए, किन्तु वर्तमान वातावरण उसके प्रतिकूल जान पड़ता है। फिर इस सम्बन्धमें तो एक तरहसे निर्णय भी हो चुका है कि भारतीय राष्ट्र देवनागरी तथा फ़ारसी दोनों लिपियोंको समान रूपसे स्वीकार करता है और प्रत्येक सरकारी कार्यवाही दोनों ही लिपियोंमें सुलभ होगी।

और शब्द-कोषकी एकताका स्वाभाविक निष्कर्ष ही यह होगा कि दोनों लिपियोंमें इबारत एक ही होगी। यही उचित भी है।

लेकिन जब प्रत्येक व्यक्तिके लिये दोनों लिपियोंका जानना क्यों अनिवार्य होना चाहिये ? जब इबारत एक ही होगी, तब क्या एक लिपिके जाननेसे काम न चलेगा ? दोनों लिपियोंके जाननेका आग्रह तो कुछ ऐसा ही है, जैसे कि विख्यात वैज्ञानिक न्यूटनके विषयमें प्रसिद्ध है। उनकी एक बिल्ली थी, जिसे वे बहुत अधिक प्यार करते थे। बिल्लीने बच्चे दिये और प्राकृतिक नियमानुसार कभी-कभी वह उन बच्चोंको बाहर भी उठा ले जाती थी। वापस आनेका उसका कोई निश्चित समय नहीं था। वक्त-बेवक्त आकर वह और बच्चे बन्द दरवाजा खोलनेकी चेष्टा किया करते थे। अतएव उनकी सुविधा तथा अपनी शान्तिके विचारसे न्यूटनने दरवाजेमें छेद बनवानेका निश्चय किया। बढ़ईको बुलवाकर उन्होंने कहा कि दरवाजेमें दो छेद बनाओ—एक छोटा और एक बड़ा, ताकि बड़े छेदसे बड़ी बिल्ली भीतर आ सके और छोटेसे छोटे बच्चे। बढ़ई इस आदेशसे असमंजसमें पड़ गया और डरते-डरते उसने पूछा—'क्या बड़े छेदसे छोटे बच्चे भी अन्दर नहीं आ सकेंगे ?' यह सुनते ही न्यूटनको अपनी भूल ज्ञात हुई और ज़ोरसे हँसते हुए उन्होंने कहा—'भाई,तुम ठीक ही तो कहते हो। एकसे ही काम चल जायगा।'

महान व्यक्तियोंकी भूलें भी असाधारण ही हुआ करती हैं।

(विश्वबन्धु २२ अक्टूबर १९४५)

यह बदनाम हिन्दुस्तानी

आजका हिन्दी संसार हिन्दुस्तानी भाषाके नामसे ही चिढ़सा गया है। ज्यों-ज्यों महात्मा गांधी तथा उनके हिन्दुस्तानी संघ वाले इस शब्दको लोकप्रिय बनानेका प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों हिन्दीके भक्त और उपासक इस शब्दको अधिक घृणास्पद एवं त्याज्य समझते जाते हैं। शायद बहुतोंके लिए, और विशेषकर अहिन्दी भाषा-भाषीके लिये हिन्दुस्तानी शब्द नये ज़मानेकी एक खोज है। इसका भी इतिहास किसी प्राचीनताका दावा कर सकता है, यह बहुतोंके लिये एक नयी

आविष्कारसे कम नहीं। लेकिन, आश्चर्य तो तब होता है कि हमारी भाषाका यह नाम काफ़ी प्राचीन होते हुए भी सम्मानित न होकर आज बुरी तरह अपमानित हो रहा है और हिन्दीका विद्वत्समाज इस गुत्थीको सुलझानेका प्रयत्न भी नहीं करता।

समझना तो यह होगा कि हमारी भाषाका यह हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम कब कैसे और क्यों पड़ा ? यदि यह रहस्य संक्षेपमें समझा दिया जाय तो बेसर-पैरकी गुमराही बहुत कुछ दूर हो सकती है। यह कौन नहीं जानता कि प्राचीन समयमें, जब भारतवर्ष अपनी विद्या तथा अपने कला-कौशलके लिये विश्व-विख्यात हो रहा था, उस समय पाश्चात्यके विविध देशोंमें इस गौरवशाली भारतके साथ अपना-अपना सम्बन्ध जोड़नेमें एक होड़-सी मची हुई थी। उन्हींमेंसे अरब भी एक था, वहांके प्राचीन ग्रंथ प्रचुर प्रमाणोंसे भरे पड़े हैं कि अरब वालोंका सम्बन्ध हमारे देशसे काफ़ी घनिष्ट था। न केवल व्यावसायिक क्षेत्रमें वरन् विद्या और बुद्धिमें अरबने भारतसे बहुत कुछ पाया था। वहांके प्राचीन इतिहास ग्रन्थोंमें भारतवर्षका निर्देश प्रायः 'हिन्द' के नामसे ही पाया जाता है। मौलवी सैयद सुलेमान नद्वी साहबने, जो अरबी साहित्यके परम सम्मान्य विद्वान माने जाते हैं, अपनी अनेकों कृतियोंमें प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि अरब वाले इस देशको हिन्द कहते थे, यहांकी प्रत्येक वस्तुको, यहांके निवासियोंको तथा उनके द्वारा बोली जानेवाली भाषाको हिन्दी कहते थे। यहां इतना स्पष्ट कर देना कदाचित् अनावश्यक न होगा कि अरबवालोंका सम्बन्ध विशेष रूपसे केवल उत्तर भारतसे ही था अतः जिस समय भाषाका प्रश्न उठता है, उस समय यह समझ लेना होगा कि हिन्दी भाषासे उनका सम्बन्ध उत्तर भारतकी ही भाषाओंसे रहा होगा। यद्यपि उस प्राचीन कालमें संस्कृतका महत्व मिट तो नहीं गया था, किन्तु यह भी सच है कि आधुनिक भारतीय भाषाएँ विशेषकर उत्तरी और पश्चिमी भारतकी न केवल विकासोन्मुखी ही हो चली थी, वरन् अपना-अपना अस्तित्व भी कायम कर चुकी थीं। अतः अरबोंकी भाषा-विषयक हिन्दी संज्ञासे तात्पर्य निश्चित रूपसे इन्हीं नवविकसित भाषाओंसे रहा होगा।

अरबोंके बाद ईरान और तुर्क देशके निवासियोंका सम्बन्ध इतिहास सिद्ध घटना है। यह नवीन सम्पर्क सांस्कृतिक या व्यावसायिक क्षेत्रमें भले ही नवीन रहा हो,

लेकिन भाषातत्ववेत्ता यह जानता है कि फ़ारसी आर्यभाषाकी शाखा होनेके नाते अपनी बड़ी बहन संस्कृतसे बहुत प्राचीन कालसे सम्बद्ध है। फ़ारसीका 'स्तान' और संस्कृतका 'स्थान' एक दूसरेसे बहुत भिन्न नहीं। संस्कृतका 'सिन्धु' ही फ़ारसीका 'हिन्दू' है। इस नए सम्बन्धने छोटेसे 'हिन्द' नामको बदलकर ईरानियोंके द्वारा 'हिन्दुस्तान' नाम प्रख्यात किया। और पहलेकी ही भाँति यहाँकी प्रत्येक वस्तु और भाषा हिन्दुस्तानी कहलाने लगी।

हिन्दीका वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (संख्या ९ भाग १) में डा० ग्रियर्सनने उत्तरी भारतकी हिन्दी भाषा, उसकी बोलियाँ तथा नामकी आलोचना करते हुए पग-पग पर हिन्दीके साथ 'हिन्दुस्तानी' नामका ज़िक्र किया। अनेक कैफ़ियतें भी उन्होंने दी हैं। उसी सिलसिलेमें अपना मत प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'हिन्दोस्तानी' संज्ञा विशेषकर सरहिन्दमें प्रचलित हिन्दीके उस रूपके लिये जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, लागू होना चाहिए। इसी सिलसिलेमें उन्होंने माना है कि हिन्दुस्तानीमें 'उर्दूपन' का होना अनिवार्य है। उनके इस प्रेमका कारण शायद 'डेविड मिल' का वह व्याकरण होगा जो न शुद्ध रूपमें व्याकरण कहा जाता है और न उसके पीछे भाषाकी किसी व्यापक समीक्षाका प्रमाण है। प्रायः सभी यह जानते हैं कि खड़ी बोली 'बोली' के रूपमें अथवा यों कहना चाहिए प्राकृतिक रूपमें बिजनौर, मेरठ, अम्बाला, सहारनपुर इत्यादि संयुक्त प्रान्तके पश्चिमोत्तर भागमें व्यवहृत होती है। न केवल आजसे वरन् शायद उसी समयसे जबसे कि ब्रजभाषा ब्रजमें या अवधी अवधमें बोली जाने लगी थी। इसी स्थल पर 'हिन्दोस्तानी' नामकी व्याख्या करते हुए पृष्ठ ६ से आठ तकमें डा० ग्रियर्सनने 'डेविड मिल' के हिन्दोस्तानी व्याकरणकी जो १७४३ के लगभग लिखा गया था, चर्चा की है। और उनका अनुमान था कि हिन्दीके हिन्दोस्तानी नामका कदाचित् इससे अधिक प्राचीन कोई प्रमाण प्राप्त नहीं। उपर्युक्त पुस्तकके ही आधार पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जीने कुछ वर्ष पूर्व 'हिन्दुस्तानीका सबसे प्राचीन व्याकरण' शीर्षक एक खोजपूर्ण लेख लिखा था। उनके अनुसार यह व्याकरण कुछ और अधिक प्राचीन ठहरता है। और उसी अनुपातमें हिन्दीका हिन्दोस्तानी नाम भी कुछ वर्ष और पीछे हट जाता है।

इसके बाद अपनी अभी की हालकी लिखी पुस्तक 'हिन्दी एण्ड इन्डो आर्यन लैंग्वेजेज़' में उन्होंने भी डा० ग्रियर्सनकी ही तरह प्रतिपादित किया है कि हिन्दोस्तानीमें 'उर्दूपन' के पुटकी विशेषता आवश्यक है। सम्भवतः इनका यह भ्रम भी डेविड मिल के व्याकरणके आधार पर ही हो या कुछ और ऐसी सामग्री भी इसके लिए जिम्मेदार हो सकती है, जो वैसी ही भ्रमात्मक हो। इसी सिलसिलेमें उन्होंने माना है कि हिन्दुस्तानीमें 'उर्दूपन' का होना अनिवार्य है। उनके इस भ्रमका कारण शायद डेविड मिलका वह व्याकरण होगा, जो शुद्ध रूपमें व्याकरण कहा जाता है और न उसके पीछे भाषाकी किसी व्यापक समीक्षाका प्रमाण है।

लेकिन जैसा ऊपर कहा जा चुका है हिन्दी भाषाका हिन्दोस्तानी नाम योरोपकी देन नहीं। यह तो ईरानी और तुर्कोंके साथ संस्कृति और भाषा साम्यके साथ ही अनायास उत्पन्न हो गया था। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि बाबरने भी अपने जीवन चरित्रमें बड़े स्वाभाविक ढंगसे सरहिन्दमें बोली जानेवाली लौकिक-भाषाके लिए 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग किया था। वहांके शासक दौलतखां पर फ़तह पानेके बाद जब दौलत खां उसके सामने लाया गया, तो वह कहता है—
"I have made him sit down before me and desired a man who understood the Hindustani language to explain to him what I said sentence by sentence in order to reassure him." (Memoirs of Babar Lucas King edition Vol. 2, P. P. 170) इससे यह सिद्ध है कि हिन्दुस्तानी नाम ईरानियों और तुर्कोंके साथ १५ वीं और १६ वीं शताब्दीमें ही आ चुका था। उस समय न शर्त थी फ़ारसी या अरबी शब्दोंकी भरमार की और न उर्दूपन की। क्योंकि, उस समय तक उर्दू भाषाका तो कहीं अस्तित्व भी न था।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सैकड़ों वर्ष तक प्रसरित क्या मध्य और क्या आधुनिक काल तक हिन्दी अपनी स्वाभाविक गतिसे आगे बढ़ती हुई हिन्दी या हिन्दुस्तानी दोनों ही नामोंसे विभूषित थी। अपने जन्मकालसे ही उर्दू, उर्दू ही रही, शायद कोई प्रमाण १९३० के पहलेका प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जब उर्दू का

स्मरण किसी और नामसे किया गया हो या हिन्दुस्तानीका जामा उसने पहननेकी चेष्टा की हो। हिन्दीकी प्रतियोगिता उसकी पुरानी आदत रही। बालमुकुन्द गुप्त की 'उर्दूको मुंहतोड़ जवाब' उसी अवांछनीय प्रतियोगिताका फल था।

तब सहसा प्रश्न उठता है कि आज परिस्थितिमें ऐसा क्या परिवर्तन हो गया कि हम हिन्दुस्तानी नामको भी सहन नहीं कर सकते ? शायद १९२४ की ही बात है जब कानपुरके अपने अधिवेशनमें कांग्रेसने भाषा विषयक अपनी नीतिकी घोषणा की थी और कहा था कि चूंकि कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था है, जनसाधारणकी भाषा ही उसकी भाषा होगी। बहुत समय तक तो यह नीति केवल प्रस्ताव तक ही सीमित रही। लेकिन ज्यों-ज्यों कांग्रेस प्रबल होती गई, उसके प्रस्ताव और उसके निर्णय भी अधिक वास्तविक होने लगे। नीति विषयक भाषाका यह प्रस्ताव भी फिर नवजाग्रत किया गया। सत्यके पुजारी गांधीजी इस प्रस्तावके प्रबल समर्थकोंमेंसे थे। जहां एक ओर प्रांतीयताके रोगी भयभीत होने लगे, दूसरी ओर साम्प्रदायिकताके उपासक मुसलमानोंके दिलोंमें भी कम खलबली नहीं थी। अपनी अन्य अराष्ट्रीय संकीर्णताओंके साथ भाषाके क्षेत्रमें भी उनकी अनुदारता प्रबल हो उठी। हिन्दीको हिन्दुओंकी भाषा घोषित करके उन्होंने उर्दूकी मांग पेश की। सत्य तो यह था जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी देशी भाषाके उस रूपका नाम था जो उत्तर भारतमें स्वच्छन्द रूपसे फल फूल रही थी, जिसमें न भेद था हिंदूका न मुसलमानका। न पक्षपात था संस्कृतके लिए और न बहिष्कार था फारसी या अरबीका। लेकिन पार्थक्यकी इस नई मांगने संकीर्णता की, साम्प्रदायिकताकी एक नवीन अंतर्राष्ट्रीय भावनाओंको जन्म जरूर दे दिया। और हिन्दू मुस्लिम एकताके अनन्य पुजारी गांधीजीके सामने भाषाकी एक नई समस्या खड़ी हो गई। राजनीतिके अन्य क्षेत्रोंमें एकताकी साधनाका मूल पारस्परिक आदान प्रदान ही हुआ करता है, और होना ही चाहिये। बिना कुछ दिए लेना सम्भव नहीं होता और लेनेके लिए देना भी आवश्यक हो जाता है। समझौते की यह नीति राजनीति क्षेत्रमें अवश्य सफल होती है, लेकिन ज्ञानके शिक्षाके और आत्मोन्नतिके क्षेत्रमें यह नुस्खा न कभी लगाया जा सकता है और न लगाया जाना

चाहिये। लेकिन, दुर्भाग्यवश राजनीतिके अखाड़िए इस मर्मको न समझ सके और समझौते की नीति वाला नुस्खा दे ही दिया गया। 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' जैसी संस्थाओंका जन्म तो हो चुका था, जिसके संचालक और कर्णधार हिन्दीसे कोरे उर्दू क्षेत्रमें अज्ञात अवसरवादी इसी ताकमें बैठे थे कि किस प्रकार अपनी लीडरी कायम की जाय। संयुक्त प्रांतकी सरकारी निधिके बल पर उन्हें कमसे कम ऐसी सुविधाएँ प्राप्त थीं ही कि 'मस्तिष्ककुव्वत' जैसे अस्वाभाविक मुहावरे डालकर प्रचारित किए जांए और राम और रहीम दोनोंकी उपासनाका स्वांग रचा जाय। तुरत १९३६ के लगभग एक सुझाव पेश किया गया कि यदि हिन्दीके नामसे मुसल-मानोंको चिढ़ है और उर्दूके नामसे हिन्दुओंको तो इन दोनों नामोंको छोड़कर राष्ट्रभाषाका नाम 'हिन्दुस्तानी' क्यों न रखा जाय और उसके प्रचलित स्वरूपमें शब्दोंके प्रयोग साम्प्रदायिक अनुपातमें ही लाए जांए। इस सुझावकी स्वीकृतिके पीछे नीति थी समझौते की और आज उसीका परिणाम है कि हिन्दुस्तानी अपनी वर्तमान 'प्रतिष्ठा' को प्राप्त हो गई।

(श्री कृष्ण अभिनन्दन ग्रन्थके लिए प्रेषित लेखके आधार पर)

श्री चन्द्रबली पांडे—

[श्री चन्द्रबली पांडेजीके निम्नलिखित विचार तथा 'हिन्दुस्तानी' के भिन्न-भिन्न अर्थके द्वारा हिन्दी और हिन्दुस्तानी संबंधी धारणा पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। राष्ट्रभाषाकी उलझी हुई समस्याके सुलझानेमें श्री पांडेजीका हाथ प्रमुख रहा है। अपनी विद्वत्तापूर्ण अनेक पुस्तिकाओं में आपने हिन्दी, उर्दू, एवं राष्ट्रभाषा संबंधी विचारोंका पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। डाक्टर ताराचन्दके निराधार तर्कोंका उत्तर आपके निम्नलिखित लेखमें प्राप्त होगा।]

डा० ताराचन्द और उर्दू की भाषा

डाक्टर ताराचन्द राजनीतिके पंडित, हिन्दीके प्रतिनिधि, हिन्दुस्तानीके प्रेमी और उर्दूके भक्त हैं। समय-समय पर जिस-जिस रूपमें, जिस-जिस मुंहसे, जो-जो कहते रहते हैं सो-सो सदा चलता ही रहेगा। मुंह रहते भला उनकी मुंहजोरीको कौन रोक सकता है ? परन्तु तो भी कहना तो यही है कि भैया ! कुछ पढ़कर लिखा करो। बचपनमें जो पाठ पढ़ा था, वह जीवनका नहीं जीविकाका पाठ था। सो उससे अब राष्ट्रका काम नहीं चल सकता। सोचो तो सही 'ई ख्यालस्त ओ मुहालस्तको जुनूं' कहां की भाषा है और 'विश्ववाणी' न रही विश्वकी वाणीमें इसकी गणना कहांकी बोलीमें होगी ! आपकी बोली यह भले ही हो पर आपके देशकी तो यह बोली नहीं है। चलते-चलते इस बोलीने तो आपका पता बता दिया कि वस्तुतः आप हो किस खेतकी मूली और चाहते क्यों हो उर्दूको राष्ट्रभाषा। परन्तु नहीं, आपके बहाने हमें राष्ट्रको यह भी तो बता देना है कि वास्तवमें आज आप जो ओट रहे हो उसका रहस्य क्या है। लो सुनो आप ही तो कहते हो—"अङ्गरेजीमें एक कहावत है कि झूठको बार-बार दुहरानेसे वह सच प्रतीत होने लगता है।" आपने तो अंगरेजीके आधार पर प्रतीति की ही बात कही पर यहां संस्कृतमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार चार ठगोंने मिलकर एक ब्राह्मण देवताको ठग लिया और बछवाको बकरा ठहरा दिया। लो, देखो, पढ़ो, सुनो और कहो तो सही कि कुछ ठगोंने मिलकर कहीं आपको भी तो नहीं ठग लिया और आप जैसे न जाने कितने मनीषी प्राणीको अपना पालतू 'सुअना' बना लिया आप कहते हो—

१—"उर्दू, संस्कृत और हिन्दीकी तरह मध्यदेशी भाषा है।"

आप कहते हो—

२—"उसका साहित्य हिन्दीके साहित्यसे बहुत पुराना है, ब्रज और अब के साहित्यसे भी पुराना है।"

आप कहते हो—

३—"उर्दू, हिन्दू मुसलमानोंके मेल-जोलसे बनी है। उसके साहित्य निर्माणमें हिन्दुओंका बड़ा हिस्सा है।"

आप कहते हो—

४—"पन्द्रहवीं सदीसे अठारहवी सदीके आखिर तक उर्दू ही हिन्दुस्तानके सभी निवासियोंकी बिला साम्प्रदायी तफ्रीक़के आम भाषा मानी जाए।" यही न जानते, मानते और चाहते हो? परन्तु सच कहना। यह सीख आपको मिली कहां? किसी मकतब वा पाठशालामें! स्कूलका नाम लेना तो शायद ठीक नहीं। पर देखो उर्दूके विषयमें टांक लो कि—

उर्दू, संस्कृत और हिन्दीकी भांति मध्यदेशकी भाषा नहीं, उर्दूकी भाषा, हाँ, उर्दूकी भाषा, हां, उर्दूकी भाषा है। उर्दूका अर्थ? लो, पहले उर्दूका प्रयोग देखो फिर उसका अर्थ, कहां जाते हो! मीर अम्मन देहल्वीकी 'बागो बहार' को ही उठाकर क्यों नहीं देख लेते? उसके दीबाचामें ही कई जगह मिल जायगा 'उर्दूकी जबान' का प्रयोग देखो, मीर अम्मन किस शानसे लिखता है—

"हकीकत उर्दूकी जबानकी बुजुर्गोंके मुंह सुनी है।"

और "निदान जबान उर्दूकी जबान मंजते मंजते ऐसी मंजी कि किसी शहरकी बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

अथवा 'उर्दूकी बोली' के लिये सैयद इंशा अल्ला खाँकी यह ललकार वा फटकार लीजिये—

"मीरफ़क़ कड़ी कमानको कउरी न बोलिये,
चिल्लाके मुफ्त तीर मलामत न खाइये।
उर्दूकी बोली यह? भला खाइये क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइये।"

जिस उर्दूकी बोलीमें 'उस्ताद 'ममहफ़ी' भी खरे न उतरे उसे डाक्टर ताराचन्द अपनी "मादरी जबान" समझते रहें, पर उर्दूकी सनद' इस जन्ममें तो हासिल नहीं कर सकते, अगलेको राम जानें।

हाँ, तो 'उर्दूकी बोली' का 'माखज' यानी स्त्रोत है शाहजाहानाबाद यानी दिल्लीका लाल किला और उसीका नाम है 'उर्दू ए-मुअल्ला' यानी संक्षेपमें उर्दू, क्योंकि मुंशी मीरअली फ़रमाते हैं :—

'बहुत मैंने यूं इसकी तारीफ़ की

है उर्दूकी बोलीका माखज यही। "(आराइशे मोहफ़िल) अथवा, इधर-उधर अधिक भटकनेसे लाभ क्या? सैयद इंशाने तो अपनी अद्वितीय पुस्तक 'दरियाए लताफ़त' में खोलकर स्पष्ट लिख दिया है—

"ईं मजमा हरजा कि बिरसद औलाद आँहा दिल्ली वाल गुफ्तः शवन्द व महल्लः ईशाँ महल्लः अहल देहली। व अगर तमाम शहर रा फ़रागीरन्द आँ शहर राँ उर्दू नामन्द। लेकिन जमा शुदन ईं हज़रात दर हेच शहरे सिवाय लखनऊ निज्द फ़कीर साबित निस्त। गो बाशिन्दगाने मुर्शिदाबाद व अजीमाबाद बज़ात खुद खुदरा उर्दू दाँ व शहर खुदरा उर्दू दानन्द।"

अस्तु, सैयद इंशाके कहनेका सीधा अर्थ यह है कि यह (शाही) संघ जहाँ कहीं जाता है, इसकी सन्तानको 'दिल्लीवाल' और इसके मुहल्लेको दिल्लीवालोंका महल्ला कहते हैं, और यदि इन लोगोंने सारे शहरको घेर लिया तो उसको उर्दू कहते हैं। किन्तु लखनऊके अतिरिक्त और किसी शहरमें उसका बस जाना, इस जनकी दृष्टिमें सिद्ध नहीं होता। कहनेको तो मुर्शिदाबाद और अजीमाबाद (पटना) में बस जानेवाले भी अपने आपको उर्दूदाँ और अपने शहरको उर्दू कहते हैं।

'उर्दू' का यह अर्थ कितना सटीक और साधु है इसका पता इसीसे चल जाता है कि अभी कुछ दिनों पहले एक स्वरसे सभी 'उर्दू' यानी 'उर्दू-ए-मुअल्ला' यानी 'लाल किला' की जबानको शाहजहाँकी चीज़ समझते थे। इसका एकमात्र कारण

यही था कि उसीने 'लाल किला' बनवाया और नवाब सदरयार जङ्गबहादुरके विचारसे।

"ताशकंद और खूकंदमें अब उर्दू किलाके मानेमें मुस्तामल है। इसीलिये दिल्ली का क़िला उर्दू-ए-मुअल्ला कहलाया होगा।" (मोकालाते उर्दू, मुसलिम यूनिवर्सिटी प्रेस, अलीगढ़, सन् १९३४ ई०,—पृ० ६७)।

उर्दूके विषयमें यह तो स्पष्ट हो गया कि उसका वास्तवमें मध्यदेशसे कोई संबंध नहीं और न वह संस्कृत तथा हिन्दीकी भांति मध्यदेशकी भाषा ही है। भूलो मत। नोट करो कि उर्दू वस्तुतः 'उर्दू' यानी शाहजनाबादके 'लाल क़िला' की ज़बान है। और यदि अब भी यक़ीन न हो तो कुछ और भी देखो। कहते हो—'उसका साहित्य हिन्दीके साहित्यसे बहुत पुराना है, व्रज और अवधीके साहित्यसे भी पुराना है' तो लो, सुनो। सुदूर दक्षिणसे मौलाना बाक़र 'अगाह' की गोहार, आ रही है—

"और हिन्दुस्तान मुद्दत लग ज़बान हिन्दी कि उसे ब्रजभाका बोलते हैं रवाज रखती थी अगरचे लुग़त संस्कृत उनकी अस्ल उसूल और मखरज़ फनून फोरुअ उसूल है, पीछे मुहावरा ब्रजमें अल्फ़ाज़ अरबी व फ़ारसी बतदरीज दाखिल होने लगे। सबबसे इस आमेजिशके यह ज़बान रेखतासे मुसम्मा हुई। जब सनाई व ज़हूरी नज्म व नस्र फ़ारसीमें बानी तर्ज़ जदीदके हुए हैं, वली गुजराती ग़ज़ल रेखता की ईजादमें सभोंका मुल्तदा और उस्ताद हैं। बाद उसके जो सख़ुन संजाने हिन्द ब्रोज़ किए (?) बेशुबहा उस नहजको उससे लिये और भिन बाद उसको बासलूब खास मखसूस कर दिए और उसे उर्दूके भाकेसे मौसूम किए।" (मद्रासमें उर्दू; सन् १९३९ ई०, पृ० ४६।)

ध्यान दो कि बेलोर (मद्रास) से सन् १२११ हि० में मौलाना बाकर क्या कह रहे हैं और आपको 'आगाह' कर किस प्रकार अपने 'आगाह' उपनामको सार्थक कर रहे हैं। कहते हैं कि पहले हिन्दुस्तानमें ब्रजभाषाका प्रचार था—जिसका कोष, पिंगल, अलंकार आदि संस्कृत पर आश्रित था। पीछे उसमें अरबी और फ़ारसीके शब्दोंकी भर्ती धीरे-धीरे होने लगी जिससे उसका नाम रेखता पड़ा। जैसे फारसीके

गद्य-पद्यमें सनाई और जहूरी नवीन धाराके प्रवर्तक माने जाते हैं, वैसे ही वली गुजराती इस नई धाराके। उसके बाद सभी लोगोंने उसका अनुकरण किया और फिर उसको एक ऐसे ढंग पर ढाल लिया कि उसका नाम ही अलग उर्दूको भाषा रख लिया। मौलाना अगाह के कहनेका जो सारांश दिया गया है, उसको देखते ही प्रकट हो जाता है कि सचमुच उर्दू हिन्दी पर से ही बनी और वह थी अथवा आज है भी वस्तुतः उर्दू की ही भाषा। हिन्दी अपनी परम्पराको छोड़कर उर्दू की भाषा वा उर्दू बनी तो कोई बात नहीं। उर्दू के लोग शौकसे उसे मुंह लगाएं। पर राष्ट्रके लोग तो इसी नाते उसे अपनानेसे रहे। किसी पंडित मानी राष्ट्रबन्धुकी हम नहीं कहते। हम तो देशाभिमानी देशी और भाषाभिमानी भाईको कहते हैं।

कहते हो (३) 'उर्दू हिन्दू-मुसलमानोंके मेल-जोलसे बनी है और कहते हो कि 'उसके साहित्यके निर्माणमें हिन्दुओंका बड़ा हिस्सा है।' होगा, उस बड़े हिस्से में आपका कितना है तनिक इसे भी तो बता देते। अथवा किसी आबे हयातमें ही खोल कर दिखा देते। सुनो, देखो और समझो कि यह 'बड़ा हिस्सा' यहाँ किस दृष्टिसे देखा जा रहा है। 'फ़रहंगे आसफ़िया' का नाम तो सुना ही होगा। उसको उठा कर नहीं तो मँगाकर देखो और कहो कि 'सबब तालीफ़' के इस वाक्यका अर्थ क्या है—

"धुनिए, जुलाहे, तेली, तँबोली, क़सबाती, देहाती, जितने खेतके लिखे पढ़े थे सब लठ ले ले के लुग़त निगार, फ़रहंग नवीस बन गए। जो देहली या लखनऊको आँख खोलकर न देखा हो, मगर हमारे पहले एडीशनने लाला भाइयोंसे लेकर दीगर क़लम क़साइयों तक को मौवल्लिफ़, मुसन्निफ़ बना दिया।"

(जिल्द अव्वल, पृ० २८)

'धुनिए, जुलाहे' को तो जाने दीजिए क्योंकि वे 'मोमिन मुसलमान हैं और हैं भी इस देशमें मुसलमानोंमें आधेके लगभग, परन्तु 'लाला भाइयों' और दीगर क़लम क़साइयों' को न भूलिए। कारण कि उनके विषयमें उर्दू के इमाम डाक्टर मौलवी अब्दुल हक़का कहना है—

"उस वक्तके किसी हिन्दू मुसन्निफ़की किताबको उठाकर देखिए। वही तर्जे-तहरीर और वही असलूबे बयान है। इब्तदामें बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मनक़बतसे शुरू करता है। शरई इस्तेलाहात तो क्या, हदीस व नस कुरान बेतकल्लुफ़ लिख जाता है। इन किताबोंके मुतालासे किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमानकी लिखी हुई नहीं। उर्दू रिसाला, अंजुमने तरक्की ए उर्दू, देहली, सन् १९३३ ई०, पृ० १४)

कहो तो सही मामला क्या है ? यह हिन्दू-मुसलिम-मेल जोल है या हिन्दुत्वका विनाश ? क्या इसीको देखनेके लिए पानी पी-पीकर हिन्दीको सराप रहे हो और इधर उधरकी बात सुना हिन्दुस्तानको ठगना चाहते हो ? यदि नहीं, तो माजरा क्या है ? अरे ! कुछ तो समझ बूझ, देख-सुन कर लिखो। हिन्दी और संस्कृत को पढ़ो, गुनो और फिर कहो कि पीड़ा क्या है और हिन्दू-मुसलिमका मिला-जुला मार्ग क्या है। उर्दू ? फिर वही बात ? अच्छा सिद्ध कर तो दिखाओ ? देखें कितने पानीमें हो। अथवा व्यर्थ ही पानी पीट अपना पानी गवाँ रहे हो।

कहते और बड़े तपाकसे कहते हो कि (४) 'पन्द्रहवीं सदीसे अठरवीं सदीके अख़ीर तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमान शिष्टोंकी भाषा थी ! कहा और कह ही तो दिया पर देखा इतना भी नहीं कि दुनिया हिन्दकी मुसल्मानी दुनिया भी इसके विषयमें क्या कहती है। सुनो। मुहम्मदशाह 'रंगीला' का दरबार लगा है और कोई 'सुजान' गा रही है—

किताबमणि कुरान दीनमणि कलमा अदबमणि
आदम कामन हवा रागनमणि भैरों भाषामणि
अजकी जोतमणि दीपक दीपकमणि नार दोजख
शीतल भलो भिहिस्त ऐसी भात सुजान अस्तुती कीनी।
(संगीत राग कल्पद्रुम द्वितीय भाग पृ० २६४)

किन्तु आप तो फारसीके जीव ठहरे अतः लीजिए फारसीको और देखिए भी इसे फारसीके चश्मेसे। देखा ? कट्टर आलमगीर औरंगजेबके शासनमें उसके परम

प्रिय पुत्र अथवा जिस किसीके लिये लिखा जा रहा है 'ब्रजभाषा' का व्याकरण और उसमें बताया जा रहा है--

"व जबान अहल बृज अफसह जबान हा अस्त आंचि मियान दोआब गंगा व जमुना कि दो रुद मशहूर अन्द वाक़ाशुद अस्त, मिस्ल चन्दवार वग़ैरः व फ़साहत मसूब अस्त। व चन्दवार नाम मौज़ाअ अस्त मारुफ व मशहूर। व चूं ईं ज़बान शामिल अशआर रंगीन व इबारत शीरीं व वस्फ़ आशिक़ व माशूक़ अस्त, व बर ज़बान अहल नज्म व साहब तबा बेश्तर मुस्तामल व जारी अस्त। बिना वरां वक़्तायद कुल्लियः आं गरदारखतः आमद।" (एग्रामर आव ब्रजभाषा, विश्वभारती बुक शाप, कलकत्ता १९३५ ई०, पृ० ५४-५५)

अपनी भाषामें मीरज़ा खांके कहनेका अर्थ है कि---ब्रजभाषियोंकी भाषा सभी भाषाओंमें श्रेष्ठ है। गंगा और यमुनाके बीचमें जो देश है, जैसे चन्दवार आदि वह भी शिष्ट गिना जाता है। चन्दवार एक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध स्थान है। चूंकि इसी भाषामें प्रिय-प्रिया की प्रशंसा और सरस एवं अलंकृत कविता है तथा यही भाषा शिष्टों और काव्यकी व्यापक भाषा है, इसलिए इसके व्याकरणकी रचना की जाती है।

देखा ? क्या दिखाई दिया ? यही न कि ब्रजभाषा ही शिष्ट, समृद्ध तथा व्यापक काव्यभाषा है और उसीमें 'मीरज़ा' भी अपना मुंह खोल लोगोंके जी में पैठते ? अरे! यह वह समय है जब औरंज़ेब-सा कट्टर गाजी भी 'सुधारस' और 'रसना विलास' का भक्त है किसी अरबी तकबीका कदापि नहीं। विशेष जानकारीके लिए पढ़िए इस जनको 'मुगल बादशाहोंकी हिन्दी' को।

संभव है क्या, निश्चित है कि आपने 'मीरजा खांके उक्त व्याकरणको नहीं पढ़ा और नहीं पढ़ा किसी ऐसे ग्रंथको जिसमें उर्दूकी हक़ीकत खोल कर बताई गई होगी, तो भी आपने 'खान आरज़ूका नाम तो अवश्य सुना होगा। कारण यह कि हिन्दुस्तान के फारसीदानोंमें तीनमें वह भी एक हैं और उर्दूके उस्ताद भी। किन्तु उनकी उर्दू धारणाको देखकर श्री हाफ़िज़ महमूद शेरानी साहब दंग रह जाते और आपको बतानेके लिए ही मानों लिख जाते हैं---

'सबसे ज्यादा जिस बातसे ताज्जुब होता है यह है कि खान देहलीकी ज़बान और उर्दूको भी वक़अतकी निगाहसे नहीं देखते। उनके नज़दीक हिन्दुस्तानी ज़बानोंमें सबसे ज्यादा शाइस्ता और मुहज़्ज़ब ज़बान ग्वालियारी है।" (ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, लाहौर, नवम्बर सन् १९३१ पृ० १०)

कहनेकी बात नहीं कि खान आरज़ूकी ग्वालियारी ब्रजभाषासे भिन्न नहीं। प्रसंगवश इतना और जान लें कि खान आरज़ूका निधन सन् ११६९ हि० में हुआ और इसी सन्में उर्दूके आदि उस्ताद मियाँ हातिमने अपने 'दीवानजादा' के 'दीबाचा' में स्पष्ट लिखा—

"दरीं विला अज़दह दवाज़दह साल अकसर अल्फ़ाज रा अज़-नज़र अन्दाख्तः लिसाने अरबी व ज़बाने फ़ारसीके क़रीबुल फ़हम कसीरुल् इस्तेमाल बाशद व रोज़मर्रः देहली कि मिर्ज़ायाने हिन्द वफ़सीहाने रिन्द दर मुहावरः दारन्द मंजूर दाश्तः।" (सौदा, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली ई० १९३९ पृ० २९ अवतरित)

शाह हातिमका स्पष्ट कहना है कि इस कालमें ग्यारह बारह वर्ष तक बहुतसे शब्दोंको त्याग कर अरबी व फारसीके शब्द जो सुगमतासे समझमें आते हैं और प्रयोगमें अधिक आते हैं और दिल्लीके रोज़मर्राको कि हिन्दके मिर्ज़ाओं (मुगल राजकुमारों) और फ़सीह सूफ़ियोंके व्यवहारमें रहे हैं, मंजूर किया गया है।

शाह हातिमने यहीं अपने आप यह भी खोल कर कह दिया है—"सिवाय आँ ज़बाने हर दयार ता ब हिन्दवी कि आँ रा भाका गोयन्द मौक़ूफ़ करदः (वही)

अर्थात् इसके अतिरिक्त चारों ओरकी भाषा यहाँ तक कि हिन्दवीको जिसे भाका कहते हैं छोड़ दिया।

डाक्टर ताराचन्द क्या कहते हैं इसे कौन कहे ; परन्तु उनकी दशा ठीक वही है कि डाक्टर कहता है रोगी मर गया और रोगी कहता है—मैं जीवित हूं। अब आप ही कहें सच्चा कौन है ? रोगी या डाक्टर ? देखिये तो सही। हातिम स्वयं कहते हैं कि हमने अड़ोस-पड़ोसकी भाषा यहाँ तक कि हिन्दीको भी छोड़ दिया और ग्रहण किया 'मिर्ज़ायाने हिन्द व फ़सीहाने हिन्द' अर्थात् 'उर्दूकी बोली' को और उसमें ला दिया अरबी-फ़ारसीके मुहावरोंको और इधर हमारे डाक्टर ताराचन्द न जाने

किस डाक्टरीके जोममें और न जाने किस विद्या और न जाने किस बूतेपर दोष देते हैं हिन्दीको। गाल बजाने और कलम चलानेसे उन्हें मुग्ध भाइयोंमें प्रतिष्ठा और यारोंकी मुहफ़िलमें दाद मिल सकती है पर किसी शिष्ट और सभ्य समाजमें उनका सत्कार नहीं हो सकता। कारण कि वस्तुतः ऐसे ही वह जीव हैं जो न जाने कितने दिनोंसे राष्ट्रमें विनाशका बीज बो रहे हैं और जानते इतना भी नहीं कि उर्दू उसी बीजकी पौध है। लो, यहीं उर्दूकी उस दिव्य लीलाको भी देख लो जो हातिमके कथनानुसार ११-१२ वर्षसे चल रही थी। सुनो, अदीबुलमुल्क नव्वाब सैयद नसीर हुसैन खां साहब फ़रमाते हैं जिन्होंने उर्दूकी अनसुनी हो जाने पर लखनऊके 'हिन्दू-मुस्लिम पैक्टकी सदस्यताको तलाक दे दिया था। उनका कहना है, किसी 'सभाई' या 'फोर्टविलियम कालेज' को नहीं कहते हैं।

"उमदतुल्मुल्कने, और उमराके मशविरःसे, देहलीमें एक उर्दू अंजुमन कायम की। उसके जल्से होते, जबानके मसयले छिड़ते. चीजोंके उर्दू नाम रक्खे जाते, लफ्ज़ों और मुहावरों पर बहसें होतीं और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छानबीनके बाद 'अंजुमन' के दफ्तरमें वह तहक़ीकशुदा अल्फाज़ व महावरात कलमबन्द होकर महफ़ूज किये जाते ; और बक़ौलं 'सियरुल मुताखरीन' इनकी नक़लें हिन्दके उमरा व रूसा पास भेज दी जातीं और वह उसकी तक़लीदको फ़ख़्र जानते और अपनी-अपनी जगह उन लफ्ज़ों और मुहावरोंको फैलाते।" (मुग़ल और उर्दू, एस-ए उसमानी एंड सन्स फियर्स लेन कलकत्ता १९३३ ई० पृ० ६०)।

बिहारकी हिन्दुस्तानी कमेटी, नहीं नहीं, बिहारके सिर मढ़ी गई हिन्दुस्तानकी हिन्दुस्तानी कमेटीके आप भी एक मेम्बर हो, इसलिये इस अंजुमनके 'बड़े रगड़ों-झगड़ों' को खूब समझ सकते हो, अगर समझना और समझसे काम लेना चाहो तो नहीं तो 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' से तो ब्रह्मा भी हार मान चुके हैं फिर किसी 'चन्द्र' की बिसात ही क्या ? सो भी किसी 'चन्द' को समझाने की ?

अच्छा तो देखो कि सन् ११६९ ई० हि० में जो ११-१२ वर्षसे कोशिश हो रही थी सो क्या थी ? यही उर्दू अंजुमनकी कोशिश न ? तो ११६९ में से ११ व १२ को निकाल दो और कहो खुलकर तुरत कहो कि सन् ११५७—५८

हिजरीमें उमदतुल्मुल्कने और उमरानेके मशविरःसे 'दिल्ली'में उर्दूको जन्म दिया। घबड़ाओ नहीं, देखो, सुनो और जानो कि नव्वाब सआदत अली खां के दरबार लखनऊमें सन् १२२३ हि० में सैयद इंशा सा भाषाशास्त्रीने किस सचाई से लिख दिया—

"खुशबयानान ओजा मुत्तफ़िक़ शुदः अज़ जबानहाय मुताद्दिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूदः व दरबाजे इबारात व अल्फ़ाज तसर्रुफ़ बकार बुर्दः जबाने ताजः सिवाय जबानहाय दीगर बहम रसानीदंद व उर्दू मौसूम साख्तन्द।" (दरियाए लताफत, वही पृ० २)

इसीका आप ही के साथी अल्लामा दत्तातिरिया 'कैफी' का किया हुआ उर्दू अनुवाद, नहीं नहीं तरजमा है—

यहांके खुशबयानोंने मुत्तफ़िक़ होकर मुताद्दिद जबानोंसे अच्छे अच्छे लफ्ज़ निकाले और बाजे इबारतों और अल्फाजमें तसर्रुफ करके और जबानोंसे अलग एक नई ज़बान पैदा की, जिसका नाम उर्दू रखा।" दरियाए लताफत. अंजुमन ए तरक्कीए उर्दू १९३५ ई० पृ० २)

"और ज़बानोंसे अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।" उर्दू क्यों रखा ? कारण स्पष्ट है। वह उर्दूकी भाषा जो थी।

'खुशबयानों' के विषय में सैयद इंशाने जो कुछ लिखा है, उसे पढ़ें तो पता चले कि हिन्दू तो क्या, हिन्दी मुसलमान तो क्या, बाहरके सैयद भी 'खुशबयान' नहीं गिने गए। कारण यही कि वे हिन्दुस्तानी दलके साथ थे और 'तूरानी दल' से बराबर लोहा लेते थे। 'खुशबयानों' के बारेमें संक्षेपमें जान लें कि

"यह लोग तुर्कीउलस्ल थे या फारसी उलस्ल या अरबी उलस्ल, यह हिन्दीकी मुताबक़त किस तरह कर सकते थे ?" (फरहंगे आसफिया, मोकद्दमा)

अब आप ही कहो और सच कहो, दिल पर हाथ रख कर कहो. और मुँह खोल कर कहो। सचमुच सच कहो कि बात क्या है ? कहते हो, फिर भी कहते हो (५) "आज भी उसका हक़ है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिन्दुस्थानके सभी निवासियोंकी बिला सम्प्रदायी तफ़रीक़के आम भाषा मानी जाय।

कहो। किस मुँहसे। कहांसे और किससे क्या बोल रहे हो! उधरसे तो खमठोंक कर डंकेकी चोट पर कहा जा रहा है—

"हम अपनी ज़बानको मरहठीबाज़ों लावनीबाज़ोंकी ज़बान, धोबियोंके खंड, ज़ाहिल ख्यालबन्दोंके ख्याल, टेसूके राग यानी बेमर व या अल्फाजका मजमूआ बनाना कभी नहीं चाहते और न उस आजादानः उर्दूको ही पसन्द करते हैं जो हिन्दुस्तानके ईसाइयों, नवमुसलिम भाइयों, ताज़ः विलायत साहबलोगों, खानसामाओं, खिदमतगारों, पूरबके मनहियों कैम्प ब्वायों और छावनियोंके सतयेम्फड़े बाशिन्दोंने एख्तयार कर रखी हैं। हमारे ज़रीफुल् तबादोस्तोंने मज़ाकसे इसका नाम पुड्डु रख दिया।" (फरहंगे आसफिया, सबब तालीफ)

काफिर हिन्दुओंको तो पूछता ही कौन है? किताबी ईसाइयों और इसलामी 'नवमुसलिम भाइयों' की भी कभी हिन्दू होनेके नाते उर्दूमें यह गत बनी। हम डाक्टर ताराचन्द और उन जैसो विचार, नहीं नहीं 'धुनधारा' वाले प्राणीसे कुछ नहीं कहना चाहते, क्योंकि हम भली भांति जानते हैं कि बाँस पर चन्दनका प्रभाव नहीं पड़ता और कुत्तेकी दुम कभी सीधी नहीं होती—हाँ वह 'हिज मास्टरस वायस' के काम खूब आता है। पर हिन्दी ईसाइयों और हिन्दी नव मुसलिम भाइयोंसे इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि कुछ भी अपनी तथा अपने देशकी लाज है, तो अपनी हिन्दीको अवश्य अपनाओ और उस उर्दूको दूरसे नमस्कार करो जो सन् ११५७ का ४८ हि० (सन् १७४४-४५ ई०) में बिलगार और इस देशके अपमान के लिये 'तुरानी' मुसलमानों द्वारा गढ़ी गई और जो आज भी हमारी भूलके कारण हम पर हावी हो हमारी छाती पर मूँग दल रही है—जाने किस पकवानके लिये?

हिन्दीकी हिमायत क्यों ?

'हिन्दुस्तानी' नीतिकी भाषा हो सकती है, प्रतीतिकी कदापि नहीं, हिन्दुस्तानी भीतिकी भाषा बन सकती है, प्रीतिकी कदापि नहीं। × × ×

× × × यही नहीं स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन जैसा भाषा-मनीषी भी हिन्दी या हिन्दवीकी इस प्रभुताको मानता है और अपनी भारतकी भाषा-पड़तालमें स्पष्ट लिखता

है कि समस्त गंगाकी तलेटीमें, बंगाल और पंजाबके बीचमें, एक ही भाषा हिन्दी अपने भिन्न-भिन्न रूपोंमें बोली जाती है ।

× × × हिन्दुस्तानीके विषयमें अब तक जो कुछ कहा गया है, उसका सार है कि—

(१) हिन्दुस्तानी=हिन्दुस्तानी=हिन्दू—परंपरागत अर्थ ।

(२) हिन्दुस्तानी=हिन्द=इंडियन—सरकारी अर्थ ।

(३) हिन्दुस्तानी=हिन्दी=नागरी—फोर्टविलियमका अर्थ ।

(४) हिन्दुस्तानी=खरी हिन्दुस्तानी=उर्दू—फोर्टविलियम कालेजका अर्थ ।

(५) हिन्दुस्तानी=हिन्दवी=देशभाषा—भाषा-विज्ञानका अर्थ ।

(६) हिन्दुस्तानी=हिन्दी+उर्दू—भारत सरकार तथा हिन्दुस्तानी एकाडेमीका अर्थ ।

(७) हिन्दुस्तानी=हिन्दी+उर्दू—हिन्दी—उर्दू—0—महात्मा गांधीका अर्थ ।

("हिन्दीकी हिमायत क्यों ?"—काशी नागरी प्रचारिणी सभा)

मौलवी महेश प्रसाद—

[श्री मौलवी साहबके निम्नलिखित लेखके द्वारा स्पष्ट हो जायगा कि महर्षि दयानन्दजी को अबसे ७४ वर्ष पहले एक भाषाकी आवश्यकताका अनुभव हुआ था । तारीफ़ यह कि हिन्दीमें भाव प्रकट करनेका सुझाव दिया एक अहिन्दी भाषी अर्थात् बंगभाषीने । इससे तो प्रकट ही हो जाता है कि हिन्दीका माध्यम ही श्रेयस्कर है और अहिन्दी भाषी जनोंकी प्रान्तीय भाषाको राष्ट्रभाषा बनानेकी मांग करना भ्रमात्मक है । महर्षि स्वयं अहिन्दी भाषी थे और सुझाव देनेवाले भी थे अहिन्दी भाषी, किन्तु दोनोंको हिन्दी भाषा ही के द्वारा विचार प्रकट करना सुविधाजनक जान पड़ा । श्री स्वामीजी महाराजका हिन्दी प्रेम निम्नलिखित सूचनापूर्ण लेख द्वारा स्पष्ट हो जायगा । श्री दयानन्दजी ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने १८७८ ई० में पत्रके ऊपर पते आदि हिन्दीमें लिखने पर ज़ोर दिया था ।]

श्रीस्वामी दयानन्दजी और हिन्दी

श्री स्वामी दयानन्दजीने सन् १८६३ ई० अर्थात् लगभग ३९ वर्षकी आयु तक केवल संस्कृत पढ़ा। इसके पश्चात् जब कार्य-क्षेत्रमें उतरे तो संस्कृत ही में भाषण देना आरम्भ किया। संस्कृत ही में वे वार्तालाप करते थे। वे संस्कृत में ही पहले पत्र-व्यवहार करते थे और संस्कृतको उन्नतिके लिये ही उन्होंने पाठ-शालाएँ खोली थीं।

सन् १८७३ ई० में फरवरी या मार्चकी बात है कि कलकत्तामें उनके संस्कृत शब्दोंका हिन्दी अनुवाद श्रोताओंके सम्मुख एक अनुवादकने अशुद्ध रक्खा, इस पर उनको श्री केशवचन्द्रजी सेन ने परामर्श दिया कि वे अपने भाव हिन्दी भाषामें प्रकट किया करें। इसके सिवाय यह भी स्पष्ट रहे कि उनके समयमें बहुतसे शिक्षित हिन्दुओंमें उर्दू-फ़ारसीका अच्छा चलन था। वे संस्कृतसे कोसों दूर थे। निदान दो कारण मुख्य थे, जिनसे उन्होंने हिन्दीको अपनाया, ताकि जनता उनके विचारोंसे भलीभाँति लाभ उठा सके।

श्री स्वामीजीकी मातृ-भाषा गुजराती थी और उन्होंने संस्कृतका ही अभ्यास व अध्ययन मुख्य रूपसे किया था। उनके लिये सहसा यह बात सहज न थी कि वे अपने विचारोंको हिन्दीमें प्रकट कर सकते। परन्तु हिन्दीमें अपने विचारोंको प्रकट करनेकी समस्या उनके लिये ऐसी न थी कि जिसमें बहुत समय लगानेकी आव-श्यकता होती। अस्तु, उन्होंने हिन्दीका अभ्यास करके सबसे पहला व्याख्यान हिन्दीमें मई सन् १८७४ ई० में काशीमें दिया।

सत्यार्थप्रकाशका जो दूसरा संस्करण है, उसीके आधार पर प्रचलित सत्यार्थ-प्रकाश है, इसकी भूमिकामें शब्द हैं : —

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने और पठन-पाठनमें संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमिकी भाषा गुजराती होनेके कारणसे मुझको इस भाषा (हिन्दी) का विशेष परिज्ञान न था।"

सत्यार्थ-प्रकाशके पहले संस्करणकी रचना सन् १८७४ ई० में मईके कुछ ही दिनों बाद हुई है, अतः स्पष्ट है कि सन् १८७४ ई० में उनको हिन्दीका परिज्ञान विशेष रूपसे नहीं हुआ, बल्कि इसके पश्चात् ही हुआ और फिर उन्होंने शेष आयु पर्यन्त व्याख्यान, ग्रन्थ-रचना व पत्र-व्यवहार आदिमें हिन्दीसे ही विशेष रूपसे काम लिया। निदान श्री स्वामी दयानन्द और हिन्दीसे सम्बन्ध रखने वाली निम्नलिखित बातें बड़े महत्वकी हैं।

(१) श्री स्वामी दयानन्दके कारण जो गुरुकुल व शिक्षालय आदि खुले, उनके द्वारा हिन्दीका बहुत प्रचार हुआ।

(२) श्री स्वामीजीने हिन्दीको आर्य-भाषा भी कहा है, जैसा कि चौदहवें समुल्लासकी अनुभूमिकामें आया है – जो कुरान अरबी भाषामें है उस पर मौलवियोंने उर्दूमें अर्थ लिखा है, उस अर्थका देवनागरी आर्यभाषा कराके ....

(३) हिन्दीकी लिपिका नाम देवनागरी भी कहा है; जैसा कि उक्त शब्दोंके सिवाय दूसरे समुल्लासके शब्द यह हैं जो बालकोंकी शिक्षाके निमित्त कहे गये हैं—जब पांच-पांच वर्षके लड़का-लड़की हों, देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास करावें।

(४) सन् १८८२ ई० के आरम्भमें अंगरेजी सरकारकी ओरसे कलकत्तामें एक कमीशन बैठा था, जिसका उद्देश्य इस विचारके निमित्त था कि भारतीय स्कूलोंमें कौन-सी भाषा पढ़ाई जाये। इस सम्बन्धमें इन्होंने बड़ा उद्योग किया था कि हिन्दी राजकार्यमें प्रवृत्त हो, अनेक स्थानोंसे मेमोरियल भेजे जानेका प्रयत्न किया था। इस बातकी पुष्टि उनके पत्र-संख्या २९८, ३३१ व ३३२ से होती है, जो "ऋषि दयानन्द सरस्वतीके पत्र और विज्ञापन" नामक ग्रन्थ प्रकाशित संवत् २००२ वि० के पृ० ३२५, ३६६, ३६७ व ३६८ में है।

(५) उनकी हार्दिक इच्छा थी कि समस्त वेदोंका अनुवाद हिन्दी भाषामें कर दें। अपने जीवनमें सम्पूर्ण यजुर्वेदका अनुवाद कर सके और बहुत-सा अंश ऋग्वेद का कर सके। यदि उनको और आयु मिलती तो चारों वेदोंको हिन्दीमें कर जाते।

(६) वेद—भाष्य प्रति मास थोड़े-थोड़े अंशोंमें प्रकाशित होता था। वह चाहते थे कि जिन लिफ़ाफ़ोंमें डाक द्वारा वेद-भाष्यका अंक भेजा जावे, उन पर पता

हिन्दीमें लिखा जावे। अतः अपने पत्र-लिखित ७ अक्टूबर सन् १८७८ ई० में श्री पं० श्यामजीकृष्ण वर्माको लिखा था—तुम बाबू हरिश्चन्द्रसे कहो कि अभी इसी पत्रके देखते ही देवनागरी जानने वाला रख लेवें, कि जो काम ठीक-ठीक हो, नहीं तो वेद-भाष्यके लिफ़ाफ़ों पर किसी रजिस्टरके अनुसार ग्राहकोंका पता किसी देवनागरी वालेसे नागरीमें लिखा कर डपास किया करें।

(७) श्री स्वामीजीके समस्त ग्रन्थोंके विषयमें मोटा-सा लेखा लगाया जावे, तो समस्त सामग्री साढ़े नौ इञ्च व छः इञ्चके आकारमें लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठोंकी ठहरेगी। उसमेंसे सम्भवतः दो-तिहाईसे कुछ अधिक सामग्री हिन्दीकी होगी और शेष संस्कृतकी होगी। लिखित ग्रन्थोंमें से कुछका प्रकाशन बहुत ज्यादा हुआ है। उदाहरणार्थ जानना चाहिये कि सत्यार्थ-प्रकाश केवल हिन्दीमें ही लगभग तीन लाख छप चुका है।

अब अन्तमें यह कहना अनुचित नहीं कि जिस प्रकार श्री स्वामीजी महाराजका व्यक्तित्व धार्मिक व सामाजिक सुधारोंके विषयमें बड़े महत्वका है, उसी प्रकार हिन्दीकी वृद्धि तथा उन्नतिके सम्बन्धमें कुछ कम महत्व नहीं है। *

डा० रघुवीर—

[इस लेखमें डा० रघुवीरने हिन्दीके बोलनेवालों तथा समझने वालोंकी संख्या बताकर प्रमाणित किया है कि हिन्दी राष्ट्रभाषाके योग्य है। यहाँ तक कि समस्त संसार भरमें इसका स्थान सर्वोच्च है। अतः यदि न्यायपूर्ण विचार न किया गया तो—'अन्याय ही नहीं, किन्तु एक प्रकारकी उन्मत्तता होगी'। साथ ही उन्होंने देवनागरी लिपि पर भी 'राष्ट्रलिपि-के-योग्य-है' विवेचन किया है। हिन्दू-मुस्लिम समस्याके कारण एक नवीन

---

* उपर्युक्त लेख श्री मौलवी महेशप्रसादजी आलिम फ़ाज़िल ने कृपा कर लिख भेजा है। मैंने उनसे श्री दयानन्दजीकी हिन्दी सम्बंधी सूचनाएँ माँगी। उत्तरमें अनुग्रह कर उन्होंने कुछ सूचनाओंको इस रूपमें भेज दिया। —ले०

भाषाकी सृष्टि करना एक भ्रमात्मक प्रयास है। इस पर भी आपने प्रकाश डाला है कि पंजाब और बंगालके मुसलमानोंकी भाषा एक न होने पर भी उन्होंने एक राष्ट्र बनाया। उर्दूको राष्ट्रभाषा माना। इस समस्याको सुलझानेके नाम पर अन्यायको प्रश्रय देना बुद्धिमानी नहीं है।]

हिन्दी भाषाकी रक्षा करो, यही समय है

इस समय देश भरमें विचारोंका संघर्ष चल रहा है। स्वतन्त्रताके आते ही प्रश्न उठता है कि भारतवर्षको अब किस दिशामें प्रगमन करना है। एक सहस्र वर्षोंके पश्चात् अब ऐसी स्थिति आयी है कि हम लोग निश्शङ्क और निर्भय होकर अपना यथार्थ हित और कल्याण सोचें। दीर्घकालीन दासताने हमारे मस्तिष्कको इतना भाराक्रान्त कर दिया है कि आज सर्वथा स्वतन्त्र स्थितिमें होकर स्वतन्त्र रूपमें सोचना भी कठिन हो गया है। सात-आठ शताब्दियोंतक तो मुसलमानोंका, उसके पश्चात् दो-तीन शताब्दियोंसे अंग्रेजोंका आधिपत्य रहा। किसी बाहरी जातिका हम पर राज्य न हो, इसकी आवश्यकताको तो सब लोग जानते ही हैं। राजनीतिक क्षेत्रमें एक सहस्र वर्षोंसे हम पर जो-जो अत्याचार किये गये, उनकी भी चोट हमारे हृदयों पर आज भी अङ्कित है; किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्रमें हम किस प्रकारसे पददलित किये गये और अब किस प्रकारसे सीधे खड़े होकर हमको आगेकी ओर चलना है, इसका विचार देशमें बहुत थोड़े लोगोंको है। जो लोग चोटी पर बैठे हैं, वे तो एक प्रकारसे अपने हृदयको और मस्तिष्कको मुसलमानों और अंग्रेजोंके समर्पण कर चुके हैं। उनको हिन्दू-धर्मसे, हिन्दू संस्कृतिसे विशेष प्रेम नहीं; इनकी रक्षा करनी है—ऐसी उनकी धारणा नहीं। हिन्दू भारतवर्षमें बहुसंख्यक हैं, इसलिये इस देशमें हिन्दुओंका ही राज्य होना चाहिये—इस विचारको वे लोग अपने समीप तनिक भी फटकने नहीं देते। हिन्दू शब्द तथा इसके साथ सम्बद्ध कोई भी वस्तु उनकी झुँझलाहटका कारण बन जाती है। यों तो आधुनिक राजनीतिके पण्डित बहुसंख्यकोंके राज्यके पक्षपाती हैं; किन्तु यह सर्वसामान्य, सर्वसम्मत राजनीतिक सिद्धान्त हिन्दुओं पर नहीं लगाया जा सकता। यदि इसको लगा दिया जाय तो भारतवर्षमें

पुनरपि वेद और शास्त्रकी ध्वनि गूँज उठेगी ; फिर यहाँकी राज्य-प्रणाली मनु, याज्ञवल्क्य तथा कौटिल्य पर निर्भर होगी—न कि रोमन और ग्रीक सिद्धान्तों पर—सोचनेका स्थान है कि भारतवर्षका भावी राज्य यदि हिन्दू राज्य न होगा तो वह 'स्व'राज्य कैसे कहलायेगा ।

भारतीय संस्कृति और हिन्दू-संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं । इन शब्दोंकी व्याख्या करनेके लिये बहुत समय और स्थान चाहिये । आजके लेखमें हम केवल एक छोटे से प्रश्न पर विचार करेंगे । यह प्रश्न है भाषाका । भारतवर्षकी एक राष्ट्रभाषा कौन-सी मानी जाय, किस भाषाको प्राधान्य दिया जाय, किस भाषामें विधान-परिषदोंका कार्यवहन किया जाय ? भारतवर्षमें प्रधान भाषाएँ हिन्दी, बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, कन्नड़, तेलगू , तामिल और मलयालम हैं । इनमेंसे हिन्दी भाषाके बोलने और समझनेवाले २५ करोड़के लगभग हैं । बंगलाके ५ करोड़ और तेलगूके ४ करोड़ । शेष भाषाओंके दो करोड़ अथवा उससे भी कम हैं । स्पष्टतः हिन्दी भाषाका स्थान भारतमें ही नहीं, परन्तु संसारमें भी ऊँचा है । केवल चीनी भाषाका लिखित रूप ही हिन्दीसे अधिक व्यापक है । अंग्रेजी-भाषियोंकी संख्या हिन्दी-भाषियोंसे अधिक नहीं । रूसी-भाषियोंकी संख्या तो हिन्दी-भाषियोंसे आधी भी नहीं । यदि हिन्दी भाषाको राजनीतिक नेता और हमारी विधानकर्त्री सभाएँ प्रधानता देनेमें आनाकानी करें तो यह अन्याय ही नहीं, किन्तु एक प्रकारकी उन्मत्तता होगी । हिन्दीके स्थानमें किसी नयी भाषाका निर्माण करना विचित्र प्रकारका दुराग्रह अथवा मिथ्या दर्शन है ।

देवनागरी लिपिका स्थान हिन्दी भाषाकी अपेक्षा भी विस्तृत है । मराठी और नेपाली भाषाएँ इसी लिपिमें लिखी जाती हैं । गुजराती भाषी भी इस लिपिका पर्याप्त प्रयोग करते हैं (उदाहरणार्थ बड़ौदा राज्य) । देवनागरी लिपि इतनी सरल, सम्पूर्ण तथा वैज्ञानिक है कि इसका प्रयोग भारतवर्षकी सभी भाषाओंके लिये हो सकता है । यही नहीं, देवनागरीकी वर्णमालाका क्रम आरम्भसे ही भारतका वर्णक्रम है । कोई भी भारतीय लिपि ऐसी नहीं, जिसमें यह वर्णक्रम विद्यमान न हो । देवनागरी लिपि संस्कृतकी मुख्य लिपि है (यद्यपि बंगला, उड़िया और दक्षिणकी

लिपियोंमें भी संस्कृतके ग्रन्थ प्रतिवर्ष छपते हैं, तथापि उनका प्रयोग केवल अपने-अपने प्रान्तमें ही होता है)। संस्कृतके द्वारा तो देवनागरी लिपिको विश्वव्यापी लिपि कहा जा सकता है। आक्सफोर्ड और लन्दनमें, पेरिस, बर्लिन और टोकियोमें—जहाँ-जहाँ भी संस्कृतका अध्ययन होता है, वहाँ-वहाँ देवनागरीका अध्ययन होता है। उपर्युक्त नगरोंमें तो देवनागरीके मुद्रणालय हैं, जिनमें भारतकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं। देवनागरी लिपि भारतीय सभ्यताका विशेष अङ्ग है। इसका स्थान कोई भी दूसरी लिपि कदापि नहीं ले सकती। बंगला, गुजराती, आसामी आदि भारतीय लिपियां देवनागरीकी छोटी बहिनें हैं। यह हो सकता है कि इन बहिनोंमेंसे किसीको भी सीखना देवनागरी जाननेवालेके लिये कठिन नहीं है; किन्तु फ़ारसी-जैसी लिपिको, जो विदेशी है, जो भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे दीन, हीन, दरिद्र और दोषपूर्ण हैं, देवनागरीके समान स्थान देना तो भयानक भूल और स्पष्ट देशद्रोह है। पिछली दस शताब्दियोंके इतिहासका अध्ययन कीजिये और समझिये कि फ़ारसी लिपिका प्रवेश विदेशी राज्यसत्ताके समाप्त होनेके पश्चात् फारसी लिपिकी भी समाप्ति हो जानी चाहिये। यदि इस देशके कुछ लोगोंने इस लिपिको अपनाया है और अपनी जन्म-भूमिकी लिपिको जान-बूझ कर भुलाया और ठुकराया है तो यह उन लोगोंका देशद्रोह हैं। उन्हें मार्ग पर लाना हमारा धर्म है, न कि उन लोगोंकी अपनी देशद्रोही विचारधाराका पोषण करना। फ़ारस देश स्वदेश नहीं, फ़ारसी लिपि स्वदेशी लिपि नहीं, फ़ारसीका साहित्य स्वदेशी साहित्य नहीं और फ़ारसी राज्य स्वदेशी राज्य नहीं। भारतीय शिक्षालयोंमें फ़ारसी, अरबी और संस्कृतको जो समान स्थान दिया जाता है, यह सर्वथा मिथ्यादृष्टिका परिणाम हैं। कहाँ देववाणी संस्कृत हमारी जननी, हमारी मातामही, हमारी धात्री, पोषणकर्त्री हमारे शरीरकी उच्छ्वास और कहाँ अरबी-फ़ारसी, जिनका सम्बन्ध इस देशके साथ ही नहीं रहा है, जो आज अंगरेजीका है। वस्तुतः हमारे दुर्भाग्य, दुर्बलता, मूर्खताके दुर्विपाकोंका नाम अरबी, फ़ारसी और अंग्रेजी है। इन दुर्विपाकोंको दूर करनेका अब समय आ गया। वीर और विक्रान्त, सौम्य और शान्त, धीर और उदात्त सभी उपायोंसे अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपने राज्यकी स्थापना, अभिवृद्धि और रक्षा करनेके

लिये हमको कटिबद्ध हो जाना चाहिये। जिन लोगोंने उर्दू, फारसी और अंग्रेजी का पठन-पाठन किया है, जो लोग इन भाषाओंके पण्डित हैं और जिन्होंने इस देशकी भाषाकी अवज्ञा, उपेक्षा और अवमानना की है, वे लोग यदि आज हमारे सामने नेताके रूपमें आकर हमको आर्यपथसे, धर्ममार्गसे, संस्कृतसेवासे, स्वसंस्कृति-श्रद्धासे परे हटाना चाहते हैं, अपने पदसे उखाड़कर हमको दूर फेंकना चाहते हैं, तो हिन्दू-धर्मावलम्बियो ! तुम्हारा भी परमधर्म बन जाता है कि तुम उन नेताओंके ऐसे असत् प्रयत्नको कभी सफल न होने दो। आज समय आ गया है कि इन मार्ग भूले हुए नेताओंको नाकमें नकेल डालनी होगी और इनको कुमार्गसे सुमार्ग पर लाना होगा। यदि भारतवर्षको राजनैतिक स्वतन्त्रता अपेक्षित थी तो वह सप्रयोजन थी। उसका प्रयोजन, महान् प्रयोजन, अतिश्रेष्ठ प्रयोजन एक था और है— वह है भारतीय संस्कृतिकी रक्षा और वृद्धि। हमारे नेताओंके सामने यह प्रयोजन नहीं है। उनको नये ज्ञान-चक्षु देना हमारा कर्त्तव्य है। जिस प्रकारसे भारतकी शारीरिक भूख आज विकराल रूपमें सामने खड़ी है और उसका निराकरण करना शारीरिक जीवन के लिये आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार भारतकी आध्यात्मिक भूख भी पराकाष्ठाको पहुँच चुकी है, उसका निराकरण भी उतना ही अभीष्ट है।

हिन्दुस्तानी भाषा एक मनुष्यकी कल्पना है, जिससे कहा जाता है कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर रह सकेंगे हम पूछते हैं कि क्या बंगालमें हिन्दू-मुसलमानोंकी भाषा एक न थी ? क्या बंगाल और पञ्जाबके मुसलमानोंकी भाषा एक थी, जो उन्होंने एक राष्ट्र बनाया ? हिन्दू-मुस्लिम-समस्याका सम्बन्ध भाषाके साथ नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या भाषाकी समस्यासे भिन्न है। इस समस्याको सुलझानेके नामपर हिन्दीका हनन करना कदापि उचित नहीं। इस समस्याके नामपर हिन्दुओंमेंसे हिन्दूभावनाको निकाल देना घोर पातक है। आजतक हिन्दुओंने जहां-जहां मार खायी हैं, उनका एकमात्र कारण है उनका संगठित न होना और उनमें हिन्दू-भावनाकी तीव्रताका अभाव। हिन्दुओंमें एकताका सूत्रपात हुए बिना भारत कभी आगे न बढ़ सकेगा। और उसके बिना हिन्दू-मुस्लिम-समस्या भी नहीं सुलझेगी।

हिन्दी भाषाका सम्बन्ध एक ओर संस्कृतिसे है तो दूसरी ओर भारतकी समस्त प्रान्तीय भाषाओंसे। *हिन्दुस्तानीका सम्बन्ध भारतवर्षके किसी प्रान्तसे नहीं है।* हिन्दुस्तानीमें जो शब्द हिन्दी भाषाके हैं, वे ठीक हैं; क्योंकि वे भारतीय हैं। किन्तु हिन्दुस्तानीमें जो शब्द विदेशी हैं, वे तो विदेशी ही हैं; उनको भारतीय राष्ट्रका आधार बनाना कहाँकी बुद्धिमत्ता है?

'कल्याण' के पाठकोंका, 'कल्याण' के धर्मपरायण हिन्दूसभ्यताभिमानी धर्मनिष्ठ पाठकोंका कर्त्तव्य है कि विधान-परिषद्के सदस्योंको हजारों, लाखोंकी संख्यामें पत्र पहुंचा दें और उनको बतला दें कि हिन्दी भारतवर्षकी एकमात्र भाषा शुद्ध संस्कृतमयी हिन्दी, और एकमात्र लिपि देवनागरी है। इन दोनोंकी प्रधानताको किसी भी प्रकारसे संकुचित करना, कलङ्कित करना, दूषित करना, भारतकी राजसमिति का कार्य नहीं हो सकता।

आजकलके युगको वैज्ञानिक अथवा यन्त्रयुग कहा जाता है। इस युगमें जन्म लेकर विज्ञान और यन्त्रोंका प्रयोग अनिवार्य है; किन्तु विज्ञान और यन्त्रोंका प्रयोग करनेके लिये हमको वैज्ञनिक शब्दोंकी आवश्यकता पड़ेगी। अभीतक यहां अंग्रेजी भाषाका साम्राज्य रहा है। अंग्रेजी भाषाने हमारी भाषाओंको नहीं उठने दिया। जिस प्रकारसे मुस्लिम राज्यके कारण न्यायालयोंकी भाषाओं पर अरबी और फारसीके शब्दोंका अध्यारोप किया गया और भारतीय शब्दोंको बाहर निकाल दिया गया, उसी प्रकार विज्ञानके क्षेत्रमें प्रारम्भसे अंग्रेजीका आधिपत्य रहा। अँग्रेजी राज्यके समाप्त होते ही उनकी भाषाकी भी समाप्ति होना आवश्यक है। हमारे बहुतसे नेता अंग्रेजीकी प्रधानताको दूर करना नहीं चाहते। स्वतन्त्रताका नाम जपते हुए भी उनके रोम-रोममें अंग्रेजीका प्रेम भरा है; किन्तु हम तो निश्चय कर चुके हैं कि हमारे देशमें अंग्रेजीका साम्राज्य नहीं रह सकेगा। उसके स्थान पर हिन्दी-साम्राज्य होगा। भारतवर्षमें दूसरी कोई भाषा नहीं, जो विज्ञानके सारे शब्दोंको दे सके। हिन्दीके शब्द संस्कृतसे लिये जानेके कारण भारतवर्षकी सभी प्रान्तीय भाषाओंको ग्राह्य होंगे। विज्ञानके चाहे कितनेसे कितने कठिन शब्द क्यों न हों, इन सबके लिये ही संस्कृत धातुओंके आधारपर शब्द बन जाते है। उदाहरणके

लिये पक्षियोंके ही एक-दो वैज्ञानिक नाम ले लीजिये। Corvus Corax laureucei का हिन्दी नाम पश्चिम द्रोण काक है। ये कौवे भारतके पश्चिम भाग पजाब आदिमें होते हैं। Nucifraga Caryocattacts Hemispila का नाम हिमालय श्वेतबिन्दु फलप्रिय है। इसी प्रकार अन्य विषयोंमें Authemis nobilis कर्पूर-पुष्प। इस वृक्षके फूलोंमें कपूर-जैसी सुगन्ध होती है। Ancylostomidae अङ्कुशमुख। ये बहुत छोटे छोटे प्राणी होते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके मुखपर अंकुशके समान अंग निकला होता है। undroecium पुमंग। यह वृक्षोंकी पुरुषेन्द्रिय है। वृक्षोंमें भी पुरुष और स्त्री—दो लिंग होते हैं। Anemophilious वातपरागित—जिनमें परागको वात ले जाती है, मक्खी आदि नहीं। Ornithopter चपलक्ष विमान। अर्थात् ऐसा विमान जिसके पंख हिलते रहते हों —इत्यादि-इत्यादि। हम स्वयं इस काममें पिछले सोलह वर्षोंसे लगे हुए हैं और एक लाखसे अधिक शब्द हम संस्कृत भाषासे ले चुके हैं। इन शब्दोंका सम्बन्ध विज्ञानकी लगभग सभी मुख्य शाखाओंसे है। ढूंढ़ने पर भी, तथा कोटि यत्न करने पर भी हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू, अरबी, फारसी और तुर्की अथवा इन सबके मेलसे विज्ञानके शब्दोंकी पूर्ति न होगी। हैदराबाद राज्यने लाखों रुपये व्यय किये और कुछ थोड़े बहुत शब्द बनाकर हार बैठे और अंगरेजीका मुख ताकने लगे। हमको तो अंग्रेजी का मुख ताकनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि हिन्दुस्तानीका आश्रय लिया गया तो कभी भी ऐसा समय नहीं आयगा, जब हम अंग्रेजी भाषाकी दासता, अर्थहीनता, संकीर्णता और जटिलतासे मुक्ति पायेंगे। जो लोग हिन्दुस्तानीके पक्षपाती हैं, वे अंगरेजीके समर्थक हैं। शुद्ध भारतीय सभ्यता, धर्म, भाषा, विज्ञान और दर्शनका उदय होनेके लिये भारतका मस्तिष्क स्वतन्त्र होना चाहिये। इसपर किसीका बोझ नहीं पड़ना चाहिये। यदि मुसलमानों और ईसाइयोंका दृष्टिकोण विदेशी है तो शिक्षाद्वारा, युक्तिद्वारा तथा राजनीतिक शक्तिका प्रयोग करके उनको स्वदेशी बनाना चाहिये। यह बात बहुत कठिन अथवा असम्भव नहीं है। यदि ऐसा न किया गया तो भारतका प्राचीन गौरव नष्ट हो जायगा, हमारी सांस्कृतिक पैतृक संपत्ति

विलुप्त हो जायगी और हम दीन, हीन, इतिहास-शून्य जंगली जातियोंके समान फारस, अरब और इंगलैंडके द्वार पर भिखारी बन जाएंगे। पर हिन्दीका आश्रय लेनेपर हिन्दू-संस्कृति बची रहेगी और जो कुछ भी भारतमें गौरवास्पद वस्तुएँ शेष हैं, उनको अपनी आधारशिला बनाकर हम पुनरपि संसारके अग्रगामी नेता बन सकेंगे।

'कल्याण' से

(सात्विक जीवन, सितम्बर १९४७)

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन—

[भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने अपने इस लेखमें 'हिन्दुस्तानी' को, हिन्दू-मुस्लिम एकताकी पृष्ठभूमि पर प्रतिपादन करने वाले तर्कोंके खोखले-पनको स्पष्ट कर दिया है। यदि गांधीजी इसका समर्थन भी करते हैं, तो यह उनका मोह-मात्र है। मोह तथा यथार्थमें यथेष्ट अन्तर है।]

बापू—हिन्दुस्तानीका मोह छोड़ो

यह जो हमारे पश्चिम और पूर्वमें देशके दोनों सिरोंको कलम कर दिया गया है, हम उसके लिये 'विभाजन' जैसे नरम शब्दका प्रयोग कर 'आत्म-वञ्चना' नहीं करना चाहते। वह देशका वैसा ही अंग—विच्छेद है, जैसा आजसे ४२ वर्ष पहले 'बंग भंग' हुआ था। उस समयकी 'राष्ट्रीयता' आजकी इस सठियाई हुई 'राष्ट्रीयता' से अच्छी थी। वह बंग-भंगका सहन न कर सकी थी। हमने आज बंग-भंग ही नहीं, पंजाब भंगको भी न केवल सहन किया, बल्कि उसे स्वीकार किया है। ब्रिटिश कूटनीतिने हमें संसारके सामने देशके अंग-विच्छेदकी मांग करने वालोंके रूपमें खड़ा किया है।

लोग कहते हैं, कि अन्तमें आत्मबलकी ही विजय होती है'। होती होगी, आज तो कूटनीतिकी ही विजय हुई है।

प्रश्न उठता है, क्यों हुई ? दूसरोंको दोष देना अपनी मूर्खता तथा अपने अपराधको छिपानेका सर्वोत्तम साधन है। उससे कोई लाभ नहीं। बापूने अभी

दो ही दिन हुए, अपनी प्रार्थनामें कहा कि यह प्रसन्न होनेकी घड़ी नहीं है, यह आत्म-विश्लेषणकी और आत्म-निरीक्षणकी घड़ी है।

हमें लगता है कि आज हमें यह सत्य स्वीकार करना ही चाहिये कि पिछले पचीस-तीस वर्षसे हम जिस साम्प्रदायिकता रूपी बबूलको जान-अनजान सींचते रहे हैं, उसमें 'सम्पूर्ण देशकी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता' रूपी आम्रफल कभी लग ही नहीं सकता था।

जिस दिन हमने साम्प्रदायिक चुनाव स्वीकार किया, जिस दिन हमने सम्प्रदाय विशेषको साथ लेनेके लिये खिलाफ़त आन्दोलन जैसे आन्दोलनको एक राष्ट्रीय आन्दोलनके रूपमें स्वीकार किया, जिस दिनसे हम गुलामोंकी राजनीति और राष्ट्र-नीतिमें यह हिन्दू-मुस्लिम-एकताका वहम आ घुसा, वह देशके दुर्भाग्यका दिन था।

हम समझते रहे कि हम 'हिन्दुओं' और 'मुसलमानों' को मिलानेके लिये आन्दोलन कर रहे हैं, किन्तु वे सब हिन्दू-चेतना तथा मुस्लिम-चेतनाको पृथक्-पृथक् बढ़ानेके आन्दोलन सिद्ध हुए। × × ×

× × × ×

काश! इस देशका पिछले ३० वर्षका राष्ट्रीय आन्दोलन उसमें सम्मिलित होने और न होने वालोंके मज़हबोंकी ओरसे सर्वथा उदासीन रह सकता।

आजसे पांच वर्ष पहले बापूकी प्रेरणासे जो 'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' की स्थापना हुई, वह हमारी विनम्र सम्मतिमें इसी दूसरी तरहकी साम्प्रदायिक—मनोवृत्तिका परिणाम थी। किसी बोतल पर गलत लेबल लगा होनेसे उसके अन्दरकी दवाईमें अन्तर नहीं पड़ जाता। 'राष्ट्रीयता' का लेबल आखिर कितने दिन किसी चीज़की रक्षा करेगा।

'स्वराज्य' के लिये 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' अनिवार्य और 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' के लिये 'हिन्दी-उर्दू-एकता' अनिवार्य। यही तो रही इस 'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि।

यहाँ राष्ट्र-भाषाका प्रश्न राष्ट्र-भाषाका प्रश्न नहीं रहा। यहाँ राष्ट्र-साहित्यका प्रश्न राष्ट्र-साहित्यका प्रश्न नहीं रहा। यहाँ सभी कुछ 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' की

बलिवेदी पर निछावर कर दिया गया और एकता भी ऐसी जो प्रति वर्ष किये और तोड़े जाने वाले हिन्दू-मुस्लिम पैक्टोंकी श्रृङ्खलाका ही एक दूसरा नाम।

समाचार-पत्रोंमें छपा था कि दिल्लीकी भङ्गी बस्तीमें डा० राजेन्द्र बाबू और श्रीमन्नारायण अग्रवाल बापूसे हिन्दुस्तानी प्रचारके बारेमें बातचीत कर रहे हैं। सोचा था, यह स्वाभाविक है। देशमें इतनी बड़ी उथल-पुथल किस विचारधाराको, किस हृदयवान्‌को कुछ सोचने समझने पर मजबूर न करेगी।

कुछ दिनके बाद श्री श्रीमन्नारायण अग्रवालका एक वक्तव्य पढ़नेको मिला, जिसका शीर्षक अधिकांश हिन्दी-पत्रोंमें 'देशकी राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी' था। आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। ध्यानसे पढ़ा, उस वक्तव्यमें श्री श्रीमन्नारायण अग्रवालने हिन्दुस्तानीके बारेमें अपना सन्देह व्यक्त किया था और कहा था कि यदि पाकिस्तान की भाषा उर्दू हो गयी (उन्हें इसमें सन्देह है) तो फिर भारतमें हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेके आन्दोलनको रोकना कठिन हो जायगा।

हमने श्री श्रीमन्नारायण अग्रवालके इस सन्देहका स्वागत किया, क्योंकि सन्देहसे ही ज्ञान पैदा होता आया है, पहले सन्देह पीछे ज्ञान।

किन्तु इसके बाद उनका एक दूसरा वक्तव्य भी पढ़नेको मिला है, जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तानी-प्रचार सभाके मंत्रीकी हैसियतसे इस बातकी घोषणा की है कि सभाकी रीति-नीति वही रहेगी, जो आज तक रही है।

ऐसा लगता है कि पहला वक्तव्य श्री श्रीमन्नारायण अग्रवालके अपने व्यक्तिगत विचारोंकी ओर निर्देश करता है और उनका दूसरा वक्तव्य हिन्दुस्तानी-प्रचार सभाके मंत्रीकी हैसियतसे किया गया कर्तव्य पालन है।

हिन्दुस्तानी प्रचार-सभाके अध्यक्ष मान्य राजेन्द्र बाबू हैं। उनके कभी इस बारेमें एक वक्तव्य भी न देनेसे ही हिन्दुस्तानीके बारेमें उनका उत्साह स्पष्ट हो जाता है। हाँ, बापूके व्यक्तित्वके आगे राजेन्द्र बाबूके समान 'यथा नियुक्तोसि तथा करोमि' का इतना शानदार उदाहरण दूसरा है ही नहीं।

सच्ची बात है बापू ही हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा हैं। वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में नहीं रहे—इसका सम्मेलनको हार्दिक दुःख हुआ, उनके मार्ग-दर्शनसे वह वंचित हो गया। यह उसकी हानि हुई, लेकिन तो भी सम्मेलन जैसे-तैसे जीवित है और हिन्दुस्तानी प्रचार-सभासे यदि आज बापू अपना नाम हटा लें तो...... ।

इसलिये इधर बापूका जो प्रार्थना प्रवचन हुआ है, वह सब कुछ है और है बहुत ही महत्वपूर्ण।

इस प्रार्थना-प्रवचनको हमने कई बार पढ़ा। उसमें भावनाकी ऐसी और इतनी अधिक पुट है, जो किसीके भी चिन्तनके लिये घातक है। बापूके प्रार्थना-प्रवचनके तीन हिस्सेमें उन्होंने स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानीको लेकर आज देश उनका साथ देनेको तैयार नहीं है। उन्होंने इसे औरोंके द्वारा छोड़ दिया गया पन्थ कहा है। उन्होंने कहा है वह अकेले रह गये हैं और रवि बाबूके उस प्रसिद्ध गीतकी भावनाके अनुसार उन्होंने कहा है कि 'यदि तेरी बात सुन कर कोई साथ नहीं देता है तो अकेला चल।' क्या हमें हमारे बापू इतना निवेदन करनेकी आज्ञा देंगे कि राष्ट्रीय कार्यक्रम तो राष्ट्रके साथ देने और न देने पर ही निर्भर करते हैं। हां, अध्यात्म की सड़क पर आदमी जितनी दूर तक चाहे अकेला आगे बढ़ सकता है।

दूसरी बात बापूने अपने सम्मेलन छोड़ देनेका कारण बताया है। हमें यह अयथार्थ लगता है। इन्दौर सम्मेलनके ही समय भाषाके बारेमें यदि बापूकी वही दृष्टि होती जो इधर चार-पाँच वर्षोंसे उन्होंने अपनाई है, तो बापू इन्दौर सम्मेलनके समयसे सम्मेलनमें न होते। बापू प्रायः पुरानी बोतलमें ही नई शराब भरनेके अभ्यासी हैं। इसलिये वह अपनी भाषा-सम्बन्धी इस नई रीति-नीतिको इन्दौर सम्मेलन तक खींच ले जाना चाहते हैं। बापूकी भाषा-सम्बन्धी विचारधारा बापूके लिये पुरानी रही हो, किन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलनके लिये वह नई ही थी। सम्मेलन बिना अपनी परम्पराके लाज किये उसे स्वीकार नहीं कर सकता था। बापूका सम्मेलन छोड़नेका यही यथार्थ कारण है। हां, यों कोई भी चाहे तो किसी भी बातको अनैतिहासिक ढंग पर पेश कर ही सकता है।

तीसरी बात हमारी अपनी भावनाको भी इतना व्यक्त करती है कि उसे छूते डर लगता है। माताएँ अपने मृत पुत्रसे भी चिपटी रहती हैं। ऐसी हालतमें कोई आश्चर्य नहीं कि बापू देशके इस अंग-विच्छेदको देशका अंग-विच्छेद स्वीकार ही न करें। बापूके ये शब्द कितने मार्मिक हैं—'मेरा राष्ट्र तो हिन्दुस्तानमें भी है, पाकिस्तानमें भी है। मुझे कोई कहीं भी नहीं रोक सकता। जिन्ना साहब रोकें। मैं कोई अलग प्रजा थोड़े ही बन गया हूँ। जिन्ना साहब मुझे कैद करें। मैं पासपोर्ट लेने वाला नहीं हूँ।' अखण्ड भारतके प्रति इन पंक्तियोंमें इतना मोह है कि प्राणोंमें पैठता चला जा रहा है। किन्तु हे भारतके भाग्य निर्माता बापू! यदि मनमें यही जलन छिपाये रहे तो इसे अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें क्यों न व्यक्त किया? यदि कांग्रेसके नेताओंको तुम्हारा—नहीं आपका और केवल आपका आशीर्वाद न प्राप्त हुआ होता, तो शायद एक बार हारी बाजी फिर जीत जाते। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेसकी बैठकमें केवल एक 'आदमी' ने 'अकेले' चलनेका साहस किया था—श्रद्धेय टण्डनजीने। काश! आपने वही पक्ष ग्रहण किया होता।

और बापू! अब पासपोर्टके लेने न लेनेसे वस्तु-स्थितिमें अन्तर नहीं आता। सिंहल विदेश है। वहाँ जानेके लिये किसी पासपोर्टकी आवश्यकता नहीं। यदि 'पाकिस्तान' और भारतकी सरकार चाहे तो यह अनिवार्य नहीं कि पासपोर्टकी प्रथा आरम्भ हो जाय। यदि ऐसा हो तो किसीको भी पासपोर्ट लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी और यदि हिन्दुस्तान—भारतसे पाकिस्तान जानेके लिये पासपोर्टकी आवश्यकता होगी, तो पाकिस्तानसे 'भारत' आनेके लिये पासपोर्टकी आवश्यकता होगी ही। बापू किसी भी योग्य अधिकारीको आज्ञा देकर आपको भारतमें 'वीसा' लेने और पाकिस्तानसे 'पासपोर्ट' माँगनेकी वैधानिक क्रिया फार्मैलिटीसे मुक्त किया ही जा सकता है। जिन्नाकी सरकार भी इतना सौजन्य दिखा ही सकती है, किन्तु क्या इससे भारत अखण्ड हो जायगा?

अब वस्तु स्थिति बदल गई है—देशमें निश्चित रूपसे परिवर्तन हो गया है। १५ अगस्तको जिस दिन संसार भारतको 'डोमिनियन-स्टेटस' दिया जाना समझेगा, उस दिन देशके अंग-विच्छेद पर पक्की मोहर लग जायगी।

तब हमें अपनी राष्ट्रभाषाकी गाड़ीको सुनिश्चित मार्ग पर दृढ़ताके साथ आगे बढ़ाना ही होगा। बापू! देश आपसे नये मार्ग-प्रदर्शनकी आशा रखता है।

साम्प्रदायिकताकी राह चलनेका परिणाम हम भुगत चुके। अब हमें केवल राष्ट्रीयताकी राह चलना होगा। (संसार २७ जुलाई, १९४७)

श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'—

[श्री शिलीमुखके राष्ट्रभाषा' से उद्धृत निम्नलिखित कुछ अंशोंसे प्रकट हो जाता है कि कैसी भाषा राष्ट्रभाषाके योग्य हो सकती है। उस कसौटी पर हिन्दी ही उतरती है! कृत्रिम भाषाका प्रयास व्यर्थका शक्ति क्षय है।]

× × ×

अंगरेजी केवल राजभाषा है। वह राष्ट्रभाषा नहीं है और न हो सकती है। राष्ट्रभाषामें जहाँ व्यापकता अभिप्रेत है, वहीं उसमें राष्ट्र भावनाके पोषक तत्वोंका होना भी अनिवार्य है और राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का संयोग-सूत्र राष्ट्रदेशकी मौलिक-संस्कृतियों में हुआ करता है। जो भाषा भारतके सांस्कृतिक अपनेपनकी रक्षा कर सकती है—(रक्षा का क्या प्रश्न है? भाषा एवं संस्कृति की सहोदरा हो, अथवा उसका एक अंग है)—वही भारतकी राष्ट्र भाषा बन सकती है। ऐसी ही भाषाके द्वारा देशांगोंमें एक सूत्रता और पारस्परिक सहानुभूति तथा भारतव्यापी एकनिष्ठताका विकास हो सकता है।

तब यह कहना पड़ता है कि भारत की राष्ट्र भाषा कोई भारतीय भाषा ही हो सकती है। व्यवहार की दृष्टिसे हिज्जे, उच्चारण, व्याकरण आदिकी कठिनाइयाँ इतनी अधिक और उतनी व्यापक न होंगी जितनी किसी एकदम विदेशी भाषाको अपनाने से होती हैं, और उसका शब्दकोष भारतीय आवश्यकताओंके अधिक अधिक उपयुक्त रहेगा। राष्ट्रीयता की दृष्टिसे भारतीय भाषा बोलने वालेको झूठी हंस की चाल चलनेका अवकाश उतना अधिक न मिल सकेगा।

भारतमें अनेक भाषाएँ हैं। इनमें से किसे हम अपनी राष्ट्र भाषा बनाएँ? व्यवहार की उपयोगिताको देखते हुए, व्यापकताके उद्देश्य से, यह आसानीसे कहा जा सकता है कि जो भाषा सबसे सरल और देशमें सबसे अधिक प्रचलित होगी, वही राष्ट्रभाषा बननेकी अधिकारिणी है।

प्रान्तीय भाषाओंमें एकराष्ट्रताके तत्व तो मिल जाएंगे। किन्हीं-किन्हींमें तो काफ़ी अधिक। बंगाल और मराठी भाषाओंने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ सँभाल-सुधार कर रक्खा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भारतीयके नाते बंग और महाराष्ट्र देश परिवर्तनके युगोंमें बहुत समय तक देशके शत्रुओंसे प्रबल मोर्चा लेते रहे हैं और अपनी जातीय राष्ट्रीय भावनाओंको वे निरन्तर जागरूक रखते रहे हैं। सच-मुच ही यदि देखा जाय तो संस्कृति और राष्ट्रीयताके दृष्टिकोणसे बंगाल या मराठीसे अधिक उपयुक्त अन्य कोई भाषा राष्ट्र-भाषा पदके लिये नहीं मिल सकेगी। परन्तु इन तथा दूसरी प्रान्तीय भाषाओंमें, व्यवहारकी दृष्टिसे, बड़ी भारी त्रुटि अव्यापकता की है।

प्रान्तीय भाषाएं अपने-अपने प्रान्तोंमें ही सीमाबद्ध हैं। राष्ट्र-सीमाके दृष्टिकोणसे उन्होंने अपना विस्तार नहीं किया है। अतएव किसी ऐसी भाषाकी अपेक्षा जिसने प्रान्तोंकी परिधिको पार कर लिया है, प्रान्तीय भाषाओं का राष्ट्रीय-सभा बननेका दावा अधिक नहीं हो सकता। × × ×

× × × भारतमें केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जो प्रान्तोंकी परिधि से बहुत काफ़ी बाहर निकल चुकी हैं और इसलिये राष्ट्रभाषा की पदवीके लिये आपसमें प्रतिस्पर्धिनी कही जा सकती हैं। ये हैं हिन्दी और उर्दू। ये किसी प्रान्त विशेषमें सीमाबद्ध नहीं हैं। वैसे कहनेको इन दोनोंका स्थान संयुक्त प्रान्त है, पर संयुक्त-प्रान्तसे बाहर भी इन दोनोंका प्रचार है। दोनोंमें तुलना करके देखा जाय तो हिन्दी अपने प्रचारमें उर्दू से अधिक बढ़ी हुई है। संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, राजपूताना, मध्यभारत, पंजाब, बिहार, ग्वालियर और बड़ोदा में यह फैली हुई है और गुजरात तथा बम्बई प्रान्तमें भी इसका कुछ प्रसार है। केवल दक्षिणके कुछ स्थानोंमें अभी

यह नहीं पहुँच पाई है। इसके विपरीत उर्दूका अधिकार केवल संयुक्तप्रान्त और पंजाब, भूपाल और हैदराबाद में है। हिज्जे और उच्चारणकी दृष्टिसे हिन्दी उर्दूसे अधिक सरल है।

हिज्जे और उच्चारणका सम्बन्ध तो लिपिसे है भाषासे नहीं। असलमें हिन्दी और उर्दू मूलतः दो भिन्न भाषाएँ हैं भी नहीं। यह हम जानते हैं कि भाषा और संस्कृतिका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा करता है। 'हिन्दी' कहनेसे हिन्दकी संस्कृतिकी ध्वनि निकलती है। जब संस्कृति एक होती है तो उसकी भाषा भी एक ही होती है, और एक ही भाषा होनेकी दशामें उसके दो नाम प्रायः नहीं रक्खे जाते। एक ही भारतीय भाषाके द्विनामधारिणी होनेकी दशामें भी संस्कृतिबोधक नाम 'हिन्दी' ही है और यही नाम मौलिक भी है। मुगल-दरबारने इसी मौलिक नाम को अपनाया था, अथवा उसने ही, एक प्रकार से, देशभाषा का यह नाम दिया था। उर्दूका अभिप्राय लश्करी भाषा से है। जिस प्रकार टॉमी-इंग्लिश कह कर हम उस असंस्कृत अंग्रेजी भाषा का बोध करते हैं, जिसे गोरे रंगरूट आपसमें बोला करते हैं उसी प्रकार उर्दू भी छावनियों की भाषा थी, और उसका संस्कृत रूप हिन्दी था। अमीर खुसरो और अब्दुर्रहीम खानखानाकी कविताकी भाषा यही हिन्दी थी, असंस्कृत लश्करी भाषा नहीं।

इस प्रकार लश्कर और संस्कृत समाज के भेदसे, 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषाके दो नाम थे। शिष्ट समुदाय की भाषाके सम्बन्धमें 'उर्दू' नाम का प्रयोग तो बहुत बादकी चीज है, जो जातियों की मानसिक विच्छेद-भावना का उदय होने पर राजनैतिक प्रभेद के उद्देश्यसे घटित किया गया है। × × ×

× × ×

आर्य और सेमिटिक संस्कृतियों का विरोध भारतमें साम्प्रदायिकताका रूप धारण करके इस प्रकार बढ़ा, या बढ़ाया गया कि पिछले दिनों कुछ महानुभावोंको उर्दू और हिन्दीके समझौते की, इन दोनोंके बीचका कोई मध्यम ढूंढ़नेकी आवश्यकता हो पड़ी। तब हिन्दुस्तानीका एक नाम सुनाई दिया, जिसमें 'हिन्दी' शब्दकी व्याप-

कताकी लाज निभानेका भी बहाना था। पर 'हिन्दोस्तानी' शब्द की कल्पना ही उसकी सबसे पोच दलील है। 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' शब्द के अर्थमें क्या भेद है ? क्या दोनोंकी व्याप्ति भी एक सी ही नहीं है ? ऐसी सूरतमें हिन्दी को अपदस्थ करना, उसे उसकी व्याप्तिसे विलग करना, सम्प्रदायिकता को ही एक दूसरा रूप देना नहीं है क्या ? हिन्दी को हिन्दुओं की ही भाषा मानकर केवल उनका विरोध करने के लिये और इस प्रकार, सम्प्रदायिकता को एक भिन्न रूपमें सन्तुष्ट करनेके लिये ही ऐसा किया जना सम्भव मालूम होता है।

यह हिन्दुस्तानी भाषा चीज क्या होगी ? कहा जाता है कि यह न हिन्दी होगी न उर्दू। हिन्दी और उर्दू तो हिन्दुओं और मुसलमानोंकी भाषाएँ बना दी गई हैं न ?. हिन्दुस्तानी दोनोंसे ही भिन्न एक ऐसी वस्तु होगी जो जनसाधारणकी भाषा कहलाएगी और उस जनसाधारणकी भाषाको बनानेवाले होंगे, जनसाधारण नहीं, बल्कि हम और आप, हिन्दी और उर्दूके हामी और उर्दू और हिन्दीके विरोधी, विशेषतः हिन्दीके विरोधी। तो फिर यह एक नई ही भाषा होगी।

सिद्धान्त रूपसे एक कृत्रिम भाषा तैयार करनेका आयोजन एक बड़ी ही विरूप और अकांड कल्पना है। लाखों वर्षके मानवजातिके इतिहासमें आज तक कोई भाषा बनाई जाती हुई नहीं देखी गई। भाषाओंका सदा विकास ही होता है, वे स्वयं ही बनती हैं। फिर व्यावहारिक भाषाका बनाना तो और भी उपहास्य बात है, क्योंकि व्यावहारिक भाषा तो सदा बनी हुई ही रहती है—वह भविष्यतकी वस्तु नहीं है और जो व्यावहारिक भाषा होती है समाजमें उसका कोई नाम भी रहता ही है। हमारी वर्तमान व्यावहारिक भाषाका भी नाम है उर्दू या अधिक व्यापक और राष्ट्रीय अर्थमें, हिन्दी।

निष्पक्ष-भावसे विचार करने पर समझदार व्यक्तियोंको यही पता लगेगा कि 'हिन्दी' नाम साम्प्रदायिकताको दूर कर राष्ट्रीयताको पुष्ट करनेवाला है। हिन्दी भाषा हिन्दुओं और मुसलमानों और अधिकांश प्रान्तों तथा राज्योंकी व्यावहारिक भाषा है। वह अपेक्षाकृत रूपमें सरल भी है। हिन्दीमें अपनानेकी जितनी शक्ति

है, उतनी और किसी भाषामें नहीं—संस्कृतसे लेकर अंग्रेजी, फारसी अरबी, बंगला, मराठी और गुजरातीके कितने ही शब्दों और प्रयोगोंको इसने अपना अंग बना लिया है। इन सब बातोंको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि और अधिक क्षेत्र प्राप्त होने पर उन क्षेत्रोंके उपयुक्त भी यह अपनेको न बना लेगी। हमारे देश और संसारकी सबसे बड़ी विभूति महात्मा गांधी भी स्वयं गुजराती होते हुए और बहुत अच्छी हिन्दी न जानते हुए भी, हिन्दीके समर्थक बने हैं, तो कोई यह कहनेका साहस न करेगा कि उन्हें अपनी मातृभाषासे द्वेष है। इस निर्लेप महात्माने भी हिन्दीकी सार्वभौम उपयोगिताको पहचाना है।

('आर्यभाषा और संस्कृति'—'राष्ट्रभाषा')

श्री श्यामनारायण जी—

[निम्नलिखित लेखमें श्रीयुत श्यामनारायणजी ने डाक्टर ताराचन्द्रजीके प्रसिद्ध लेखका उत्तर दिया है। लेखकने बड़ा ही सुन्दर तथा तार्किक विश्लेषण कर बताया है कि जिस 'हिन्दुस्तानी' का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह कितना तत्त्वहीन है। लेखक विदेशी शब्दोंका बहिष्कार नहीं करते, वरन् स्वागत ही करते हैं, कारण यह तो भाषाकी चिरंतन परिपाटी है कि नवीन शब्दोंका संग्रहण तथा समन्वय होता रहे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भाषाके स्वरूपका, उसकी विशेषताओंका संहार कर सांस्कृतिक सम्बन्धकी धज्जियां उड़ाकर एक विचित्र अस्वाभाविक भाषा जनताके ऊपर जबर्दस्ती लादी जाय।]

हिन्दुस्तानी और डाक्टर ताराचन्द

जयपुर-सम्मेलनके कई भाषणों पर वयोवृद्ध डाक्टर ताराचन्दने अपने विचार 'विश्व-वाणी' के अक्तूबर अङ्कमें प्रकट किये हैं। यों तो उनके विचार सारे हिन्दी-जगतको विदित हैं। उक्त निबन्धमें डाक्टर महोदयने जो असत्य और अर्ध-सत्य बातें कही हैं, उनका निराकरण करना प्रत्येक विद्यार्थीका कर्त्तव्य हो जाता है।

डाक्टर साहब उर्दूसे हिन्दीकी तुलना करते हुए कहते हैं—"उर्दूका साहित्य हिन्दीके साहित्यसे बहुत पुराना है, ब्रज और अवधीसे भी पुराना है।" स्पष्ट है कि उक्त कथनमें अवधी और ब्रजको हिन्दीसे अलग माना गया है। डाक्टर साहब विद्वान् व्यक्ति हैं; उनकी निगाहमें यह सच हो सकता है। लेकिन जब कभी हिन्दी-साहित्यका नाम लिखा जाता है, तब उसके महारथियोंमें कबीर, जायसी, सूर और तुलसीकी गिनती पहले होती है। इस प्रकार हिन्दी भाषाका अर्थ उस भाषा और बोली-समूहसे है; जिसका व्यवहार मैथिली-मगही, उड़िया-तैलगू-मराठी तथा मालवी-राजस्थानी-पञ्जाबी और पहाड़ीके इलाकोंसे घिरे हुए प्रदेशमें होता है। इस भाषा-समूहमें बाँगड़्-खड़ी, ब्रज-बुन्देली-कन्नौजी, अवधी-बघेली, छत्तीसगढ़ी और भोजपुरी सम्मिलित हैं। अतः हिन्दी केवल खड़ीका वाचक नहीं है; और इसी दृष्टिसे हिन्दी-साहित्यका इतिहास उर्दूसे बहुत ही पुराना है। हिन्दीके आदिकवि सरहपा ७६० ई० में रहे होंगे। सरहपाके पीछे स्वयम्भू जैन कविराज जो हिन्दी-साहित्यके इने-गिने दो-चार प्रधान कवियोंमें हैं, शायद कान्यकुब्जाधिपति ध्रुवधारावर्ष (७८०-९४ ई०) के समकालीन थे। कविराज स्वयम्भूने जिस भाषामें रचना की है वह जायसीकी भाषाके मूलका नवजात रूप है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जायसी (रचना-काल १५२७ ई०) और स्वयम्भू दोनोंकी भाषा अवधी, पूर्वी हिन्दी, है। खड़ी बोली या पश्चिमी हिन्दीके ज्ञात आदिकवि अमीर खुसरो (सन् १२५५-१३२५ ई०) और दूसरे प्रधान कवि कबीर (जन्म सन् १३९९ ई०) है। उर्दूके आदिकवि मुहम्मद कुली कुतुबशाह-ज़िल्ले-अल्लाह (सिंहासनारोहण-काल १५८० ई०) हैं। कहा जाता है कि इनका दीवान, हैदराबादके राजकीय पुस्तकालयमें सुरक्षित है। यदि डाक्टर महोदय इन तारीखोंकी तुलना करनेका कष्ट करते तो शायद वे ऐसा न कहते। यदि डाक्टर साहब अमीर खुसरोको उर्दूका ही पूर्वपुरुष मानते हैं और कबीरको अटपटी भाषाका कवि समझते हैं, तब तो बात ही दूसरी है। प्रसिद्ध कवि सूर (सन् १४८३-१५६३ ई०) ब्रजभाषाके आदिकवि नहीं माने जा सकते; उनके पूर्व और भी कवि हुए होंगे। यदि हम ज़िल्ले-अल्लाहको उर्दू शैलीका प्रथम कवि मान लें, तो स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमी हिन्दीका साहित्य उर्दू साहित्यसे प्राचीन है।

डाक्टर साहब आगे कहते हैं—"पन्द्रहवीं सदीसे अठारहवीं सदीके आखीर तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमान शिष्टोंकी भाषा थी। आज भी उसका हक़ है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिन्दुस्तानके सभी निवासियोंकी बिला सम्प्रदायी तफ़ीक़के आम भाषा मानी जाय।" १५वीं से १८वीं सदी तक मध्यदेशका शिष्टजन समुदाय उर्दू बोलता था, इसके लिये डाक्टर साहब क्या प्रमाण दे सकते हैं? कल्पनाके सहारे ऐतिहासिक कथनोंका मूल्य नहीं आँका जा सकता। क्या डाक्टर साहब यह बताने की कृपा करेंगे कि दिल्ली और जौनपुर तथा आगरे और लखनऊके शिष्टजनोंके अतिरिक्त इलाहाबाद, कड़ा, मथुरा, क़न्नौज आदि जगहोंके लोग भी उर्दू अर्थात् फ़ारसी-अरबी-मिश्रित हिन्दी—का व्यवहार करते थे? यदि हां, तो उनके पास क्या प्रमाण है?—यदि डाक्टर साहबके शिष्टजन दिल्लीमें ही सीमित हैं तो दूसरी बात है। आज भी अवधी कायस्थ और मुसलमान फारसी-अरबीका विशुद्ध उच्चारण अपनी बोलीमें कहते हैं। १५वीं से १८वीं सदी तकके उत्तरीय भारतमें फारसी राजभाषा थी। इन चार सौ वर्षोंके प्रथम १५० वर्षों तक शायद ही खड़ी बोलीका प्रचार किसी भी रूपमें ब्रजभूमिके पूर्व रहा होगा। सधुक्कड़ी भाषाके रूपमें खड़ी—जिसमें अरबी-फारसीके शब्द इने-गिने थे—को लोग जानते अवश्य रहे होंगे। राणा साँगा हेमू, उदयसिंह, राणा प्रतापसिंह, मानसिंह, सवाई जयसिंह और रामसिंह क्या उर्दू बोलते थे? शेरशाह और उसके उत्तराधिकारी क्या फारसीके अलावा उर्दूका व्यवहार करते थे और पूर्वी अवधी या भोजपुरीका व्यवहार नहीं करते थे? आगरेमें मुगलोंके स्थापित हो जाने पर क्या मुगल दर्बारमें फारसीके अतिरिक्त लोग ब्रजमें बातचीत नहीं करते थे? इसके पक्ष या विपक्षमें डाक्टर साहब क्या युक्ति दे सकते हैं? उन्हें यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि पश्चिमी मुसलमानों, कायस्थों, काश्मीरियों और खत्रियोंको छोड़कर इस प्रान्तमें और भी शिष्ट जन-समुदाय था। हिन्दू और मुसलमान बराबर अपनी बोलीका ही प्रयोग करते थे। आज भी प्रयागमें रहनेवाले भोजपुरी शिष्ट हिन्दू और मुस्लिम आपसमें भोजपुरीमें ही बातचीत करते हैं। यह शायद डाक्टर साहबको अज्ञात नहीं है। यदि हम यह मान भी लें कि इस प्रान्तमें उर्दू ही प्रान्तभाषा रही है तो भी उसे

राष्ट्रभाषा बननेका अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। इसका एकमात्र कारण उर्दूकी 'संस्कृतीयत' है।

किसी भाषाकी राष्ट्रभाषा बननेके पूर्व उसकी राष्ट्रीय हैसियत होनी चाहिये। राष्ट्रीय हैसियत तभी मानी जा सकती है जब राष्ट्रके सभी अङ्ग उसे स्वीकार कर लें अर्थात् गुजराती, मराठी, तेलगू, कन्नड़, तामिल और मलयालम तथा उड़िया, बङ्गाली, आसामी, मैथिली, पहाड़ी, भोजपुरी, पञ्जाबी, अवधी, ब्रज काश्मीरी, पश्तो और सिन्धी वर्ग इसे स्वीकार कर लें। यह तभी हो सकता है जब उर्दूका सांस्कृतिक आधार भारतीय हो। क्या उर्दूका सांस्कृतिक आधार भारतीय है? नहीं। उर्दू नस्तालीक़ लिपिमें लिखी जाती है और उसकी संस्कृति-भाषा अरबी या फारसी है, जो दोनों विदेशी हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उर्दू-साहित्यको अरबी-फारसी पुरावृत्त, इतिहास, समाज-शास्त्र, भूगोल, छन्दःशास्त्र और साहित्यशास्त्र पर अवलम्बित होना पड़ेगा और जब उसे शब्दकोषकी आवश्यकता होगी तब अरबी और फारसीकी ओर निहारना पड़ेगा। यह परिस्थिति वैज्ञानिक नहीं है। भारतकी अन्य आर्य-अनार्य साहित्यिक भाषाओंका सांस्कृतिक आधार भारतीय है अर्थात् वे सबकी सब ब्राह्मीसे प्रसूत लिपियोंमें लिखी जाती हैं और उनकी संस्कृति-भाषा छन्दस-संस्कृत-पालि-प्राकृत हैं। वातावरण विशुद्ध भारतीय है। आवश्यकता पड़ने पर संस्कृति-शब्द संस्कृत भाषासे लिये जाते हैं। शीरीं और फरहाद, रुस्तम और सोहराब, कैखुशरो और कैकुबाद, गुल और बुलबुल और शीशा और सागर, मयखाना और साकी दिल्लीकी उर्दूको छोड़कर अन्य साहित्यिक भाषाओंके लिये बिलकुल विदेशी हैं। उसके छन्द मात्राओं या वर्णों की संख्या या क्रम पर अवलम्बित न होकर बहरोंके वज़न पर निर्भर हैं। शब्दकोषमें तत्सम अरबी-फारसीके शब्द हैं। इस प्रकार उर्दू अपनी पहली पीढ़ियोंकी परम्परा, छान्दस-संस्कृत-प्राकृत आदि, से नाता तोड़ बिलकुल भिन्न हो गई है। भारतकी दूसरी आर्य और अनार्य भाषाओंका वातावरण भारतीय है, वे अपनी परम्परासे जुदा नहीं हुई हैं। क्या ऐसी परिस्थितिमें डाक्टर साहब यह आशा करते हैं कि अखिल भारत इसे स्वीकार कर लेगा? डाक्टर साहब यदि अपने संयुक्तप्रान्तवालोंसे यह आशा करते हों कि वे इसे राष्ट्रभाषाकी पदवी दे दें तो

यह उनके वशकी बात नहीं है। संयुक्तप्रान्तमें ही उर्दू यदि प्रान्त-भाषा हो जाय तो आश्चर्यकी बात है। प्रान्तभाषाका, जन-भाषाका नाम उर्दू (लश्करकी दर्बारकी भाषा) देना ही उसका अपमान करना है। अवधी और ब्रज साहित्यकारने यदि खड़ीको अपनाया तो इसलिये नहीं कि उसे अपनी परम्परासे द्वेष था; उसने तो खड़ीका भारतीय रूप ग्रहण कर केवल इस प्रान्तको एक भाषा देनेका यत्न किया है। स्पष्ट है कि अवधी और ब्रजवासी अपनी 'संस्कृतीयत' का परित्याग नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि इस प्रान्तकी भाषाका सांस्कृतिक आधार संस्कृत-पालि-प्राकृत-भाषा-वर्ग ही हो सकता है। यह बात भिन्न है कि उसमें विदेशसे आये हुए अरबी, तूरानी और ईरानी शब्द समा गये हैं। जो शब्द आ चुके हैं, पच गये हैं, उन्हें निकालना भूल होगा।

डाक्टर साहबने भाषा-विज्ञानसे पुराने-धुराने सिद्धान्तों पर ही यह सिद्ध करनेकी कोशिश की है—संस्कृतसे 'मध्यदेस' की भाषासे कोई सम्बन्ध नहीं; संस्कृत और हिन्दीका सम्बन्ध झूठा, और हिन्दी-उर्दूका सचाई पर निर्भर है; तथा भारतमें संस्कृतका प्रयोग योरपमें लैटिनके प्रयोगकी भाँति है। डाक्टर महोदय यदि निष्पक्ष भावसे वस्तुस्थितिको समझनेका प्रयत्न करते तो शायद उलझी हुई समस्याको सुलझाने में कुछ सफल भी होते। संस्कृत भगवान् बुद्धके समय उदीची (उत्तर-सीमान्त और उत्तर-पंजाब) में बोली जाती थी। उसे 'लौकिकी' कहते थे। पाणिनिने, जिनकी शिक्षा तक्षशिलामें और जन्म लाहौरमें ६०० ई० पूर्वमें हुआ था, अपनी भाषाको स्थायी रूप देकर अवधी (कोशली) और मागधी व्रात्योंसे प्राकृत-जनित भ्रष्ट (विकसित) उच्चारणसे उसकी रक्षा की। औदीच्याके पूर्वी रूपसे कुरुक्षेत्रकी पालि और शौरसेनी प्राकृतका जन्म हुआ। इसका विकसित रूप डाक्टर मनमोहन-घोषके अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत है। शौरसेनी प्राकृतसे शौरसेनी अपभ्रंश और उससे वर्तमान खड़ी-बाँगड़ू (कौरवी) की उत्पत्ति हुई। विकासके इतने लम्बे युगमें ध्वनि-समूहमें विकार होना आवश्यक है। डाक्टर साहबने संस्कृतकी जिन १३ स्वर ध्वनियोंकी ओर संकेत किया है वे भ्रामक हैं। सच पूछा जाय तो संस्कृतमें ये स्वर थे—अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ। ऌ का प्रयोग लौकिकी (जो पाणिनिके

पश्चात् संस्कृत कहलाई) में नहीं है। वह वैदिक ध्वनि थी। प्रथम चारमें प्रत्येक ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होते थे प्लुतका प्रयोग सम्बोधन आदिमें ही होना सम्भव था। अतः प्लुत स्वरोंसे भिन्न कोई स्वर नहीं है और न अनुनासिक ही कोई अलग स्वर है। पाणिनि कहता है "मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।" अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ ही अवान्तर भेद हैं। डाक्टर साहब कहते हैं, "हिन्दी, उर्दू और वह खड़ी बोली जिसके ये दोनों अदबी रूप हैं संयुक्तोंसे घबराते हैं, खास कर शब्दोंके आरम्भमें।" डाक्टर साहबके कहनेका आशय यह है कि 'प्रसाद' के स्थान पर 'परसाद' और 'प्रयाग' के स्थान पर 'परियाग' का उच्चारण स्वाभाविक और सहज है। ठीक है, उर्दूके लिये जिसकी लिपिमें संयुक्त वर्णके द्योतनके लिये शक्ति नहीं है, संयुक्त वर्णका उच्चारण असम्भव है, लेकिन हिन्दीके लिये नहीं। हिन्दीके लिये जिह्वामूलीय अ् क़ ख़ ग़ ह् तथा फ़ और ज़ तथा भ् आदि अरबी-फ़ारसीको ध्वनियों का उच्चारण असम्भव है और यही दशा खड़ी-बांगड़ू की भी है। डाक्टर साहब क्या अपनी हिन्दुस्तानीमें आरम्भिक संयुक्तवर्ण तथा इन सारी विदेशी ध्वनियोंको निकाल कर वर्णमाला सरल बनानेका साहस करेंगे? शायद नहीं; क्योंकि बांगड़ू-देशका 'शिष्ट' विदेशी ध्वनियोंका उच्चारण कर लेता है, औरोंसे क्या वास्ता? राष्ट्रभाषा बनानेकी अभिलाषा है, किन्तु रहेगी वह विदेशी। हिन्दी-उर्दूका झगड़ा उसके संज्ञापदों, क्रियापदों, अव्ययों तथा उपसर्गों, कारकोंके कारण नहीं है; वह है केवल सांस्कृतिक आधारके कारण। डाक्टर महोदय इसे जानते हैं और खूब समझते हैं, लेकिन उन्होंने उलझी हुई गुत्थियोंको सुलझानेके बजाय समस्याको कठिनतर बना दिया। हिन्दी और संस्कृतका जोड़ इसलिये नहीं है कि उनमें विभक्तियों, प्रत्ययों और उपसर्गोंमें एकरूपता है, बल्कि इसलिये है कि संस्कृत साहित्य भारतका आत्म-प्रेरक है। श्री कन्हैयालाल मुंशीके भाषणका यही आशय है। तत्सम और तद्भवके झगड़ेको उठाकर डाक्टर साहबने और समस्याओंकी उपेक्षा की है। लौकिकी (संस्कृत) ने स्वयं अप्रचलित छान्दससे सैकड़ों शब्द ज्योंके त्यों उधार लिये थे। अश्व, अश्मन्, श्वन्, वृष, अवि, अनडुह्, उक्षन्, राघस् और सहस्, तथा वेश इत्यादि। असाहित्यिक बोलियोंके इतिहासके विभिन्न

कालोंमें संस्कृतसे शब्द उधार लिये जाते थे जैसा कि जायसीके काव्यसे स्पष्ट है। जिन कवियोंने संस्कृतसे सीधे शब्द लेकर रचनायें की हैं, उनके काव्य आज भी समझमें आते हैं और जिन्होंने संस्कृतसे सम्बन्ध नहीं रक्खा, उनके काव्य दुरूह ही नहीं हुए, गायब भी हो गये। कविराज स्वयम्भूको, जिनकी कविता तुलसी और जायसीसे भी श्रेष्ठ समझी जाती है और जिन्होंने शायद पहले-पहल चौपाई छन्दमें रचना की, आज कितने लोग जानते हैं? विशुद्ध तद्भवोंका प्रयोग ही इसका प्रधान कारण हो सकता है। जायसीके काव्यको समझनेमें भाषा-संबंधी कठिनाई आज अवधी विद्यार्थीको भी होती है। इसलिये तत्समोंकी ओरसे हम एकदम आंख भी मूंद नहीं सकते। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि भाषामें संस्कृतके तत्समोंको ठूंस दिया जाय। तद्भवोंका एक विशिष्ट स्थान है जिसकी समता तत्सम नहीं कर सकते। जिस समय वेद लिखे जा रहे थे, वैदिक मन्त्रोंमें भी पूर्वी प्राकृतके अनेक रूप घुस आये थे। विकट ∠ विकृत, निकट ∠ निकृत कीरक ∠ किंकृत तथा पठ ∠ प्रथ, घट ∠ मथ, क्षुल्ल ∠ क्षुद्ल ∠ क्षुद्र आदि। अनार्य या देशी शब्द भी संस्कृतमें मौजूद हैं। खुर, गज तथा गङ्गा आदि। कुछ विदेशी शब्द भी हैं जैसे—सुरंग, यामित्र और मिहर। विदेशी शब्दोंकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। ये शब्द अपने मूल-रूपसे काफ़ी खिसके हुए हैं, इनका भारतीकरण हो गया है। वर्तमान हिन्दुस्तानीमें भी ठीक ऐसा हो रहा है। कुछ शब्द तत्सम, कुछ विदेशी और अधिकांश वर्त्तमान हिन्दी-तद्भव हैं। सच पूछा जाय तो जितने भी विदेशी शब्द हैं चाहे वे अरबी, यूनानी और ईरानी हों या अंगरेजी या पुर्तगाली ही क्यों न हों, सबके सब पच गये हैं—उनका उच्चारण भारतीय हो गया है। लेकिन अरबी-फारसी शब्दोंके मौलिक उच्चारणका लोभ डाक्टर साहब दबा नहीं सकते। इधर तत्समोंका उच्चारण उनके स्वभावके विपरीत है। यदि डाक्टर साहब 'ध्वनि' के स्थान पर 'धुनि' का उच्चारण सहज समझते हैं तो उसीकी समता पर व्याकरणके स्थान पर 'बियाकरन' कह सकते थे। लेकिन उन्होंने 'ग्रामर' कहना ज्यादा मुनासिब समझा। यदि शब्दोंके आरम्भकी संयुक्त वर्णध्वनि 'व्याकरण' में खटकती है, मुश्किल है, तो 'ग्रामर'की आरम्भिक संयुक्त-वर्ण-

ध्वनिके विषय में डाक्टर साहबकी क्या राय है ? प्रथम, द्वितीय, तृतीय और पहला, दूसरा, तीसरा इत्यादि भारतीय हैं, उनसे अव्वल, दोयम्, सोयम् की समता नहीं है। हरएक भारतीय नदियोंका नाम जानता है और मिथिलासे भी अपरिचित नहीं है। नव्यन्याय (तर्क) का विकास इन्हीं दोनों स्थानोंमें हुआ। परमाणुवाद नव्यन्यायके तर्क पर अवलम्बित है। डाक्टर साहबको तर्कके स्थान पर 'मन्तक'— जिसे मैंने पहली बार डाक्टर साहबके लेखमें पढ़ा है—का प्रयोग करना अच्छा लगता है, क्योंकि "मन्तककी आवाज ऐसी रसीली है, जो तबियतको गुदगुदा देती है।" डाक्टर साहब मध्यदेश के 'श' का उच्चारण 'स' करना पसन्द करते हैं, लेकिन शिष्यके 'श' को ज्योंका त्यों बनाये रखना चाहते हैं। उनकी दलील है कि हिन्दी में 'श' का उच्चारण 'स' हो गया है अतः 'देश' का हिन्दी उच्चारण 'देस' है। इसीलिये 'मध्यदेश', के 'श' का 'स' होना आवश्यक है। यदि उन्हें उच्चारण की सुगमताका ही ध्यान है तो वे मँझधार (मध्यधारा) के आधार पर 'मँझदेस' (मध्यदेश) कह सकते हैं ; पालिमें इसका उच्चारण मज्झिमदेश (मध्यमदेश) है। जिस प्रकार 'शिष्ट' तत्सम है, उसी प्रकार सामासिक पद 'मध्यदेश' भी। यह किसी हिन्दी-कारीगरकी दस्तकारी नहीं है। सारी बात यह है कि डाक्टर साहबको संस्कृतकी लाल झण्डी भड़का देती है। संस्कृतके विषयमें आप जैसे विद्वान् व्यक्ति की निम्न राय ध्यान देने योग्य है—"आज संस्कृतका सम्मान इसलिये है कि वह हिन्दू सम्प्रदायमें देववानी समझी जाती है। इस भाषामें इस खास सम्प्रदायकी पूज्य धर्म-पुस्तकें हैं।" यह कथन अर्द्धसत्य है। संस्कृतमें हिन्दूधर्मकी ही पुस्तकें नहीं हैं, जैन और बौद्ध साहित्यका बहुत बड़ा अंश भी इस भाषामें है। साथ ही उसमें केवल धर्मपुस्तकें ही नहीं हैं, उसमें वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, भारवि, दिङ्नाग ऐसे ब्राह्मण और अब्राह्मण, बौद्ध और जैन कवियोंके काव्य और वैद्यक, ज्योतिष, राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्रके अनुपम ग्रन्थ लिखे गये हैं। यह कहा जा सकता है कि प्राक्-मुस्लिम युगके भारतीय बौद्धिक और मानसिक अभ्यासका निचोड़ संस्कृत भाषामें है। डाक्टर साहब इसे भूल जाना चाहें तो भूल जाँय, लेकिन एक जागरूक विद्यार्थी उस ओरसे आँख बन्द नहीं

कर सकता। संस्कृतकी समता लैटिनसे करना व्यर्थ है। लैटिन-फ्रेंच, स्पेनिश पोर्चुगीज और इटेलियनकी जननी है न कि ट्यूटानिक, स्लैवानिक तथा ग्रीक आदि अन्य यूरोपीय भाषाओंकी। भारतमें संस्कृतका प्रयोग यूरोपमें लैटिनके प्रयोगके समान नहीं था ; फ्रांस-स्पेन-इटलीमें जैसे लैटिनका व्यवहार होता था बिलकुल वैसे ही संस्कृतका व्यवहार भारतमें होता था ; हां फारसीका व्यवहार भारतमें वैसा होता है जैसे स्लैव और ट्यूटानिक यूरोपमें लैटिनका। द्राविड़ोंने भी संस्कृतको अपनाया है। तेलगू और कन्नड़में ४० प्रतिशत शब्द संस्कृतके हैं। तामिलमें प्राचीन प्राकृत और संस्कृतके शब्दोंकी संख्या कमसे कम १० % है ही। ऐसी दशामें डाक्टर साहबका संस्कृतकी महत्ताको अल्प करनेका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

दक्षिणमें हिन्दी प्रचार तथा सिन्ध, पञ्जाब, काश्मीर और सीमान्त प्रदेश तथा हैदराबादमें उर्दू-प्रचारकी परस्पर समता नहीं की जा सकती। दक्षिणमें हिन्दीका प्रचार मातृभाषाके स्थान पर नहीं हो रहा है, पर पञ्जाबमें उर्दूका प्रचार पंजाबीके स्थान पर हो रहा है। यही बात हैदराबाद और काश्मीरमें भी है। यहाँ पर आर्यभाषाके क्षेत्रमें आर्यभाषाके प्रचारकी वैज्ञानिकताकी दलील कारगर नहीं हो सकती और न आर्य द्रविड़के झगड़ेको पैदा करनेसे ही समस्या सुलझ सकती है।

डाक्टर साहबका यह भी कथन है कि 'भारत कभी एक राष्ट्र नहीं था। और आज भी उसके राष्ट्र होनेमें सन्देह है' जबसे संस्कृत अखिल-भारतीय भाषा बनी थी तभीसे भारत एक देश, एक राष्ट्र है। कमसे कम भारतकी राष्ट्रीयता चौथी शती ईस्वीमें संस्थापित हो चुकी थी। आज भी पिण्डदानके समय हिन्दू 'भरतखण्डे' इत्यादिको दुहराता है। विष्णुपुराण (रचना-काल ४ शती) में भारतके प्रति जो देशप्रेमसे ओत-प्रोत पद्य कहे गये हैं, सभी प्राचीन भारतीय साहित्यके विद्यार्थी जानते हैं। प्राचीन कालमें सारे प्रान्तके भारतीय परस्पर अधिक नजदीक थे। भाषा, धर्म तथा रीति-रिवाजोंमें बहुत ही कम फर्क था। उस समयकी प्राकृतें एक दूसरीसे उतनी अलग नहीं हुई थीं, जितनी आजकलकी आर्य-भाषाएं। राष्ट्रीय जाग्रतिकी अनुपस्थितिमें राष्ट्रीय सत्ताका लोप मानना उचित नहीं कहा जा सकता। प्राचीन भारतमें समकालीन अनेक शासकोंके रहते हुए भी भारतीय जन

एक राष्ट्र था—एक भाषा थी (द्राविड़-भाषा इसके मार्गमें बाधक नहीं थी ।), एक जाति थी, एक ही प्रकारके कानून थे, जीवनका एक ही उद्देश्य था, और सबके लिये एक देश भारत था। सिन्धु-सौवीर, अवन्ति-मत्स्य, कुरु-पाञ्चाल, काशी-कोशल और मगध, वृजि-मल्ल तथा अंग-वंग-कलिंग और द्रविड़ जनपदोंके होते हुए भी भारत एक राष्ट्र था और आज भी एक राष्ट्र है।

अरबी और फारसीसे संस्कृतकी समता करना व्यर्थ है। अरबी और फारसी इस देशमें वैसे ही विदेशी हैं, जैसे ईरानमें अरबी और तुर्की, तुर्कीमें अरबी और फारसी और अरबमें ईरानी (फारसी) और तुर्की। डाक्टर साहबको संस्कृतको विशेष स्थान देना पड़ेगा। यह हिन्दू-मुसलमानका प्रश्न नहीं है। यदि आजका मुसलमान अपने प्राचीन गौरवको हिन्दूके सरका बोझ समझता है, तो कलका मुसलमान उसे अपनी विरासत समझेगा। यदि भारतीय मुसलमान ईरानी और तुर्की मुसलमानकी तरह संस्कृतसे प्रेम नहीं करता तो इसके दो कारण हैं। एक तो बार-बार यह कहना कि मुसलमान भारतमें बाहरसे आये और दूसरे यह कि संस्कृत हिन्दुओंकी बपौती है। भारतकी राष्ट्रीयता वर्धाकी हिन्दुस्तानी की नींव पर स्थिर नहीं रह सकती। भारतीय राष्ट्रीयता और प्रचीन भारतीय संस्कृति, जिसका मूल स्रोत छान्दस-संस्कृत, पालि, प्राकृत अपभ्रंशभाषा-नदसे फूट निकला है, एक है, दोनों एकके बिना शून्य और खोखली हैं। मेरे कहनेका आशय प्रतिक्रियाका संदेश नहीं है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि कलके संसारमें राष्ट्रीयता नामकी कोई चीज जिन्दा रह सके तो वह केवल परम्पराके लम्बे इतिहासके बल पर। भारतीय इतिहासके आधुनिक कालमें पठान-मुगल-शासन और यूरोप एशियाई सम्पर्क एक कठोर सत्यके दो पहलू हैं। इनसे आंख मूंदकर हम अपने उत्तरदायित्वसे वञ्चित नहीं हो सकते। इस युगमें भाषा सम्बन्धी-प्रभाव अमर सत्य है। ऐसी परिस्थितिमें विदेशी शब्दोंके बहिष्कारकी सलाह देना ऐतिहासिक सत्यका गला घोंट देना है। किन्तु गत तीन-चार सौ वर्षोंके लिये भारतीय संस्कृतिके छः हजार वर्ष भुला देना अपने देश और संस्कृतिके प्रति विश्वासघात करना है।

(सरस्वती-भाग ४६ संख्या ५)

गांधीजी तथा टंडनजीका पत्र-व्यवहार—

[महात्माजी 'हिन्दी और उर्दू' दोनोंका शिक्षण अनिवार्य समझने लगे हैं। इसीलिए वे हिन्दी साहित्य-सम्मेलनसे अलग हो गए। इस सम्बन्धमें टंडनजीके साथ उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह यहां दिया जा रहा है। श्री सम्पूर्णानन्द तथा श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल एवं श्री दत्तात्रेय वाबलेके मत भी उपर्युक्त पत्र-व्यवहार पर प्रकाश डालते हैं।]

गांधीजी हिन्दी-संस्थासे पृथक क्यों ?

गांधीजीका टंडनजीको पत्र—

भाई टण्डनजी, मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती। सब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी साहित्य-सम्मेलनमें रह सकता हूँ और हिन्दुस्तानी सभामें भी ? वे कहते हैं, सम्मेलनकी दृष्टिसे हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, जिसमें नागरी लिपि ही को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब कि मेरी दृष्टिमें नागरी और उर्दू लिपिको स्थान दिया जाता है ; और जो भाषा न फारसीमयी है, न संस्कृतमयी है। जब मैं सम्मेलनकी भाषा और नागरी लिपिको पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ तब मुझे सम्मेलनसे हट जाना चाहिये, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालतमें क्या सम्मेलनसे हटना मेरा फ़र्ज नहीं होता है ? ऐसा करनेसे लोगोंको दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहां हूँ। कृपया शीघ्र उत्तर दें।

टण्डनजीका गांधीजीको पत्र—

पूज्य बापूजी, प्रणाम। आपका पत्र मुझे मिला। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी प्रचार सभाके कार्योंमें कोई मौलिक विरोध मेरे विचारमें नहीं है। आपको स्वयं हिन्दी साहित्य-सम्मेलनका सदस्य रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गये। इस बीच आपने हिन्दी प्रचारका काम राष्ट्रीयताकी दृष्टिसे किया। वह सब काम गलत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे ? राष्ट्रीय दृष्टिसे हिन्दी का प्रचार वांछनीय

है, यह तो आपका सिद्धान्त है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिये। यह एक नया काम है, जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता। किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंगरेजी को हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं। सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके सदस्यों के हिन्दुस्तानी प्रचार सभाके सदस्य होने में रोक नहीं है। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की ओरसे निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सदस्य हैं और हिन्दुस्तानी एकेडेमी हिन्दी और उर्दू शैलियां और लिपियां चलाती है। इस दृष्टिसे मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें।

एक बात इस सम्बन्ध में और भी है। यदि आप हिन्दी साहित्य-समेलन के अब तक सदस्य न होते तो सम्भवतः आपके लिये यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आने की आवश्यकता न देखते। परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं, तब उसका छोड़ना उसी दशामें उचित हो सकता है, जब निश्चित रीतिसे उसका काम आपके नये काम के प्रतिकूल हो। यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ाई है, तो विरोध की कोई बात नहीं है।

गांधीजीका उत्तर—

भाई पुरुषोत्तमदास टण्डन जी, आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते हैं उसे मैं बराबर समझता हूं तो नतीजा यह होना चाहिये कि आप और सब हिंदी प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होता नहीं है। और गुजरातके लोगोंके मन में दुविधा पैदा हो गयी है और मुझको पूछ रहे हैं कि

क्या करना ? मेरे ही भतीजेका लड़का और ऐसे दूसरे हिन्दी का काम कर रहे हैं और हिन्दुस्तानी का भी। इससे मुसीबत पैदा होती है। पेरीन बहन को आप जानते हैं। वह दोनों काम करना चाहती हैं। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या दूसरे को छोड़ें। आप कहते हैं वह सही है तो ऐसा मौका आना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही आदमी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का मन्त्री या प्रमुख बन सकता है। बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है और यह मैं कहता हूं यही अर्थ आपके पत्रका है, और होना चाहिए तब तो कोई मतभेदका कारण ही नहीं रहता और मुझको बड़ा आनन्द होगा।

मेरी दृष्टिसे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बिल्कुल आप ही का काम कर रही है। इसलिये यह आपके धन्यवाद की पात्र है और कमसे कम उसमें आपको सदस्य होना चाहिए। मैंने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बनें लेकिन आपने इनकार किया है ऐसा कह कर कि जब तक इसके सदस्य डाक्टर अब्दुल हक न बनें, तब तक आप भी बाहर रहेंगे। अब मेरी दरख्वास्त यह है कि अगर मैं ठीक लिखता हूँ और हम दोनों एक ही विचार के हैं तो हि० सा० स० की ओर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। अगर इसकी आवश्यकता नहीं है तो मेरा कुछ आग्रह नहीं है। कमसे कम हम दोनोंमें तो इस बारे में मतभेद नहीं है, इतना स्पष्ट होना चाहिए। हि० सा० स० में से निकलना मेरे लिये कोई मजाककी बात नहीं है। लेकिन जैसे मैं कांग्रेससे निकला तो कांग्रेसकी ज्यादा सेवा करनेके लिए, उसी तरह मैं सम्मेलनकी अर्थात् हिन्दीकी ज्यादा सेवा करनेके लिए निकलूंगा।

जिसको आप मेरे नये विचार कहते हैं, वे सचमुच तो नये नहीं हैं। लेकिन जब मैं सम्मेलनका पहले सभापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा सभापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, उसी विचार-प्रवाह का मैं अभी स्पष्ट रूपसे अमल कर रहा हूँ। आपका उत्तर आने पर मैं आखिर को निर्णय करा लूंगा।

टण्डन जी का उत्तर—

पूज्य बापू जी, प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपने अपने पहले पत्र में मुझसे पूछा था कि मैं कैसे दोनों सभाओं में रह सकता हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने ८ जूनके पत्र में आपको दिया। पत्र में आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है। आपने लिखा है कि 'आप और हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें।' मैंने स्पष्ट कह दिया है कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नहीं हो पाता। मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है। मुझे तो दिखाई देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि बोलनेवाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे। हिन्दी और उर्दूका समन्वय हो, इस सिद्धान्त में पूरी तरह मैं आपके साथ हूँ। किन्तु यह समन्वय तभी संभव है जब हिन्दी और उर्दूके लेखक और उनकी संस्थायें इस प्रश्न में श्रद्धा दिखायें। मैंने इस प्रश्न को प्रयागमें प्रान्तीय हि॰ सा॰ स॰ के सामने थोड़े दिन हुए रखा था। मेरे अनुरोध से वहाँ यह निश्चय हुआ है कि इस प्रकारके समन्वय का हिन्दीवाले स्वागत करेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उर्दू की संस्थायें इस समन्वयके सिद्धान्त को स्वीकार करें। उर्दूके लेखक न चाहें और आप और हम समन्वय कर लें, यह असम्भव है। इस कामके करने का क्रम यही हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी विद्यापीठ, अंजुमने तरक्की ए-उर्दू, जामिया-मिल्लिया तथा इस प्रकार की दो एक अन्य संस्थाओंके प्रतिनिधियोंसे निजी बातचीत की जाय और यदि उनके संचालकों का रुझान समन्वय की ओर हो तो उनके प्रतिनिधियों की एक बैठक की जाय और इस प्रश्न के पहलुओं पर विचार हो। भाषा और लिपि दोनों के ही समन्वय का प्रश्न है। क्योंकि अनुभव से दिखाई पड़ रहा है कि साधारण कामोंमें तो हम एक भाषा चलाकर दो लिपिमें उसे लिख लेंगे, किन्तु गहरे और साहित्यक कामों में एक भाषा और दो लिपि का सिद्धान्त चलेगा नहीं। भाषाका स्थायी समन्वय तभी होगा जब हम देशके लिये एक साधारण लिपिका विकास कर सकें। काम बहुत बड़ा अवश्य है, किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टिसे स्पष्ट ही बहुत महत्व का है।

मेरे सामने यह प्रश्न सन १९२० से रहा है। किन्तु यह देखकर कि उसके उठानेके लिये जो राजनीतिक वायुमण्डल होना चाहिये वह नहीं है, मैं उसमें नहीं पड़ा और केवल राष्ट्रभाषाके हिन्दी रूपकी ओर मैंने ध्यान दिया—यह समझ कर कि इसके द्वारा प्रान्तीय भाषाओंको हम एक राष्ट्रभाषाकी ओर लगा सकेंगे। मैं स्वीकार करता हूं कि पूर्ण काम तभी कहा जा सकता है कि जब हम उर्दूवालों को भी अपने साथ ले सकें। किन्तु उस कामको व्यावहारिक न देखकर देशकी अन्य भाषा-भाषी बड़ी जनताको हिन्दीके पक्षमें करना एक बहुत बड़ा काम राष्ट्रीयता के उत्थानमें कर लेना है। अस्तु, इसी दृष्टिसे मैंने काम किया है। उर्दूके विरोधका तो मेरे सामने प्रश्न हो ही नहीं सकता। मैं तो उर्दूवालोंको भी उसी भाषाकी ओर खींचना चाहूंगा, जिसे मैं राष्ट्रभाषा कहूं। और उस खींचनेकी प्रतिक्रियामें स्वभावतः उर्दूवालोंका मत लेकर भाषाके स्वरूप-परिवर्तनमें भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित सिद्धान्तोंके आधार पर जानेको तैयार हूं। किन्तु जब तक वह काम नहीं होता तब तक इसीसे सन्तोष करता हूँ कि हिन्दी द्वारा राष्ट्रके बहुत बड़े अंगोंमें एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकारसे काम उठाया है, वह ऊपर मेरे निवेदन किये हुए क्रमसे बिलकुल अलग है। मैं उसका विरोध नहीं करता, किन्तु उसे अपना काम नहीं बना सकता। आपने गुजरातके लोगोंके मनमें दुविधा पैदा होनेकी बात लिखी है। यदि ऐसा है तो आप कृपया विचार करें कि इसका कारण क्या है? मुझे तो यह दिखाई देता है कि गुजरातके लोगों (तथा अन्य प्रान्तोंके लोगों) के हृदयमें दोनों लिपियोंके सीखनेका सिद्धान्त घुस नहीं रहा है। किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार है कि जब आप कोई बात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्त्ति की जाय। मेरी भी तो वैसी ही इच्छा होती है; किन्तु बुद्धि आपके बताये मार्गका निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नहीं करती।

आपने लिखा है कि आपने मुझसे हिन्दुस्तानी प्रचार सभाका सदस्य होने के लिये कहा था किन्तु मैंने यह कहकर इनकार किया कि जबतक अब्दुल हक साहब उसके सदस्य न बनेंगे, मैं भी बाहर रहूँगा। यह सच है कि मैं हिन्दुस्तानी प्रचार-

सभाका सदस्य नहीं बना हूं। इस सम्बन्धमें सन् ४२ में काका कालेलकरजीने मुझे कहा था और हालमें डाक्टर ताराचन्दसे, आपने बम्बईमें पंचगनी जानेसे पहले एक लिफाफेमें दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमेंसे एकमें आपने इस विषयमें लिखा था। किन्तु मुझे बिलकुल स्मरण नहीं है कि कभी आपने मौखिक रीतिसे मुझसे उक्त सभाके सदस्य बननेके लिये कहा हो और मैंने अब्दुल हक साहबका हवाला देकर इन्कार किया हो। मुझे लगता है कि आपने एक सुनी बातको अपने सामने हुई बातमें स्मृतिभ्रमसे परिणत कर दिया है। सन् ४२ में काकाजीने जब चर्चा की, उस समय मैंने उनसे मौलवी अब्दुल हक तथा उर्दूवालोंको लानेकी बात अवश्य कही थी। तात्पर्य वही था, आज भी है; अर्थात् यह कि जब तक हिन्दी और उर्दू लेखक हिन्दी-उर्दूके समन्वयमें शरीक नहीं होते, तब तक यह यत्न सफल नहीं हो सकता। प्रचार सभा यदि इस काममें कुछ भी सफलता प्राप्त करेगी तो वह अवश्य मेरे धन्यवादकी पात्री होगी। आज तो इस सभामें शामिल होनेमें मेरी कठिनाई इसलिये बढ़ गई है कि वह हिन्दी और उर्दू दोनोंको मिलानेके अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और लिपियोंको अलग-अलग प्रत्येक देशवासीको सिखानेकी बात करती है।

यह तो मैंने आपके पत्रकी बातों का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातोंसे यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा प्रचार सभाके अन्य सदस्य सम्मेलनसे अलग हों। सम्मेलन हृदयसे आप सबोंको अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहनेसे वह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं, वह सम्मेलनका अपना काम नहीं है। किन्तु सम्मेलन जितना करता है, वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते हैं, उसे सम्मेलनमें रहते हुए भी स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हैं।

गांधीजी का पत्र—

भाई टण्डनजी, आपका पत्र मिला। मैंने दो बार पढ़ा। मैं तो इतना ही कहूंगा, जहां तक हो सका मैं तो आपके प्रेमके अधीन रहा हूं। अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करायेगा। यही पत्र आप सम्मेलनकी स्थायी

समितिके पास रक्खें। मेरा ख्याल है कि सम्मेलनने मेरी हिन्दीकी व्याख्या अपनाई नहीं है। अब तो मेरे विचार उसी दिशामें आगे बढ़े हैं। राष्ट्र-भाषाकी मेरी व्याख्यामें हिन्दी और उर्दू लिपि और दोनों शैलीका ज्ञान आता है। ऐसा होनेसे ही दोनोंका समन्वय होनेका है तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलनको चुभेगी। इसलिये मेरा इस्तीफा कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी प्रचारका कठिन काम करते हुए मैं हिन्दीकी सेवा करूँगा और उर्दू की भी।

(योगी २४ अगस्त १९४५)

गांधी—टंडन पत्र-व्यवहार

(श्री दत्तात्रेय वाबले एम० ए० अजमेर)

महात्मा गांधी और श्रीयुत टण्डनजीमें राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें जो पत्र-व्यवहार हुआ उसे पढ़ते ही जो पहली प्रश्नसूचक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वह यह कि क्या अब हिन्दीमें भी उर्दूका अधिकार होगा। यह प्रतिक्रिया कहां तक साधार है यह निश्चय करनेके लिये यदि हम उस पत्रव्यवहारको पुनः ध्यानपूर्वक पढ़ें तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं :

(१) महात्माजी २७ वर्ष हिंदी-साहित्य सम्मेलनके सदस्य रहे और इस लम्बे समय तक वे हिंदी प्रचारका काम राष्ट्रीयताकी दृष्टिसे (अर्थात् हिन्दीको राष्ट्र-भाषा मानकर) करते रहे (टंडनजीका पत्र ता० ८-६-४५ का)

(२) अब महात्माजीके दृष्टिकोणमें परिवर्तन हो गया है और वे कहते हैं राष्ट्रभाषाकी मेरी व्याख्यामें हिन्दी और उर्दू लिपि और दोनों शैलीका ज्ञान आता है (२५-७-४५ का महात्माजीका पत्र)

(३) हिन्दी साहित्य सम्मेलनके उद्देश्य व नीतिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ; यह हिन्दीको यथावत राष्ट्रभाषा मानता है (जैसे महात्माजी अभी तक मानते रहे हैं)। महात्माजीका नवीन सिद्धान्त लोगोंके हृदयोंमें घुस नहीं रहा है, किन्तु महात्माजीके व्यक्तित्वके कारण टण्डनजी, बुद्धिके विरोधी होने पर भी इस नवीन सिद्धान्तके साथ समझौता करना चाहते हैं (टण्डनजी का ३१-७-४५ का पत्र)

(४) 'समरथको नहीं दोष गुसाईं' के अनुसार सम्भवत: टण्डनजी यह मानते हैं कि मोहम्मदको ही पहाड़के पास जाना पड़ेगा, इसलिए महात्माजीके नये दृष्टिकोण के साथ समझौतेकी इच्छासे वे निम्न बातों पर आत्मसमर्पण करनेको तैयार हैं :—

(१) उर्दूको भी सम्मेलन राष्ट्रभाषाकी एक शैली मानता हैं।

(२) गाँधीजी हिन्दीके साथ उर्दूको भी चलाते हैं (इसलिए) सम्मेलन उसका (या उनका) तनिक भी विरोध नहीं करता।

(३) गांधीजी तथा उनके हिन्दुस्तानी आन्दोलनके प्रमुख अधिकारी सम्मेलन के सदस्य रह सकते हैं, बल्कि टण्डनजी आग्रहपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वे उर्दूका प्रचार करते हुए भी हिन्दी सम्मेलनमें अवश्य रहें और इस प्रकार कुछ मतभेद होने पर भी साथ काम करनेका आदर्श रक्खें। (टण्डनजीका ८-६-४५ का पत्र)।

(५) महात्माजीको यह समझौता या आत्म-समर्पण स्वीकार नहीं हैं क्योंकि—

(१) हिन्दीप्रेमी उनके नये दृष्टिकोणमें उन्हें मदद नहीं देते और लोगोंके मनमें दुविधा पैदा हो गई है। मराठी मुहावरेके अनुसार यह कहना ज्यादा सही है कि उनकी (दुविधा नहीं) त्रेधा उड़ गई है। क्योंकि उनकी (गुजराती, मराठी, बंगाली) मातृभाषा के अतिरिक्त गांधीजी उन्हें हिन्दी और उर्दू भी सीखने को कहते हैं। (गांधीजीका १३-६-४५ का पत्र (२) टंडनजीने हिन्दुस्तानी प्रचार सभाके सदस्य होनेसे यह कहकर इन्कार किया कि डा० अब्दुल हक जब तक नहीं बनेंगे, मैं भी अलग रहूंगा। (टंडनजीका कथन है मैंने ऐसा कभी नहीं कहा, शायद गांधीजीने सुनी हुई बातको स्मृतिभ्रमके कारण प्रत्यक्ष समझ लिया। (गांधीजीका १३-६-४५ व टंडनजीका ११-८-४५ का पत्र)

(१) उपरोक्त पत्र-व्यवहारके अतिरिक्त गांधीजीके पूर्व लेखों व भाषणोंसे भी यह स्पष्ट है कि वे हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपिको ही राष्ट्रभाषा या लिपि मानते रहे हैं। इसलिये परिवर्तन टंडनजी या सम्मेलनकी नीतिमें नहीं, अपितु गांधीजीके विचारोंमें हुआ। उन्हें अपने विचार परिवर्तन करनेका पूर्ण अधिकार है। किन्तु इस आधार पर टंडनजी या सम्मेलनको भी इस बात पर विवश करना कि वे भी

अपने विचार या नीति तदनुसार बदल लें, हमारी तत्व पूजाके स्थानमें व्यक्तिपूजा या अन्ध श्रद्धाका ही परिचायक होगा। शायद स्वयं गांधीजी भी इसे उचित नहीं समझेंगे। पाकिस्तानके समान 'राष्ट्रभाषा' के बारेमें पूर्वके वे सब कारण व तत्त्व सिर्फ इसलिये अब निराधार व अमान्य नहीं होने चाहियें कि किसी व्यक्ति-विशेषने चाहे वह कितना ही महान हो अपने विचार बदल दिये हैं।

(२) जैसा कि उसके नामसे भी स्पष्ट है हिन्दी साहित्य सम्मेलन 'हिन्दी' की संस्था है इसलिये 'हिन्दुस्तानीका राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें टंडनजी व गांधीजीके मतभेदके कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी नीति व कार्यमें परिवर्तन करना अनावश्यक ही नहीं अनुचित व हानिकर है। मेरी रायमें इस पर विचार करना ही अवैधानिक होगा।

(३) सम्मेलनके लिये उर्दूका भी प्रचार करना आवश्यक नहीं है। यह कार्य गांधीजी व अंजुमन-ए तरीक्की उर्दू आदि प्रबल संस्थायें कर रही है। गांधीजी की नई व्याख्यामें भी हिन्दी नाम की कोई स्वतन्त्र अस्तित्व वाली भाषा तो है ही नहीं, अतः उसका प्रचार व संरक्षण उसकी एक मात्र संस्था हिन्दी साहित्य-सम्मेलनका कार्य है और होना चाहिये ; विशेषकर जब उर्दूके लिये ऐसी संस्था है और गांधीजी या अन्य उसके अस्तित्व या विधानमें परिवर्तन नहीं कर रहे हैं और शायद न कर सकते हैं। × × ×

(४) टंडनजीका विश्वास है कि गांधीजीका यह नया कार्यक्रम, कि देशवासी हिन्दी और उर्दू दोनों सीखें व्यावहारिक नहीं है। हिन्दी उर्दूके समन्वयके सिद्धान्तोंको मानते हुए भी टंडनजीका विश्वास है कि उर्दू हिन्दीके लेखक व संस्थाओं के समान उर्दू लेखक व संस्थायें भी जबतक इसे स्वीकार नहीं करतीं, तबतक यह समन्वय असम्भव है। इसलिये टंडनजी गांधीजीके नये कार्यको अपना कार्य नहीं बना सकते ; हां वे उसका विरोध भी नहीं करेंगे। (टंडनजीका ११-७-४५ का पत्र)

(५) सम्मेलन गांधीजीकी राष्ट्रभाषाकी नई व्याख्याको नहीं मानता और उन्हें डर है कि सम्मेलनको उनकी यह व्याख्या चुभेगी। (गांधीजीका अन्तिम पत्र)

अब प्रश्न यह है कि हिन्दी जगत या हिन्दी साहित्य सम्मेलनको इस विषयमें क्या करना है ? × × ×

× × × मेरे विचारमें गांधीजी व सम्मेलन दोनोंका हित अब इसीमें है कि उनका त्यागपत्र सखेद या विवश होकर स्वीकृत रहे । × × ×

(वीर अर्जुन १४ अक्टूबर १९४५)

महात्मा गांधी और हिन्दुस्तानी

श्री सम्पूर्णानन्द और श्री श्रीमन्नारायण अग्रवालका पत्र-व्यवहार—

श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, मंत्री, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वर्धा, लिखते हैं :—

हिन्दुस्तानी प्रचार कानफरेन्समें दिये गये पूज्य गांधीजीके भाषणके सम्बन्धमें श्री सम्पूर्णानन्दजीने जो वक्तव्य प्रकाशित किया था, उसके बारेमें मैंने उनसे पत्र-व्यवहार किया। वह सारा पत्र-व्यवहार श्री सम्पूर्णानन्दजीकी अनुमतिसे नीचे दिया जा रहा है। आशा है उससे रही-सही गलतफहमियां दूर हो जायंगी।

श्रीमन्नारायणजीका पत्र—

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा
ता० १०-३-४५

पूज्य सम्पूर्णानन्दजी, मैंने हिन्दुस्तानी प्रचार सम्मेलनके बारेमें आपका वक्तव्य कई पत्रोंमें देखा। मुझे काफी दुःख हुआ। आप यदि हमसे पूरी जानकारी मिलने तक कुछ दिन ठहर जाते तो अच्छा होता। मुझे पता नहीं कि आपको यह खबर किसने दी कि पूज्य गांधीजीने हिन्दी साहित्य सम्मेलन छोड़ दिया है और अब वे डाक्टर अब्दुल हकके साथ मिल कर यह कहने लगे हैं कि उर्दू यानी हिन्दुस्तानी ही हम सबकी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। मैं आपको अदबसे कहना चाहता हूँ कि यह बात बिलकुल गलत है।

हिन्दुस्तानी आन्दोलनके बारेमें पूज्य गांधीजीकी सलाहसे मैंने दस बातें लिखी हैं। उन्हें पत्रोंमें भी दे दिया है। आशा है उनसे बहुत कुछ गफलतफहमी दूर हो जायगी। योग्य सेवा लिखते रहें।

विनम्र—

श्रीमन्नारायण

श्री सम्पूर्णानन्दजी का उत्तर—

जालपा देवी, काशी

१३-३-४५

प्रिय श्रीमन्नारायणजी, आप इसका विश्वास रक्खें, वर्धासे निकलने वाली किसी भी बातके विरुद्ध कहना या लिखना मेरे जैसे व्यक्तिको अच्छा नहीं लगता। यदि मैंने हिन्दुस्तानी प्रचार सभाके सम्बन्धमें कुछ लिखा है, तो हिन्दीसे मुझे जो प्रेम है वही उसका आधार है। भाषा-विषयक मेरा मत स्पष्ट है। मैं एक राष्ट्रभाषाके पक्ष में हूँ, यह भी मानता हूँ कि यह साहित्यिक हिन्दीके समानरूपा नहीं होगी। मैं विदेशी शब्दोंके बहिष्कारका पक्षपाती भी नहीं हूँ। बरसों फ़ारसी मौलवियोंसे पढ़ी, उर्दू पढ़ी, मेरे लिये इन शब्दोंका द्वेषी होना सम्भव नहीं है। बोल-चालमें इनका व्यवहार करता हूँ। हिन्दुस्तानी नामसे भी चिढ़ नहीं है। परन्तु यह नहीं मान सकता कि राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानीके नामसे उर्दू हो। यह भी नहीं मान सकता कि उसमें संस्कृतके बराबर ही अरबी-फ़ारसीका स्थान हो। भारतकी राष्ट्रभाषामें प्रचुर मात्रामें उस भाषाके ही शब्द होंगे जो हमारी बहुत-सी प्रान्तीय भाषाओंकी आकर-भाषा है।

आप पूछ सकते हैं कि मैं क्यों डरता हूं कि राष्ट्रभाषाका रूप विकृत होगा। जो तीन आदमी कमेटीमें हैं, उनमेंसे दो स्पष्ट रूपसे उर्दूको राष्ट्रभाषा कहते हैं। जैसा उनकी सम्मतियोंको, जो 'नेशनल लैंग्वेज फार इण्डिया' नामक पुस्तकमें दी हुई है, देखनेसे प्रतीत होता है। मैं जानता हूँ कि और लोग भी नियुक्त होंगे, परन्तु नियोजक यह तीन सज्जन ही हैं।

मैंने अपने बयानमें इस बातकी चर्चा की है कि 'फरहंगे आसफिया' में लगभग ५०० संस्कृत और लगभग १२,००० हजार अरबी-फ़ारसी शब्द हैं। हिन्दी शब्द-सागरमें हिन्दी-उर्दू दोनों शैलियोंके शब्द समाविष्ट हैं। इसलिये बहुतसे अन्य शब्दोंके साथ-साथ यह १२,००० और ५०० शब्द भी हैं। अभी हालमें दिल्लीमें रेडियो वाली कमेटीमें हक साहबके समर्थनसे कैफी साहबने कहा कि चूंकि यह शब्द दोनों कोषोंमें हैं, इसलिये हिन्दुस्तानीके साहित्यिक रूपका आधार बन सकते हैं। अर्थात् इनकी सम्मतिमें भारतकी राष्ट्रभाषामें संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दोंका अनुपात ५००:१२,००० होगा। मैं समझता हूं कि यह बात मेरे लिये तो असत्य है ही, आपको भी स्वीकार न होगा। परन्तु जहां हक, कैफी नदवी, सुन्दरलाल जैसे विद्वान होंगे, वहां ऐसी ही भाषा बनेगी, ऐसी आशंका होना निराधार नहीं है।

अन्तमें मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि मैंने महात्माजीके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, उसका आधार क्या है। पत्रोंमें महात्माजीके भाषणमें यह शब्द आये हैं। मैं "अमृत बाजार पत्रिका" से उद्धृत कर रहा हूं।

At one time I was opposed to using Urdu words. Also I did not listen to Dr. Huq or their friends suggesting for the acceptance of Urdu or Hindustani as a national language. But when I was convinced of Hindustani (spoken and understood by the villagers) as capable of being the national language, I left the Sahitya Sammelan.

यदि यह रिपोर्ट गलत है तो इसका प्रतिवाद निकलना चाहिए था, अन्यथा आप ही सोचें कि इन शब्दोंसे यह दो बातें निकलती हैं या नहीं कि गांधीजीने सम्मेलनको छोड़ दिया है और अब वह डा० अब्दुल हक की इस बातको मानने लगे हैं कि Urdu or Hindustani राष्ट्रभाषा है, अर्थात् हिन्दुस्तानीका पर्याय उर्दू है।

सस्नेह,

सम्पूर्णानन्द।

श्रीमन्नारायणजीका उत्तर—

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा
ता० १९-३-४५

पूज्य श्री सम्पूर्णानन्दजी, आपका ता० १३ मार्चका पत्र मिला। धन्यवाद!

आपने शायद हिन्दुस्तानीके बारेमें उन दस मुद्दों (points) को अखबारोंमें देखा होगा, जो मैंने पूज्य बापूजीकी अनुमतिसे प्रकाशित कराए हैं। मैं समझता हूँ कि उनसे कई गलतफहमियां दूर हो जायेंगी। पूज्य गांधीजीके भाषणकी जो रिपोर्ट 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हुई है और जिसका जिक्र आपने अपने पत्रमें किया है, वह ठीक नहीं है। पूज्य गांधीजीके भाषणोंकी सही रिपोर्ट मैंने हिन्दी पत्रोंमें भिजवा दी है। पूज्य बापूजी हिन्दुस्तानीको सिर्फ उर्दूका पर्यायवाची शब्द नहीं मानते, न सिर्फ हिन्दीका ही। हिन्दुस्तानी भाषासे उनका मतलब है, *आसान हिन्दी+आसान उर्दू।* इसीलिये वे हिन्दुस्तानी प्रचार सभाकी ओरसे दोनों शलियों और दोनों लिपियोंका प्रचार करना चाहते हैं। साथ-साथ वे यह भी चाहते हैं कि आसान, मिली जुली एक ऐसी शैली भी चल पड़े, जिसको हिन्दू-मुसलमान आदि सभी समझ सकें। यह सारी बातें मेरे दस मुद्दोंमें आ जाती हैं।

हिन्दुस्तानी कानफरेन्सकी ओरसे जो कमेटी बनायी जायगी, उसके कामके बारेमें आप सिर्फ तीन नामोंको देख कर अभीसे राय न बना लें, ऐसी मेरी प्रार्थना है। मुझे विश्वास है कि जब कमेटीके पूरे नाम प्रकाशित किये जायेंगे, तब आपको कोई एतराज न होगा।

आपके और मेरे बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ है, वह प्रकाशित कर दिया जाय तो अच्छा होगा। आप अपनी सम्मति कृपया तारसे भेज दें ताकि मैं यह पत्र-व्यवहार अखबारोंमें भेज दूँ।

योग्य सेवा लिखते रहें।

विनम्र,
श्रीमन्नारायण।

(भारतसे)

श्री प्रभाकर माचवे—

[श्री माचवेजीका यह लेख बड़ा मनोरंजक है। "क्यों न तीनों ही शैलियां चलें ?" बड़ा सुन्दर परामर्श है। राष्ट्रकी आधी शक्ति तीनों शैलियोंके लिए क्षय करें और आधी शक्ति 'क्रिकेट मैच' या 'कबड्डीके खेल' में।]

क्यों न तीनों ही शैलियां चलें ?

पत्र-पत्रिकाओंमें पाठकोंने हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी दोनोंके पक्षमें बहुतसे तर्क-वितर्क कई महानुभावोंके वक्तव्योंके रूपमें पढ़े होंगे। सम्मेलनने अपनी भाषा-सम्बन्धी नीति स्पष्ट शब्दोंमें हिन्दी निर्धारित कर दी है। ऐसी हालतमें गांधीजी जैसी विभूतिका सम्मेलनसे हट जाना और फलतः बहुतसे प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक मत वालोंका उसमें घुस आना स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ हैं। जवाहरलाल नेहरूने एक जगह कहा है कि 'भाषाके सम्बन्धमें हिन्दी-उर्दू पार्थक्यके समर्थकको कुछ गहराईसे देखने पर बहुधा साम्प्रदायिक वृत्ति ही अधिक मिलेगी।' यह सर्वांशतः सत्य नहीं है, क्योंकि धर्म और आस्तिकतामें अविश्वास करनेवाले साम्यवादी भाई भी आज हिन्दी-उर्दूकी पृथकता पर जोर दे रहे हैं और दोनोंका स्वतन्त्र विकास हो, ऐसा चाहते हैं, यद्यपि उनके मुखपत्र 'लोकयुद्ध' के आरम्भिक अंकोंमें श्री सुरेन्द्र बालपुरीका हिन्दुस्तानीके समर्थनमें लेख निकल चुका है। इधर उनके पाकिस्तान सम्बन्धी समर्थनके अनुसार भाषाके क्षेत्रमें भी वे स्वयंनिर्णयके पक्षपाती जान पड़ते हैं। मगर उन्हींका नया मासिक मुखपत्र 'नया साहित्य' पढ़ते समय मुझे लगा कि वे मानो तीनों शैलियोंको अपना रहे हैं। भाषा सम्बन्धी उनकी कोई निर्दिष्ट निश्चित नीति नहीं। उनकी भाषा 'निराला' की कविताकी तरह है। कहीं 'रामकी शक्ति-पूजा' की संस्कृत समासबहुल रचना, कहीं तेलकी पकौड़ीकी तरह सीधी चलतू हिन्दुस्तानी, कहीं नई गज़लोंकी तरह उर्दू छंद-विधान, मुहावरे और तखल्लुससे प्रभावित ज़बान। यशपालकी कहानियोंमें प्रेमचन्दकी ही भाँति उर्दूकी पुट है, परन्तु जब अमृतराय मार्क्सवादी आलोचना पर लिखने लग जाते हैं तब यह संस्कृत-बहुल हो जाती है।

भाषा सम्बन्धी यह अराजकता, अनियमितता हिन्दीके सभी पत्रोंमें कुछ अंशमें पाई जाती है। इसका एक कारण है साहित्य-क्षेत्र पर राजनीतिज्ञोंका आक्रमण, दूसरा कारण है हमारे साहित्यका जनतासे सम्पर्क न होना; तीसरा कारण है हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दूके साहित्य पर अंग्रेजीका बढ़ता हुआ प्रभाव।

पहिले कारणसे हम देखेंगे कि राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें प्रमुख राजनीतिक पार्टियोंको माननेवालोंका अभिमत कितना भिन्न है :—

१—गांधीवादी—हिन्दुस्तानी, दोनों लिपियाँ।

२—नेहरूवादी (अथवा कांग्रेसवादी)—हिन्दुस्तानी, दोनों लिपियाँ।

३—कांग्रेस-समाजवादी (यथा नरेन्द्रदेव) हिन्दुस्तानी, दोनों लिपियां।

४—कांग्रेस परन्तु सम्मेलनवादी (यथा सम्पूर्णानन्द) हिन्दी, नागरी लिपि।

५—टंडनवादी (हिन्दी साहित्य सम्मेलन पूना-परिभाषा)—केवल हिन्दी (उर्दू उसीका एक रूप मात्र है)।

६—राष्ट्र भाषा-प्रचार-सम्मेलन।

(१) भदन्त आनन्द कौसल्यायन
हिन्दी-उर्दू दोनोंका स्वतन्त्र विकास हो। उर्दू लिपि अनावश्यक।

(२) कालेलकर—हिन्दुस्तानी, दोनों लिपियां।

७—प्रगतिवादी साम्यवादी—दोनों हिन्दी-उर्दू स्वतन्त्र रूपसे विकसित हों, यह सिद्धान्त मानने वाले, परन्तु व्यवहारमें जनतासे सर्वाधिक सन्निकट भाषाके हिमायती। बोलिस्तानके समर्थक (राहुल सांकृत्यायन)

८—फारवर्ड ब्लाकी—स्व० सुभाष बोसने रोमन लिपिका समर्थन किया था। अब कांग्रेसके ही मतको मानने वाले।

९—हिन्दू महासभा—केवल संस्कृतनिष्ठ हिन्दीकी समर्थक (सावरकर या हिन्दीमें प्रतीक श्रीमती सावित्री दुलारेलाल—जो रेडियो-विरोधी आन्दोलनके पूर्व कई बार लखनऊ रेडियोसे बोल चुकी हैं। तब शायद रेडियोकी भाषा दूसरी थी (!)

१०—अंजुमन-ए तरक्की उर्दू—उर्दू ही आम ज़बान। हिन्दी कृत्रिम और किताबी है। अतः सम्मेलनसे डर।

११—बंगीय साहित्य-परिषद, महाराष्ट्र साहित्य-परिषद, तामिल साहित्य-परिषद। हमारी प्रान्तीय भाषा बहुत परिपुष्ट है। इमपर हिन्दीकी अनिवार्यता हिन्दीकी डिक्टेटरशिप है।

१२—सिनेमा, सरकारी-प्रचार-विभाग, रेडियो आदि—एक ऐसी हिन्दुस्तानी हिन्दीके भ्रष्ट उच्चारणके साथ ही साथ जो कि उर्दू-प्रचुर है। अब तो हिन्दी-उर्दू पार्थक्य कुछ अंशोंमें वे भी मानने लगे हैं।

१३—अन्तराष्ट्रीयतावादी, पी० ई० एन० बाबू लोग, रायवादी (जो अपनी सब कार्रवाई अंग्रेजी में ही अधिक करते हैं)

अंग्रेजी-मिश्रित हिन्दुस्तानी—

अब भाषा-सम्बन्धी नीतिके आदर्श और व्यवहारके इन तेरह 'शेडस' के बाद, मेरे जैसे एक सामान्य अन्य भाषाभाषी साहित्य-प्रेमीके लिये यह बहुत मुश्किल है कि कोई राय कायम करे। मुझे गांधीजी और टण्डनजी 'दोनोंमें कुछ सचाई दीखती है। गांधीजी राजनीतिक एकता की राह सोचते हैं। उच्च साहित्यके निर्माण और परिभाषिक शब्दोंकी कठिनाईकी दृष्टिसे टण्डनजी सोचते हैं। संप्रति हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद के अखाड़े को अगर एक क्रिकेट-मैचका रूप दिया जाय तो ग्यारह-ग्यारह खिलाड़ी दोनों ओर से यों मिल जायंगे।

हिन्दी के पक्ष में—

कैप्टन—पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, सम्पूर्णानन्द, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, लाला गुलाबराय, प्रो० ललताप्रसाद शुक्ल, चन्द्रबलि पाण्डे, हिन्दू-विश्वविद्यालयका प्रतिनिधि, सावित्री दुलारेलाल, गोस्वामी गणेशदत्त, रामचन्द्र शर्मा 'वीर' हिन्दी मासिकों का एक प्रतिनिधि, —अम्बिका दत्त व्यास, एक्सट्रा—सेठ डालमियां, एक्सट्रा—सीताराम चतुर्वेदी और 'बेढ़ब' बनारसी

हिन्दुस्तानी के पक्ष में—

कैप्टेन—बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० ताराचन्द; श्रीमन्नारायण अग्रवाल, जैनेन्द्रकुमार, पंडित सुन्दरलाल, ठाकुर श्रीनाथसिंह, भगवतीचरण वर्मा, आचार्य नरेन्द्रदेव, हरिभाऊ-उपाध्याय, काका कालेलकर, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, एक्सट्राज़—अमृतलाल नाणावटी तथा कुमार साहित्य मण्डल का प्रतिनिधि। मेरा सुझाव है कि दोनों 'टीमों' में से जो-जो उदयपुर पहुंचे उनका बैंच बनाकर, सचमुच दोनों पक्ष क्रिकेट नहीं तो कबड्डी ही खेलकर देख लें। जो जीते या हारे सो मान लिया जाय। मगर यह तो हुआ परिहास। उदयपुरके अखाड़े में आप देखेंगे कि दोनों पक्षके वृद्धातिवृद्ध और तरुणातितरुण इकट्ठे होंगे। पर हम क्षण भर इस चर्चाको स्थगित क्यों नहीं कर सकें ? 'टीम स्पिरिट' से क्यों न काम लिया जाय ? गतवर्ष बड़े दिनों की छुट्टियों में सूरत की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सभापति पद से जैसे मैंने कहा था, क्यों न हम तीनों शैलियोंको—हिन्दी (केसरिया), हिन्दुस्तानी (सफेद) उर्दू (हरा) पनपने-फलने फूलने दें ? काम यह निर्णय दे देगा कि कौनसा साहित्य जीवित है ? क्यों हम लेखकोंके मत्थे लेबल सटावें ? यदि प्रेमचन्द्र हिंदी और उर्दू के समानरूपसे अधिकारी सेवक थे, तो कई अन्य भी ऐसे निकल आवेंगे—यथा सुदर्शन, 'अश्क', कृष्णचन्द्र, अख्तरहुसैन रायपुरी आदि-आदि। आप देखेंगे कि ऊपर की तालिकाओं में भाषा विवाद में राजनीतिक नेता ही अधिक हैं, साहित्य-निर्माता बहुत कम। साहित्य अपनी राह चलेगा। भाषा बनाये नहीं बनेगी। पास करते रहो लाखों प्रस्ताव। प्रसाद (संस्कृतप्रचुर हिंदी) और प्रेमचन्द्र (हिन्दुस्तानी) दोनों ही साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगे। उनकी शैलियां भी हमारे साहित्यमें अवश्य फलती-फूलती रहेंगी। इस तरह न तो हिंदी हिन्दुस्तानी को साहित्य क्षेत्रसे बहिष्कृत कर सकती है, न हिन्दुस्तानी हिन्दीको। कल तक जो हिन्दीके समर्थक थे आज हिन्दुस्तानी के बन गये हैं और इसका उल्टा भी ठीक है।

अन्त में, भाषा के सम्बन्ध में राष्ट्र-संघने अपने विधान में जो गुंजाइश रखी है, उसे मैं 'एनसाइक्लोपीडिया' से उद्धृत करना चाहता हूं। यह अल्पसंख्यक जातियोंके सम्बन्धमें पृष्ठ ५७० पर से लिया गया।

"(अ) यह अनिवार्यता रहेगी कि किसी भी जातिको अपनी असली बातचीतमें व्यापार, धर्म, किसी भी प्रकारके मुद्रण तथा प्रकाशनमें, या सार्वजनिक सभामें प्रयुक्त किसी भी भाषा पर कोई भी निर्बन्ध न डाला जायगा।

(ब) यह अनिवार्यता रहेगी कि जो जातियां कचहरियों की यानी राष्ट्रीय भाषा से भिन्न भाषाएं बोलती हों, उन्हें न्यायालययोंमें अपनी भाषाके विपरीत लिखित तथा बोलते हुए प्रयोगोंमें संपूर्ण स्वतन्त्रता दी जायगी।

(स) यह अनिवार्यता रहेगी कि राष्ट्र की सरकारी भाषासे भिन्न यदि कोई एक भाषा एक जातिका बड़ासा हिस्सा बोलता होगा तो ग्राम, नगर तथा प्रांतोंमें यह आश्वासन दिया जाय कि प्राथमिक शाखाओंमें (चेकोस्लोवेकिया के विधानमें 'प्राथमिक के बदले सार्वजनिक शब्द है) उन-उन जातियोंको उन्हीं की भाषामें शिक्षा देने की सुविधा दी जाय।

इन अनिवार्यताओं का यह अर्थ नहीं कि यदि किसी भी राष्ट्र की सरकार अपनी राष्ट्रभाषाकी शिक्षाको अनिवार्य बनाये तो वे उसमें बाधक सिद्ध हों।"

(हिन्दुस्तान, १६ अक्टूबर १९४५)

पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति—

[हिन्दी संसारके सामने प्रस्तुत चार प्रश्नों पर श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पतिने अत्यन्त संक्षेपमें अपने विचार प्रकट किये हैं। 'हिन्दुस्तानी' से आपका भी तात्पर्य है, वर्तमान अप्राकृतिक 'हिन्दुस्तानी' न कि हिन्दीकी पर्यायवाची 'हिन्दुस्तानी'।]

हमारे सामने महत्वपूर्ण प्रश्न

(प्र०) हिन्दी-हिन्दुस्तानीके वाद पर आपकी क्या सम्मति है?

(उ०) मैं इस विवादको निर्मूल समझता हूं। हिन्दी एक जीवित भाषा है, और हिन्दुस्तानी एक काल्पनिक वस्तु है। हिन्दी विद्यमान है, हिन्दुस्तानी भाषाका जन्म देनेका यत्न किया जा रहा है। इन दोका संघर्ष कैसा? जिस भाषाको

करोड़ों भारतवासी बोलते और लिखते हैं, जिसमें सैकड़ों पत्र निकलते हैं, और कई प्रान्तों तथा रियासतोंके राजकार्य चलते हैं, उस भाषाके दावेका विरोध एक ऐसी भाषा द्वारा कैसे किया जा सकता है, जिसके निर्माणका निष्फल प्रयास गत कुछ वर्षोंसे किया जा रहा है। हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवादमें कोई वास्तविकता नहीं है। यदि महात्मा गांधीका नाम इस विवादसे सम्बद्ध न होता तो शायद कहीं इसकी चर्चा भी न होती।

(प्र०) क्या आपका यह दावा है कि हिन्दी भारतकी राष्ट्रभाषा है?

(उ०) नहीं। कोई समझदार व्यक्ति ऐसा गलत दावा नहीं कर सकता। हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं है, हाँ, भारतकी अन्य सब भाषाओंकी अपेक्षा राष्ट्रभाषा बननेकी अधिकतम योग्यता हिन्दीमें है। यदि हिन्दीका विकास ठीक ढंग पर किया जाय तो यही भाषा है जो कालान्तरमें भारतकी राष्ट्रभाषा कहला सकती है। कारण स्पष्ट है। देशके अधिक प्रान्तोंमें हिन्दी समझी और बोली जाती है। यह अन्य बड़ी-बड़ी प्रान्तिक भाषाओंसे निकट सम्बन्ध रखती है, अत्यन्त सरल है और यदि लिपिके भेदको छोड़ दें, हिन्दू और मुसलमान दोनोंमें समान रूपसे बरती जाती है।

(प्र०) हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेके लिये सम्मेलनको तथा हिन्दी-हितैषियों को क्या करना चाहिये?

(उ०) राष्ट्रभाषामें तीन गुणोंका होना आवश्यक है।

(१) सुबोध हो।

(२) राष्ट्रीय भावनाओंसे पूर्ण साहित्य रखती हो।

(३) राष्ट्रके प्रत्येक अङ्ग, व्यापार कला, विज्ञान राजनीति आदि और प्रत्येक भावनाको प्रकाशित करने योग्य शब्द कोषसे युक्त हो।

यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रकी भाषा बने तो हमें व्यर्थके शाब्दिक विवादमें न पड़कर उपर्युक्त तीनों दिशाओंमें विकास करनेमें सारी शक्ति लगा देनी चाहिये। योग्यता प्राप्त करनेसे ही अधिकार मिलता है। हिन्दीको राष्ट्रभाषाके ऊँचे आसन पर बिठानेके लिये आवश्यक है कि उसे उस आसनके योग्य बनाया जाय।

(प्र०) जो महानुभाव हिन्दीका स्थान हिन्दुस्तानीको देना चाहते हैं, उनकी मूलभूत भावना क्या है ?

(उ०) उनकी भूलभूत भावना वही है, जो धर्ममें कतरब्योंत न करके, और भारतका विभाजन करके अराष्ट्रीय मुसलमानोंको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करनेवाले महानुभावोंका है। ऐसे प्रयत्न कभी सफल नहीं होते, क्योंकि वे एक विद्यमान वस्तु को नष्ट कर देते हैं, और नई वस्तुका निर्माण नहीं कर सकते। ऐसे महानुभावोंकी मनोवृत्ति पर हमें दुःख है, परन्तु सम्मेलनको उनके कारण अपनी गतिविधिमें कोई परिवर्तन न होने देना चाहिये, अपितु प्रगतिको और अधिक तीव्र कर देना चाहिये।

(वीर अर्जुन १४ अक्टूबर १९४५)

मलीहाबादी साहब—

मलीहाबदी साहबके इस वक्तव्यके द्वारा स्वत: सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी और उर्दू के बीच अन्तर कैसे आया और वास्तविक रूप क्या था। उर्दू भाषा और उसकी लिपि का वास्तविक मूल्य उसके अधिकारी व्यक्तियों की रायको मानने के बादही आंकना उपयुक्त होगी।

'हिन्दी' *

'मलीहाबादी'

"कभी ऐसा होता है कि तुम एक चीजको अपने लिये बुरा समझते हो और वह तुम्हारे लिये भली होती है, और कभी तुम एक चीज़को अपने लिए अच्छा समझते हो और वह तुम्हारे लिये बुरी होती है।"†

'हिन्दी यू० पी० की सरकारी जुबान बन चुकी है। हिन्दी दूसरे उन सब सूबों की भी सरकारी ज़ुबान हो जायगी, जहाँ उर्दू या हिन्दी बोली जाती है।

मुसलमान इस चीज़ को अपने लिए बहुत बुरा समझ रहे हैं, हालांकि, वह उनके हक़में अच्छाई साबित होकर रहेगी।

---

* उजाला-कलकत्ता-(१७ नवम्बर १९४७)। † क़ुरान मजीद।

उर्दू और हिन्दी, असलमें एक ही जुबान के दो नाम थे, मगर फिरकापरस्त हिन्दुओं और मुसलमानोंने शरारतसे काम लिया। और, अब ये दो जुबानें समझी जाने लगी हैं। उर्दू को मुसलमानों की जुबान कहा जाता है। हिन्दी को हिन्दुओं की जुबान।

हलांकि अगर लिखाई को और भारी भारी, अरबी फ़ारसी, संस्कृतके लफ्जोंको अलग कर दिया जाय, तो उर्दू और हिन्दी अब भी एक ही जुबान हैं। हमारी जुबानकी यह बदकिस्मती थी कि फिरकापरस्तीके जहरसे यह भी बच न सकी। हिन्दुओंने अनगढ़ भारी भारी संस्कृत लफ्ज ठूंसना शुरू कर दिए और मुसलमानोंने अरबी फारसीके अपरचित लफ्जों की भरमार कर दी। नतीजा यह निकला कि जुबान खराब हो गई और धीरे-धीरे एक बोलीकी जगह दो बोलियां बनती चली गईं। अब हालत यह है कि हिन्दू अदीबों और शायरों की जुबान न मुसलमान समझते हैं न मुसलमान अदीबों और शायरोंकी जुबान हिन्दुओंकी समझमें आती है।

इस गैरतकी एक वजह भी हुई कि अवधके दरबारके असरसे ठेठ उर्दू जो लखनऊके घरों और बाजारोंमें बोली जाती थी, शेरो अदबकी दुनियासे निकाल दी गई और अरबी फ़ारसी लफ्ज बढ़ाए जाने लगे। अंग्रेजी जमानेमें यह हुआ कि ठेठ उर्दूसे ऊँचे घरानोंके लोग बहुत कुछ अजनबी हो गए। इस बीचमें हिन्दू मुसलमानोंमें फूटके बीच उठ आए थे। हिन्दुओंने संस्कृत की तरफ़ मुंह कर लिया और मुसलमानोंने अरबी फ़ारसी की तरफ़। इस तरह ठेठ उर्दू न जानने की वजह से भी हिन्दू मुसलमान पढ़े लिखे मजबूर हुए कि वे अरबी फ़ारसीसे लफ्जोंकी भीख माँगें।

ठेठ उर्दू या हिन्दी या हिन्दुस्तानी बड़ी प्यारी जुबान है और बहुत मालामाल भी। इल्मी और मजहबी ईस्तलाहोंके अलावा यह जुबान खुद अपने लफ्जोंसे अपना काम चला सकती है। फिर इसमें एक बड़ी खूबी यह भी है कि बहुत ही आसान होनेके साथ हर जुबानके लफ्जोंको अपने अन्दर इस तरह खपा लेती है कि परदेसी मालूम नहीं होती।

हिन्दी अगर हिन्दकी सरकारी ज़ुबान हो रही है, तो मुसलमानों को शिकायत करना नहीं चाहिए। हिन्दुस्तान की तक़सीम का लाज़िमी नतीजा यही होना था कि हिन्द हिन्दुओं का हो जाय। इसमें अगर किसी का कसूर है तो मुस्लिम लीग का है, जिसने हिन्दुस्तानका बटवारा करवाया है।

हिन्दी का सरकारी ज़ुबान हो जाना मुसलमानोंके लिये आगे चलकर बड़ी न्यामत साबित होगा। हिन्दी अदीब और शायर बननेके लिए मुसलमानोंको ज्यादाह से ज्यादाह हजार बारह सौ लफ्ज़ संस्कृतसे सीखने पड़ेंगे। यह कोई मुश्किल काम नहीं है। इसके अलावा हिन्दी और उर्दूमें कोई फर्क नहीं। हिन्दी के सरकारी ज़ुबान बन जाने को हम मुसलमानोंके लिए क्यों न्यामत समझ रहे हैं? इसलिए समझ रहे हैं कि देवनागरी लिखाई मुल्क भरमें आम हो जायगी। हमने जबसे होश संभाला है उर्दू लिखाईके खिलाफमें और पिछले पचीस वर्षमें बराबर मुसलमानोंसे कहते रहे हैं कि अगर तरक्की करना है तो उर्दू लिखाई छोड़के रोमन या नागरी खत को अपना लें और लिखाई बहुत मुश्किल होनेके साथ निहायत नाकिस है और इस लिखाईकी मौजूदगीमें हम इल्मी सियासी तरक्की कर नहीं सकते।

आज नहीं तो कल मुसलमानोंको भी देवनागरी लिखाई इख्तियार करनी पड़ेगी। इस लिखाईसे उर्दूको नुकसान नहीं पहुँचेगा बल्कि उर्दू हिन्दुस्तानकी कौमी-ज़ुबान बन जायगी। उर्दू ऐसी मीठी, रसीली, सजीली, बाँकी ज़ुबान है कि हिन्दी अपनी मौजूदा सूरतमें इसके सामने ठहर न सकेगी, बशर्ते कि हम ठेठ उर्दूको देवनागरी खतमें लिखें।

देवनागरी खतमें भी कुछ खराबियाँ हैं। उम्मीद है अब हुकूमत इन खराबियों को दूर कर देगी और यह खत और ज्यादाह मुकम्मिल हो जायगा। देवनागरी लिखाईको अपनालेनेसे मुसलमान बड़े नफामें रहेंगे। उन्हें टाइपराइटर और न जाने कितनी ऐसी चीजें मिल जायंगी जिनसे वह महरूम हैं। सबसे बड़ा फायदा यह होगा कि उनमें देखते-देखते तालीम आम हो जायगी। देवनागरी इस कदर आसान है कि एक घंटेमें सीखी जा सकती है, इस बारेमें हमें अभी बहुत कुछ कहना है।

विविध समाचार पत्रोंमें—

[नीचे विभिन्न पत्रोंसे उद्‌धृत अंश दिए जा रहे हैं। इनके द्वारा 'सम्मेलन' तथा पत्रकारोंकी विचारधारा पर प्रकाश पड़ता है। अभी हालमें संयुक्त प्रान्तका स्वीकृत प्रस्ताव संयुक्त प्रान्तकी राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' का उद्धरण विशेषतः इसलिये दिया गया है कि समस्त भारतवर्षमें संयुक्त-प्रान्त ही एक प्रान्त है, जहां उर्दू का मिश्रित व्यवहार किसी-किसी अंचलमें होता है। बंगालमें बंगला, बिहारमें हिन्दी, उड़ीसामें उड़िया, दक्षिण-भारतमें दक्षिणी बोलियां, मध्यप्रदेशमें हिन्दी, बरारमें मराठी, गुजरातमें गुजराती, महाराष्ट्रमें मराठी, राजस्थानमें राजस्थानी (हिन्दीका ही एक रूप), पंजाबमें पंजाबी बोलियोंका व्यवहार होता है। अब देखना है, संयुक्त प्रान्तमें उर्दू का कितना 'महत्त्वपूर्ण' स्थान है। दिए गए उद्धरणमें अधिकृत आंकड़ोंके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि तथाकथित उर्दू की स्थिति क्या है। अब इन मुट्ठी भर लोगोंके लिये सारे भारतवर्षकी जनता पर एक अस्वाभाविक भाषा लादना कितना न्यायपूर्ण है, यह स्वयं ही विचार किया जा सकता है। हिन्दीका प्रचलित रूप सारे भारतवासी समझ लेते हैं और बोल लेते हैं। वे इस भाषाका अपने प्रान्तोंमें स्वागत भी करते हैं। वे जानते हैं कि इसी हिन्दीके द्वारा ही वे एक सूत्रमें बंधे रह सकते हैं।]

जयपुर, २० अक्टूबर। परसों अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दूके सम्बन्धमें प्रधान प्रस्ताव पर पांच घन्टों तक बहस हुई और इस सम्बन्धमें सम्मेलनकी मौजूदा नीतिका समर्थन किया गया। प्रस्ताव सरदार माधव विनायक किबे ने उपस्थित किया।

प्रस्तावमें महात्मा गांधी तथा श्री पुरुषोत्तमदास टंडनके बीच हुए पत्र-व्यवहारका उल्लेख करते हुए यह घोषित किया गया है :—

"सम्मेलन हिन्दीको राष्ट्रभाषा मानता है और उर्दूको हिन्दीकी एक शैली। सम्मेलन गांधीजीके इस दृष्टिकोणका समर्थन नहीं कर सकता कि प्रत्येक भारतीयको

देवनागरी तथा फ़ारसी लिपियां सीखनी चाहिएं। राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे सम्मेलन गांधीजीके विचारको अव्यावहारिक तथा अस्वीकार्य समझता है। देवनागरी ही राष्ट्रीय लिपि होने योग्य है, क्योंकि यह वैज्ञानिक रूपमें पूर्ण है। जनता बड़ी संख्यामें देवनागरी लिपि या देवनागरीके तुल्य लिपिको काममें लाती है। यह आसानीसे सीखी जाती है। यह आम तौर पर सब स्वीकार करते हैं कि फ़ारसी लिपि वैज्ञानिक नहीं है और उसको सीखना भी कठिन है। इस स्थितिमें साधारण व्यक्ति सम्भवतः अपनी प्रान्तीय लिपिके अतिरिक्त दो और लिपियोंको नहीं सीख सकता। सम्मेलनका दृष्टिकोण पूर्ण रूपमें राष्ट्रीय है। जब कि वह राष्ट्रीय आवश्यकताओंके साथ सदा बढ़ा और सदा ऐसा करता रहेगा, सम्मेलनको इस बात पर खेद है कि भाषा तथा लिपिके प्रश्नको साम्प्रदायिक दृष्टिसे देखा जा रहा है। मौजूदा वास्तविकताओंके साथ संगति रखते हुए, सम्मेलन राष्ट्र्य भाषा तथा लिपिकी उन्नतिके लिये सब प्रगतिशील तथा युक्ति-युक्त विचारोंका समर्थन करेगा।"

(हिन्दुस्तान, २२ अक्तूबर १९४५)

राष्ट्रभाषा और गांधीजी

(सहयोगी 'आज' के विद्वान् सम्पादकने एक लेखमें सम्मेलनके सामने उपस्थित अत्यन्त आवश्यक विषय पर सुन्दर भाषामें जो विचार प्रकट किये हैं, उसके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं।)

यदि महात्माजीकी सन्तुष्टिके लिये सम्मेलन अपना उद्देश्य बदलकर दोनोंका (हिन्दी-उर्दू) समर्थक हो जाय, तो परिणाम क्या होगा ? महात्माजीसे विनयपूर्वक हम निवेदन करना चाहते हैं कि राजनीतिक क्षेत्रमें अल्पमत समुदायको सन्तुष्ट करने की दुर्बल नीतिसे प्रेरित कामना जिस प्रकार हमारे लिये मरीचिका बनी हुई है, उसी प्रकार भाषाके क्षेत्रमें हम राष्ट्रभाषाका अन्तिम रूप ढूंढ़ते-ढूंढ़ते थक जायंगे और वह दूर ही दिखाई पड़ेगा। इस बातका क्या प्रमाण कि आज यदि हम महात्माजीके सम्मेलनसे पृथक होनेका क्लेश सहन न कर सकनेके कारण सम्मेलनके उद्देश्यमें आमूल परिवर्तनकर दें और उर्दू प्रचारको भी (हिन्दी प्रचारके साथ) अपना उद्देश्य

बना लें, तो कल हमारे सामने हिन्दीके प्रचारको सर्वथा त्यागकर उर्दूके प्रचार मात्रको अपना उद्देश्य मान लेनेकी समस्या नहीं उपस्थित होगी ? हमारा यह प्रश्न महात्माजी की उदार दृष्टिमें वितण्डा प्रतीत होगा, पर जैसा हम कह चुके हैं इस देशके बहुसंख्यकों के प्रति अल्पसंख्यकोंका ऐसा अन्याय नयी बात कदापि नहीं होगा।

सम्भवतः महात्मा गांधीका कथन है कि बोधगम्य भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है और इसके लिये आवश्यक है कि वह अन्य भाषाओंके समन्वयसे बने। समन्वयसे ही राष्ट्रभाषा हिन्दीका वर्तमान रूप स्थिर हुआ है। हिन्दी विशुद्ध संस्कृत नहीं है। कुछ विशिष्ट प्रकारके लोगोंमें प्रचलित हिन्दीकी एक शैली उर्दू तथा अन्य भाषाओंका प्रभाव उस पर पड़ा है। और तो और, अंग्रेजी शब्दोंका प्रवेश हिन्दीमें पुराने समयसे हो रहा है और अब अधिक होने लगा है। यह नहीं, अंग्रेजी लेखन शैलीका हिन्दी लेखनमें अनुकरण करनेवाले हिन्दीके अच्छे लेखक माने जाते हैं। हिन्दी व्याकरण पर भी अंग्रेजीका प्रभाव पड़ा है। अतः समन्वयसे हिन्दीको भय नहीं है। हिन्दीकी प्रकृति जिन शब्दों, शैलियों या मुहावरोंको पचा सकेगी, सब हिन्दीमें सम्मिलित मान लिये जायेंगे। भविष्यकी बात हम इसलिये कहते हैं कि भूतमें ऐसा ही होता आया है और भाषाका विकाश और सौष्ठव प्राकृतिक रूपसे होता है।

कृत्रिम रूपसे बलात् बनायी गई भाषा निर्जीव और निष्प्राण होगी और स्वतः नष्ट हो जायगी। इसलिये महात्माजीसे हमारी प्रार्थना है कि समन्वय बलपूर्वक न करावें। साथ ही दूसरी बात यह है कि केवल हिन्दीवालोंके चाहनेसे समन्वय नहीं हो सकता। जब तक उर्दूके सिद्धहस्त लेखक हिन्दीकी ओर आकृष्ट न होंगे और अपनी कलासे हिन्दीको न सजावेंगे, तबतक केवल हिन्दीवालोंके प्रयत्न करनेसे कुछ फल न निकलेगा। मान लिया जाय कि हिन्दीको उर्दूमयी बनाना ही देशके लिये कल्याणकर है ; तो क्यों न उर्दूके विद्वान् सुलेखक और कवि हिन्दीमें अपनी विशेषताएं समन्वित करें ? यह क्यों जरूरी हो कि हिन्दी पढ़नेवाले पहले उर्दू पढ़कर उसकी विद्वत्ता प्राप्त करें और बादमें उर्दूकी विशेषताएँ हिन्दीमें समन्वित करें ?

महात्मा गांधीसे हमारा अति नम्र निवेदन है कि आप भूल कर रहे हैं। केवल एक उर्दूवालोंको सन्तुष्ट करनेके लिये हिन्दी और संस्कृतसे उत्पन्न बंगला, उड़िया,

कन्नड़, तेलगु, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंके प्रति अन्याय करना उचित नहीं। महात्माजीके उपकारसे देश आद्योपान्त कृतज्ञ है—हजारों वर्ष कृतज्ञ रहेगा। पर वह महात्माजी पर सम्पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ भी इस विषयमें उनका अनुकरण न कर सकेगा।

(वीर अर्जुन १४ अक्टूबर १९४५)

सरकारी काम अब हिन्दीमें ही होगा

प्रान्तीय धारासभामें प्रस्ताव पास

हिन्दी और नागरी लिपिका लीगियों द्वारा विरोध

लीगके सभी सदस्यों द्वारा सभा त्याग—

—प्रश्न संयुक्तराष्ट्रसंघमें रखनेकी धमकी

लखनऊ, ४ नवम्बर। आज युक्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभामें हिन्दी और देवनागरी लिपिको सरकारी कार्रवाईका माध्यम बनानेके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव सरकार की ओरसे रखा गया। प्रान्तके प्रधान मन्त्री पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्तने तथा असेम्बलीमें कांग्रेसके सदस्य श्री कमलापति त्रिपाठीने इस प्रस्तावका जोरदार समर्थन किया। असेम्बलीके मुस्लिम लीगके सदस्योंने इसका घोर विरोध किया और एक संशोधन प्रस्तुत किया जिसपर सभामें मतगणना हुई। यह संशोधन स्वीकृत नहीं हुआ, इसके पक्षमें २३ और विपक्षमें १०५ मत थे। संशोधन अस्वीकृत हो जानेपर मुस्लिम लीगके सभी सदस्य सभासे उठकर चले गये।

सरकारी प्रस्ताव बहुमतसे स्वीकृत हो जाने पर सभाके अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनने हर्षध्वनिके बीच घोषणा की कि भविष्यमें सभाका सारा पत्र-व्यवहार और कार्रवाई हिन्दी तथा देवनागरी लिपिमें ही हुआ करेगी। अब अङ्ग्रेजीका व्यवहार नहीं किया जायगा।

पन्तजीका भाषण—

सरकारी प्रस्तावका समर्थन करते हुए प्रान्तके प्रधान मन्त्रीने लीगी विरोधियोंके प्रस्ताव पर निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करनेके लिये अनुरोध किया। आपने कहा कि

सरकारका उद्देश्य प्रान्तीय भाषा द्वारा सारा शासन कारबार चलानेका है। प्रान्तकी भाषा हिन्दी है, हिन्दुस्तानी नहीं। हिन्दी ही प्रान्तमें अधिक आदमियों द्वारा बोली जाती है और समझी जाती है। हम विरोधी दलकी भावनाओंका आदर करते हैं, पर सरकार अपना सारा कामकाज उसी भाषामें करनेके लिये बाध्य है, जो प्रान्तके अधिकतर निवासियों द्वारा बोली जाती है

हिन्दी प्रान्तकी भाषा—

प्रधान मन्त्रीने आगे बताया कि युक्त प्रान्तीय सरकारने भारत सरकारको एक पत्र भेजा था, जिसमें कहा गया है कि 'हिन्दी ही इस प्रान्तकी भाषा है।" सारे अवधमें तथा गोरखपुर, बनारस, प्रयाग, आगरा तथा कुमाऊँ क्षेत्रोंमें उर्दूकी अपेक्षा हिन्दी ही अधिक लोगों द्वारा बोली और लिखी जाती है। मेरठ और रुहेलखण्डमें भी यह बात है। इस सम्बन्धमें डाक्टर ग्रियर्सनने लिखा है कि इस प्रान्तके ४ करोड़ ६० लाख निवासियोंके करीब ४ करोड़ ४० लाख निवासी किसी न किसी रूपमें हिन्दी ही बोलते हैं। इस सम्बन्धमें डाक्टर ग्रियर्सनके विचार तथा लेफ्टिनेण्ट गवर्नरका दृष्टिकोण बिलकुल मिलता जुलता है। गवर्नरने सूचित किया था कि प्रान्तके शिक्षित आदमियोंमें फ़ारसी लिपिका उपयोग करनेवालोंकी तुलनामें हिन्दीका उपयोग करनेवाले बहुत अधिक संख्यामें हैं।

पन्तजीने आगे कहा कि १९११ की जनसंख्याके अनुसार भी युक्तप्रान्तमें प्रत्येक १० हजार आदमियोंमें ९११६ हिन्दी बोलते हैं और ८५ उर्दूका उपयोग करते हैं। प्रान्तमें हिन्दी प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओंकी संख्या १,३३,६८५ है जब कि उर्दूमें प्रकाशित पत्रोंकी संख्या केवल १७,१२० ही है।

देवनागरी ही वैज्ञानिक लिपि—

आगे प्रधान मंत्रीने बताया कि सरकार द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिये जानेके बाद भी सरकारको कोई आपत्ति न होगी यदि सभाके अध्यक्ष सदस्योंको उसी सभामें अपने भाव व्यक्त करनेकी अनुमति दें, जिसमें वह अभीतक करते आये हैं। देवनागरी लिपिके सम्बन्धमें आपने कहा कि यह लिपि इतनी सरल है कि साधारण बुद्धिका

आदमी केवल १५-२० दिनोंमें ही इसे सीख सकता है. पर उर्दूके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। कोई भी निष्पक्ष आदमी इस बातको स्वीकार करेगा कि निरक्षरता दूर करनेमें देवनागरी लिपिने ही अधिक कार्य किया है।

लीगियोंकी अडंगा नीति—

प्रस्तावके समर्थनमें कांग्रेसके सदस्य पण्डित कमलापति त्रिपाठीने इस बातकी निन्दा की कि मुसलिम लीग लोगोंमें साम्प्रदायिक भावनाएँ फैलानेकी पुरानी नीति अब भी बरत रही है। दोनों सम्प्रदायोंमें द्वेष फैलानेके लिए वही उत्तरदायी है और इसे दूर करनेके लिए कांग्रेस पिछले ९० वर्षोंसे अथक प्रयत्न कर रही है।

देवनागरी लिपिकी व्यापकता—

आगे आपने कहा कि यदि चीन, फ्रांस तथा अन्य देशोंके मुसलमान उन देशोंकी भाषा और लिपि सीख सकते हैं तो मेरी समझमें नहीं आता कि युक्तप्रान्तके मुसलमान इस प्रान्तकी भाषा क्यों नहीं सीख सकते ? देवनागरी भारतीय लिपि है और युक्तप्रान्तके मुसलमानोंको उर्दू जो विदेशी लिपि है, के लिये विशेष व्यग्र न होकर हिन्दी ही सीखनी चाहिये। हिन्दी केवल हिन्दुओंकी ही भाषा नहीं रही, वरन भूतकालके मुसलमानोंने भी हिन्दी साहित्यको समृद्ध करनेमें बहुत अधिक भाग लिया है। गुजरात, बम्बई, बंगाल तथा अन्य प्रान्तोंके मुसलमान उर्दूकी अपेक्षा हिन्दी अधिक सरलतासे समझ सकते हैं। देवनागरी लिपि वैज्ञानिक लिपि है और बर्मा, लङ्का तथा अन्य पड़ोसके देशोंकी लिपियां उसी आधारपर बनी हुई हैं।

आपने मुसलमानोंसे भारतीय संस्कृति अपनानेके लिये अनुरोध करते हुए कहा कि वर्तमान संस्कृतिको हिन्दू संस्कृति कहना एक बड़ी भूल है। उसके इस विचारके कारण ही लीगी सदासे भारतीय राष्ट्रीयताके विरुद्ध रहे हैं। अतः उन्हें दूसरे देशोंकी संस्कृति नहीं अपनानी चाहिये।

कांग्रेसके सदस्य श्री महावीर त्यागीने प्रस्तावका समर्थन करते हुए लीगी संशोधन के सम्बन्धमें कहा, कि ब्रिटिश शासनके समाप्त हो जानेके बाद अंग्रेजीका स्थान किसी भारतीय भाषाको प्राप्त होना चाहिये और हिन्दी ही इस प्रान्तकी सर्वसाधारणमें

प्रचलित भाषा है अतः वह स्थान उसे ही मिलना चाहिये। इस सभाके लीगी सदस्य सदासे बड़े-बड़े कार्योंमें कांग्रेसका साथ देते आये हैं और हम चाहते हैं कि मुसलमान इस प्रान्तमें स्वतन्त्र होकर रहें और हम लोगोंका साथ दें।

अन्तमें मालमन्त्री श्री हुकुम सिंहने इस सम्बन्धमें कहा कि बिना किसी प्रकार की कठिनाइयोंके सरकारी बिल आदि हिन्दीमें प्रकाशित हो रहा है। यह प्रस्ताव किसी साम्प्रदायिक भावनासे प्रेरित होकर नहीं रखा जा रहा है। हिन्दी प्रान्तके सर्वसाधारणकी भाषा है और कचहरियों तथा अन्य सरकारी कामकाजमें उसका व्यवहार करना ही सबसे अधिक उपयुक्त है। आपने आगे कहा कि मुसलिम लीगीयोंने हाल ही में भारतके प्रति राजभक्त रहनेका तथा देशके विकासमें सहयोग देनेकी शपथ ली थी, अतः उन्हें अपने कार्यों द्वारा कांग्रेसको देशके पुनरुत्थानमें मदद देकर इसकी सत्यता सिद्ध करनी चाहिये।

लीगियों द्वारा जोरदार विरोध—

प्रस्तावके विरोधमें मुसलिम लीगके सदस्य मुहम्मद ईशाकखांने पण्डित जवाहर-लाल नेहरूके १९३८ में अखिल भारतीय मुसलिम लीगके अध्यक्षके पत्रको उद्धृत किया जिसमें कहा गया था कि कांग्रेस उर्दू और देवनागरी लिपिमें लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानीका समर्थन करती है। आपने कहा कि महात्मा गांधीने हालके भाषणोंमें हिन्दुस्तानीका समर्थन किया है।

आपने कहा कि हिन्दू महासभाके नेताओंके प्रयत्नोंके कारण ही युक्तप्रान्तका मन्त्रिमंडल मुसलिम अल्पसंख्यकों पर हिन्दी लादना चाहता है। आपने कहा कि पार्लमेंटरी सचिव बहुत अधिक उपद्रव कर रहे हैं और बहुत अच्छा होता यदि उनके पदको मिटा दिया जाता। आपने प्रांतीय सरकारको अन्तमें धार्मिक राज्य स्थापित न करनेके लिये चेतावनी दी और कहा कि यदि यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया तो हमलोग सभासे उठ जायेंगे।

दूसरे लीगी सदस्य मौलाना हसरत मोहानीने कहा कि इस प्रान्तकी भाषा उर्दू है और हिन्दू और मुसलमान दोनोंने समान रूपसे इसकी उन्नति की है। आगे लीगी

सदस्यने चेतावनी देते हुए कहा कि यदि उर्दूको वर्तमान स्थितिसे गिरानेका प्रयत्न किया गया तो युक्तप्रान्तमें अल्पसंख्यकोंकी 'भ्रातृहत्या' के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघसे युक्तप्रान्तीय सरकारके विरुद्ध शिकायत की जायगी।

लीगी सदस्य फकरुल इस्लामने हिन्दीका विरोध किया और उर्दू केवल मुसलमानों की ही भाषा नहीं है। कचहरियोंमें तथा अन्य कारबारमें पुराने जमानेसे उर्दूका उपयोग किया जाता है और साधारण आदमियोंके लिए यह बहुत सरल है।

लीगियों द्वारा सभात्याग—

अन्तमें मुसलिम लीगके उपनेता श्री जेड० एच० लारीने लीगका संशोधन अस्वीकृत हो जानेपर कहा कि इस सम्बन्धमें सरकारी नीतिके विरोधमें हम आज सभासे असहयोग करते हैं। इसके बाद मुसलिम लीग दलके करीब २४ सदस्य कांग्रेस सदस्योंके 'पाकिस्तान चले जाओ' के नारोंके बीच उठकर चले गये। जाते हुए लीगी सदस्योंमेंसे एकने जोरसे घोषणा की कि 'हम यहां ही पाकिस्तान बनायंगे।'

अन्तमें प्रस्ताव मतगणनाके लिए पेश किया गया और सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुआ। भारतीय ईसाई श्री ई० राय० फिलिप्स तथा कांग्रेसी सदस्य पूर्णिमा बनर्जी ने अपना मत किसी पक्षमें नहीं दिया। (आज ६ नवम्बर १९४७)

हिन्दी राष्ट्र भाषा स्वीकार की जाय—

बम्बई, ४ नवम्बर। बम्बई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभाने एक प्रस्ताव पास किया है जिसमें विधानपरिषद्के सदस्योंसे अनुरोध किया गया है कि भारतमें हिन्दी भाषाको राष्ट्रभाषा मानकर वे 'एक राष्ट्र, एक भाषा, एक लिपि' की मांगको स्वीकार करें। आगे प्रस्तावमें कहा गया है कि वैज्ञानिक दृष्टिसे परिपूर्ण, सरल और सबसे अधिक प्रचलित होनेके कारण देवनागरी लिपिको ही राष्ट्र लिपि स्वीकार किया जाय।

(आज ६ नवम्बर १९४७)

भारतीय भाषाओंका मानचित्र—

[भारतीय भाषाओंके इस मानचित्रके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि चालीस करोड़की जनसंख्यामें कितनी बड़ी जनसंख्या हिन्दी (हिन्दुस्तानी) भाषा व्यवहार करती है। पहाड़ी तथा गढ़वाली प्रदेशोंमें भी हिन्दी समझी और बोली जाती है। हिन्दीके ही ये विभिन्न रूप हैं। भारतीय भाषाओंमें सारे भारतमें इसी भाषाके माध्यमसे लोग अपना अन्तर्प्रान्तीय काम करते हैं। मद्रास प्रान्तमे मन्दिरोंमें कोई चला जाय तो अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, उड़िया, मराठी आदि अन्य कोई भाषा उसके भाव-विनिमयमें सहायक नहीं होती हैं, केवल हिन्दी ही (या संस्कृत) उसका काम चलाती है।]

The 400,000,000 people of India, with its varied topography, climate, natural cover, soils and productivity, speak no less than 225 languages. And it is no easy task to draw a linguistic map of India in a simple form. The map given here deals with only 33 of these languages, which have further been divided into two groups, 14 major languages and 17 minor ones. Most of the former have scripts, while none of the latter except Portuguese have.

Linguistic boundaries have been drawn mainly to indicate the extent of the 14 major language. The district has been chosen as the smallest unit to delimit the boundaries, and it has been classified according to the language spoken by the majority of its population. Naturally there is an overlap in the boundary district on one side or the other.

Hindustani covers a very large area in the Central part of India. Here two scripts, Urdu and Hindi, are used,

Urdu more towards the west and Hindi more towards the east. The Urdu script extends further towards the north-west.

Sindhi, Gujarati and Marathi are the most important languages of the western coast, but the latter extends eastwards into Central India.

Oriya, Bengali and Assamese are the languages of the north-east, and of these Bengali is the most important. × ×

× × Hindustani is the most important language of the northern part of Central Provinces, Marathi is spoken in the south.

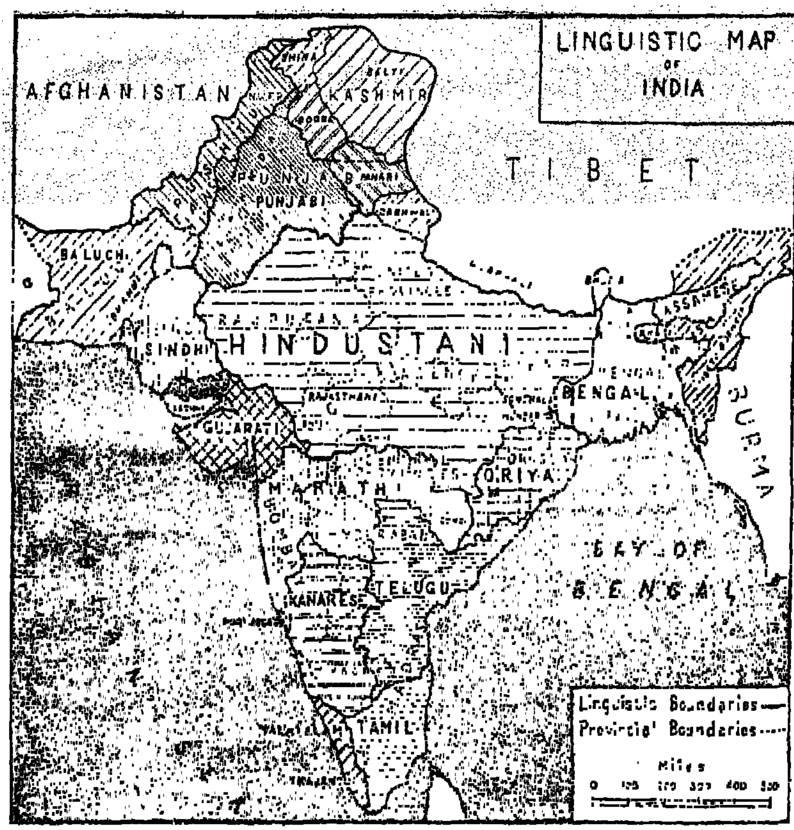
Kanarese is spoken in the southern part of Bombay Province, and extends over nearly the whole of Mysore and south-west Hyderabad. In the latter State Marathi is spoken in the north-west and Telugu in the east.

Southern India as a whole may be divided into four parts linguistically as shown in the map.

Punjabi and Lahnda are the spoken languages of the Punjab while the script used is called Gurmukhi. Pushtu is spoken in the extreme north-west. Baluchi is however the language of Baluchistan except for an area where Brahui is spoken, which paradoxically is similar to the Dravidian languages spoken in Central India, and thus lends colour to theories of tribal migration in the past.

(Statesman, 18th June, 1947)

समाप्त


LINGUISTIC MAP
OF
INDIA
AFGHANISTAN
KASHMIR
TIBET
PUNJABI
BALUCH
SINDHI
HINDUSTANI
GUJARATI
BENGAL
MARATHI
ORIYA
TELUGU
KANARES
TAMIL
BURMA
BAY OF
BENGAL
Linguistic Boundaries
Provincial Boundaries
Miles
0 100 200 300 400 500